# "प्रमुख स्मृति ग्रन्थों में धर्म का स्वरूप"

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद के सस्कृत विषय मे डी0फिल्0 उपाधि हेतु

## प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध
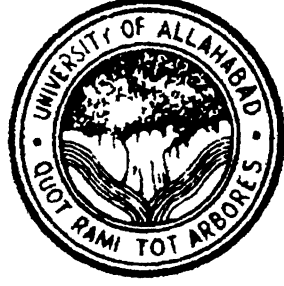
अनुसन्धाता

अरविन्द कुमार शुक्ल

एम0ए0

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

निर्देशक

डॉ0 राम किशोर शास्त्री

उपाचार्य

सस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

संस्कृत-विभाग

इलाहावाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2002

# प्राक्कथन

भारतीय धर्म शास्त्र मे वैदिक धर्म सूत्रो के पश्चात् स्मृतिया आती है। स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति से विपर्यास प्रदर्शित करने के लिए किया गया है। श्रुति तथा स्मृति द्वारा विहित आचार को धर्म बताया गया है (*श्रुतिस्मृति विहितो धर्म*, वशिष्ठ धर्मसूत्र, 146) श्रुति से वेद का अर्थ लिया जाता है और स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति अर्थात् ईश्वर प्रकाशित एव ऋषिदृष्ट वाड्मय से भिन्न साहित्य के लिए हुआ है। उपर्युक्त अर्थ मे धर्मसूत्र भी स्मृति ग्रथ है। (*श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म शास्त्र तु वै स्मृति*, मनु0 210) स्मृति का अर्थ है कि जो याद किया जाने योग्य हो। इस प्रकार स्मृति का श्रुति अर्थात् श्रवण के विषय से स्पष्ट रूप से भेद कर सकते है, कारण, स्मृति सीधे स्मरण शक्ति पर छाप डालती है और इसके लिए किसी विशेष शिक्षा या साधन की आवश्यकता नही पडती।

सकुचित अर्थ मे स्मृति से धर्मशास्त्र की उन रचनाओ का तात्पर्य है जो प्राय श्लोको मे है और उन्ही विषयो का विवेचन करती है। जिनका प्रतिपादन धर्मसूत्रो मे किया गया है। स्मृतिया प्राय पद्य मे हैं और भाषा की दृष्टि से स्मृतिया धर्मसूत्रो के बाद की रचनाये है। स्मृतियो की भाषा लौकिक है मनु, याज्ञवल्क्य, वृहस्पति, दक्ष, गौतम, यम, अगिरा, योगीश्वर, प्रचेता, पराशर, शातातप, सवर्त, उशनस्, शख, अत्रि, विष्णु आदि मुख्य स्मृतिकार है।

उपर्युक्त स्मृतिकारो मे मनु व याज्ञवल्क्य की स्मृतिया अग्रणी है। इन दोनो मे मनु स्मृति अधिक प्राचीन हे और ईसा से कई सौ वर्ष पहले रची गयी थी। याज्ञवल्क्य स्मृति मनुस्मृति के बाद की रचना है यह बात विषयवस्तु के कारण तो स्पष्ट है ही ओर भी अनेक विशिष्ट तथ्यो के कारण स्पष्ट है। याज्ञवल्क्य स्मृति मनुस्मृति की अपेक्षा छोटी है। मनु स्मृति मे 2700 श्लोक है, जबकि याज्ञवल्क्य स्मृति मे लगभग एक हजार श्लोक हैं। प्रो0 काणे ने यह सभावना व्यक्त की है कि याज्ञवल्क्य स्मृति के रचयिता के सामने रचना करते समय मनुस्मृति रही होगी, कारण अनेक स्थलो पर दोनो स्मृतियो मे समान शब्द पाये जाते हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबध का प्रतिपाद्य विषय है– "प्रमुख स्मृतिग्रन्थो मे धर्म का स्वरूप"। एतदर्थ मनुस्मृति एव याज्ञवल्क्य स्मृति को मुख्य आधार ग्रन्थ के रूप मे तो लिया ही गया है, साथ ही साथ तथ्यो की पुष्टि व प्रमाण हेतु विभिन्न सूत्र साहित्यो, वैदिक साहित्य, पुराणो एव अन्यान्य ग्रन्थो का भी अवलोकन करने का प्रयास किया गया है।

भारत वर्ष धर्म प्राण देश है। अत यहॉ धर्म पर विशेष ध्यान दिया गया है, *"धर्मो रक्षति रक्षित"*। धर्म ही एक ऐसा जीवन्त तत्त्व है जिसके आधार पर मनुष्य एव पशु की परख होती है, *'धर्मेणहीना पशुभि समाना'*। यह धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है– धारण करना, पालन करना, आलम्बन देना। इसके अतिरिक्त यह धर्म शब्द अनेक अर्थों मे अनेक परिस्थितियो के परिवर्तन चक्र मे घूम चुका है, जैसे महात्मा बुद्ध का धर्म के साथ चक्र

परिवर्तन एक क्रान्ति पैदा करता है, समाज मे अपनी प्रतिष्ठा अलग ही बनाता है। यह धर्म शब्द कही विशेषण बनकर आता है तो कही सज्ञावाची रूप मे। कही पुल्लिग मे तो कही नपुसक रूप मे प्रयुक्त हुआ है।

ऋग्वेद मे यह "धार्मिक विधियो" तथा "धार्मिक क्रिया सस्कारो" मे प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् मे धर्म शब्द व्यापक सन्दर्भ प्रस्तुत करता है। वहा यह धर्म शब्द गृहस्थ धर्म, तापस धर्म और ब्रह्मचारी के धर्म की ओर सकेत दे रहा है। अन्ततोगत्वा यह मानव के कर्त्तव्यो, आर्य जाति की आचार विधियो का निदेशक बनता है। तैत्तिरीयोपनिषद् का वाक्य विशेषत विद्यार्थियो को आचारधर्म का पावन उपदेश दे रहा है, जैसे *"सत्य वद, धर्म चर"* (तै0 1/11)

श्रीमद्भगवद्गीता मे यह धर्म सन्देश इस रूप मे व्यक्त हुआ है– *"स्वधर्मे निधन श्रेय "* (गीता – 3/35)। धर्मशास्त्रो मे धर्म शब्द इसी का आनुपूर्वी रूप है। मनुस्मृति मे मनु से मुनिजन धर्म सम्बधी व्याख्या करने का अनुरोध करते है जो सब वर्णो–जातियो की शिक्षा के लिए उपादेय है–

*भगवन् सर्ववर्णाना यथावदनुपूर्वश ।*

*अन्तरप्रभवाणा च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि।।* (मनु0 1/2)

याज्ञवल्क्य स्मृति मे भी यही बात कही गयी है। (या0 1/2)। प्रश्न यह उठता है कि कौन सा कार्य धार्मिक माना जाय और कौन सा कार्य अधार्मिक। इसका उत्तर मनुस्मृति मे यह है कि वेद तथा स्मृति प्रतिपादित सज्जनो का आचार तथा मन की प्रसन्नता जिस कर्म मे हो वही धर्म है, शेष को अधर्म की कोटि मे जानना चाहिए–

*वेदोऽखिलोधर्ममूल स्मृतिशीले च तद्विदाम्।*

*आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।* (मनु0 2/6)

महर्षि वेद व्यास जी ने धर्म शब्द की व्याख्या मे अत्यन्त सुबोध एव सर्वसम्मत उत्तर प्रस्तुत किया है। यथा–

*परोपकार पुण्याय पापाय परिपीडनम्।*

यहा धर्म शब्द एकदम बदल गया, वह पुण्य का वाचक हो गया है अर्थात् जो इस तरह का कार्य करेगा वह पुण्यात्मा (धार्मिक), और जो अमुक कार्य करेगा वह पापात्मा (अधार्मिक) हुआ।

मनुस्मृति के प्रमुख व्याख्याकार मेघातिथि के अनुसार धर्म शब्द के पॉच उपादान प्राप्त होते है जो इस प्रकार है – 1– वर्णधर्म, 2– आश्रमधर्म, 3– वर्णाश्रमधर्म, 4– नैमित्तिकधर्म, जिसे अन्यत्र 'प्रायश्चित्त' धर्म कहा गया है, 5– गुणधर्म (राजकार्य सरक्षण धर्म) (मनु0 2/25)। मनुस्मृति मे धर्म शब्द इसी का पोषक है।

भारतीय सस्कृति के आत्म तत्त्व को हृदयगम करने के लिए हमे उसके अजस्र प्रवाह को समझना होगा। आज हम अपने ही स्वरूप, स्वभाव और स्वधर्म से इतने अपरिचित हो गये हैं कि भारतीय सस्कृति के आधार भूत व्यापक जीवनानुभव को , जिसे हिन्दूधर्म के नाम से अभिहित किया जाता है, न तो उसे परिभाषित कर सकते हैं और

न उसकी उदात्त भावनाओ के साथ एक रस हो पाते है, जबकि सत्य यह है कि अपनी परम्पराओ और सस्कारो के कारण हमारा चिन्तन हमे उस ओर प्रेरित करता है। शास्त्रो के ज्ञान के अभाव मे हम न तो अपने अतीत का ठीक से मूल्याकन कर पाते है, न अपने इतिहास के उपयोगी बिन्दुओ को सजगता से ग्रहण कर पाते है।

इसी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए प्रस्तुत शोध विषय, ''प्रमुख स्मृतिग्रन्थो मे धर्म का स्वरूप'' को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। उक्त शोध विषय पर अभी तक कोई शोध कार्य न होने के कारण इसकी उपादेयता वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे न्यून नही है।

बाल्य जीवन मे जब मैं अपने परिवार के सदस्यो को इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे अध्ययन करने के लिए जाते हुए देखा करता था, तो मुझे भी यह उत्कट अभिलाषा होती थी कि मैं भी इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे अध्ययन करूँ। इण्टर परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद पूज्य गुरुदेव श्री गायत्री प्रसाद सिह (प्रवक्ता, पब्लिक इ0 कालेज, चौकिया, सुल्तानपुर) की प्रेरणा एव महती कृपा से मेरी यह इच्छा पूर्ण हुई। इसके लिए मैं पूज्य गुरुदेव श्री सिह का आजीवन कृतज्ञ हूँ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे शिक्षा प्रारम्भ करने से लेकर प्रकाश स्तम्भ, प्रेरक एव मार्गदर्शक रहे परमपूज्य गुरुवर्य्य एव निदेशक डॉ0 रामकिशोर शास्त्री (उपाचार्य सस्कृत विभाग) का मैं जन्म जन्मान्तर ऋणी रहूँगा, जिनके पितृतुल्य स्नेह एव उपदेश से यह शोध प्रबन्ध सम्पन्न हो सका।

परमपूज्य गुरुवर्य्य प्रो0 सुरेशचन्द्र पाण्डेय एव प्रो0 हरिशकर त्रिपाठी (भूतपूर्व सस्कृत विभागाध्यक्ष गण इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) तथा प्रो0 चन्द्रभूषण मिश्र को मै सादर नमन करता हूँ, जिनकी प्रेरणा हमे परास्नातक कक्षा से ही मिलती रही है। सस्कृत विभाग के प्राध्यापक वृन्द प्रो0 मृदुला त्रिपाठी (वर्तमान अध्यक्षा, सस्कृत विभाग), प्रो0 राजलक्ष्मी वर्मा, डॉ0 मजुला जायसवाल एव डॉ0 उमाकान्त यादव, का मै कृतज्ञ हूँ जिनके सत्परामर्शो एव सहयोग से मुझे बल मिलता रहा। इसके साथ ही डॉ0 उमाकान्त शुक्ल (प्राध्यापक दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) को सादर नमन करता हूँ जिनका सहयोग हमे शोध प्रबन्ध मे बराबर प्राप्त होता रहा है।

पूज्यपाद गुरुवर्य्य एव विपत्तियो मे सरक्षकत्व का निर्वहन करने वाले एव इस शोध प्रबन्ध के प्रेरणास्रोत श्री भगवान प्रसाद उपाध्याय (प्रवक्ता, सस्कृत, पब्लिक इ0 कालेज, चौकिया, सुल्तानपुर) एव श्री राधेश्याम यादव (सहायक अध्यापक, जवाहर इ0 कालेज, जारी, इलाहाबाद) को मैं विशेष रूप मे सादर नमन करता हूँ क्योकि इनकी सत्प्रेरणाये एव शुभ आशीर्वाद मेरे दुखी क्षणो मे निरन्तर धीरज बँधाते रहे है। इसके साथ ही विश्वविद्यालीय शिक्षा से लेकर आज तक प्रेरणा स्रोत अग्रज श्री कुलदीप नारायण (पुलिस उपाधीक्षक) एव श्री गायत्री शरण सिह का मै आजीवन ऋणी रहूँगा क्योकि इनके अभूतपूर्व सहयोग एव स्नेहिल आशीष से मेरा मार्गदर्शन होता रहा है।

मैं अपने परम पूज्य पिता श्री नरेन्द्र प्रसाद शुक्ल एव परमपूज्या माता श्रीमती शान्ती शुक्ला का भी जन्म जन्मान्तर ऋणी रहूँगा जिन्होने मेरे अध्ययन कार्य से लेकर शोध कार्य मे सहयोग हेतु अनेक त्यागपूर्ण कार्य किये।

अपने परिवार तथा गॉव के सभी पूज्य व्यक्तियो एव शुभेच्छु लोगो को मै आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होने सदा इस कार्य मे मेरा उत्साहवर्धन किया और आशीर्वाद देते रहे।

विभाग के ही शोधच्छात्र सर्वश्री सरवरे आलम, कमलदेव शर्मा, नीरज शुक्ल, लक्ष्मीकान्त पाण्डेय एव शोधच्छात्रा श्रीमती विनीता रानी सिह, मनीषा तिवारी, तथा अम्बेश्वरी देवी के निरन्तर सहयोग के प्रति भी मै धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

शोध प्रबन्ध की लेखनावधि मे राकेश उपाध्याय द्वारा प्रदत्त समय एव सहयोग के प्रति मै आभार व्यक्त करता हूँ।

यही नही जिन अग्रजो सर्वश्री निर्मल कुमार पाण्डेय, जगबहादुर, बाकेलाल, शेषमणि, चन्द्रदेव पाण्डेय, प्रवीन तिवारी एव अनुजो चि0 प्रदीप, अजय, सुरेश कुमार शुक्ल, सजय शुक्ल, विजयराज शुक्ल, पकज कुमार शुक्ल, जितेन्द्र कुमार सिह, दिलीप कुमार उपाध्याय, कमलेश, नन्दलाल चौरसिया, गिरीशचन्द्र तिवारी, काशीराम, इन्द्रबहादुर, आशीष पाण्डेय, धर्मेन्द्र कुमार मिश्र ने सहयोग दिया उनके प्रति भी मै कृतज्ञ हूँ।

अपने सहपाठियो सर्वश्री रामपाल, भूपेन्द्र, वृजेश, सन्तोष, फूलचन्द्र पाण्डेय एव अन्य मित्रो के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिनका सहयोग हमे सतत् प्राप्त होता रहा है।

शोध प्रबन्ध के टकणकर्त्ता अवधेश जी एव अजीत जी के प्रति भी कृतज्ञ हूँ जिन्होने अत्यन्त सावधानीपूर्वक अत्यल्प समय मे ही यह कार्य पूर्ण किया।

अन्त मे मेरा प्रयास कितना सार्थक एव सफल है यह तो सुधीजन ही समझ सकते हैं जिनके समक्ष नीर क्षीर विवेक के लिए यह शोध प्रबन्ध परीक्षाणार्थ सादर प्रस्तुत है।

कार्त्तिक पूर्णिमा

संवत् 2058 विक्रमी

विनयावनत

अरविन्द कुमार शुक्ल

(अरविन्द कुमार शुक्ल)

# विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन I-IV

## प्रथम अध्याय

धर्म का अर्थ 1-10

1 धर्म का अर्थ
2 धर्म के उपादान
3 सामान्य धर्म

## द्वितीय अध्याय

धर्मशास्त्र के विविध विषय 11-90

1 वर्ण व्यवस्था
2 वर्णों के कर्त्तव्य, अयोग्यताएँ एव विशेषाधिकार
3 अस्पृश्यता
4 दास प्रथा
5 आश्रम व्यवस्था
6 सस्कार
7 विवाह
8 मधुपर्क तथा अन्य आचार
9 भोजन
10 दान

## तृतीय अध्याय

स्त्री धर्म 91-114

1 बहुपत्नीकता
2 बहुभर्तृकता
3 विवाह के अधिकार एव कर्त्तव्य
4 नियोग प्रथा
5 विधवा विवाह
6 विधवा धर्म
7 स्त्रियो के विशेषाधिकार
8 परदा प्रथा
9 स्त्रीधन
10. व्यभिचारी स्त्रियॉ
11 वेश्या
12 विवाह विच्छेद

# चतुर्थ अध्याय


## राजधर्म 115-129

1 राज्य के सप्ताग
2 स्वामी
3 अमात्य या मन्त्रिगण
4 राष्ट्र या जनपद
5 दुर्ग या पुर
6 कोश
7 बल या सेना
8 मित्र


# पंचम अध्याय


## व्यवहार या न्यायपद्धति 130-143

1 व्यवहार का अर्थ
2 भुक्ति (भोग)
3 साक्षीगण
4 दिव्य
5 सिद्धि (निर्णय)
6 सविदा या करार
7 अस्वामिविक्रय
8 सम्भूय – समुत्थान या साझेदारी
9 दत्तानपाकर्म
10 वेतनस्यानपाकर्म
11 अभ्युपेत्याशुश्रूषा
12 स्वामि–पाल विवाद
13 सीमा विवाद
14 वाक्यपारुष्य
15 दण्डपारुष्य
16 स्तेय प्रकरण
17 द्यूत समाहय प्रकरण
18 स्त्री सग्रहण (व्यभिचार)


# षष्ठ अध्याय


## पातक (पाप) 144-151

1 पञ्च महापातक
2 उपपातक
3 प्रकीर्णकपातक
4 पाप फलों को कम करने के साधन

# सप्तम अध्याय


**प्रायश्चित्त** 152-161

1 प्रायश्चित्त का उद्भव, व्युत्पत्ति एव अर्थ
2 विशिष्ट पापो के विशिष्ट प्रायश्चित्त


# अष्टम अध्याय


**कर्म विपाक** 162-166

(I) मानस वाचिक कायिक पापो का फल
(II) पापकर्मानुसार निन्द्य योनियो मे जन्म
1 प्रायश्चित न करने के परिणाम
11 स्वर्ग और नरक की धारणा


# नवम अध्याय


**अशौच, शुद्धि, श्राद्ध** 167-189

1 शुद्धि
2 श्राद्ध
3 श्राद्धो का वर्गीकरण
4 पार्वण श्राद्ध
5 एकोद्दिष्ट श्राद्ध
6 अन्य श्राद्ध


# दशम अध्याय


**आपद्धर्म** 190-195

1 ब्राह्मण का आपद्धर्म
2 क्षत्रिय का आपद्धर्म
3 वैश्य का आपद्धर्म
4. शूद्र का आपद्धर्म


# एकादश अध्याय


**उपसंहार** 196-204

**सन्दर्भित ग्रन्थों की सूची**

# प्रथम अध्याय

# धर्म का अर्थ

# 1. धर्म का अर्थ

भारतीय सस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय धर्म रहा है । यथार्थ मे यदि देखा जाय तो यह भारतीय सस्कृति का प्राण है । धर्म को प्राचीन काल से एक पवित्र प्रेरक तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया गया। धर्म शब्द उन सस्कृत शब्दो मे है जो व्यापक अर्थ का सूचक है और जिनका प्रयोग कई अर्थों मे होता आया है । इसलिए यह शब्द अनेक परिवर्तनो एव विपर्ययो के चक्र मे घूम चुका है। धर्म शब्द मानव जीवन का ऐसा तत्व है जिसके आधार पर मनुष्य और पशु की परख होती हे, 'धर्मेण हीना पशुभि समाना'। इसलिए धर्मगत उत्कण्ठा से भारतीयो के जीवन मे नैतिक मूल्यो, आचारगत अभिव्यक्तियो तथा जगन्नियन्ता के प्रति समर्पण की भावना का सन्निवेश हुआ तथा सम्पूर्ण देश और समाज धर्म के विशाल आयाम मे क्रियाशील रहा है।

धर्म शब्द सस्कृत के 'धृ' धातु (धृ धारणे) से निर्मित है। 'धृ' धातु का अर्थ–धारण करना, पालन करना, आलम्बन देना है। धारण करने का अभिप्राय वस्तु के उस गुण से है जो वस्तु को अपने स्वरूप मे स्थिर रखती है, जिसके न होने पर वस्तु अपने स्वरूप से च्युत हो जाती है। ऋग्वेद मे यह धर्म शब्द कही विशेषण बनकर आया है तो कही सज्ञावाची रूप मे। कही पुल्लिग मे तो कहीं नपुसक लिग के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। अधिक स्थानो पर धर्म शब्द 'धार्मिक विधियो' या 'धार्मिक क्रिया सस्कारो' के रूप मे ही प्रयुक्त हुआ है। किन्तु इन धार्मिक विधियो या धार्मिक क्रिया सस्कारो का ऋग्वेद की कुछ ऋचाओ मे अर्थ प्रकट नही होता जैसे– आ प्रा रजासि दिव्यानि पार्थिवा श्लोक देव कृणुते स्वायधर्मणे।[1] धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रतारक्षेथे असुरस्य मायया।[2] द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा।[3] अचित्तो यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिष ।[4] यहॉ धर्म का अर्थ निश्चित नियम (व्यवस्था या सिद्धान्त) या आचरण नियम है। जो यह स्पष्ट करता है कि ऋग्वैदिक काल मे धर्म का मुख्य उद्देश्य समाज मे एक निश्चित व्यवस्था स्थापित करना था। वाजसनेयी सहिता मे भी धर्म शब्द का अर्थ इसी निश्चित नियम और व्यवस्था की ओर सकेत करता है जहॉ हमे एक स्थान पर 'ध्रुवेण धर्मणा' का प्रयोग मिलता है। अथर्ववेद जिसमे ऋग्वेद की अनेक ऋचाएं मिलती हैं इसमे भी धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया सस्कार करने से अर्जित गुण के अर्थ मे हुआ है।[5] ब्राह्मणग्रन्थो मे ऐतरेय ब्राह्मण मे 'धर्मस्य गोप्ताजनीति तमभ्युत्कृष्टमेवविदभिषेक्ष्यन्नतयार्चाभिमन्त्रयेत' यह उक्ति मिलती है जिसमें धर्म शब्द सकल धार्मिक कर्त्तव्यो के अर्थ मे प्रयुक्त है।[6] धर्म शब्द का उपनिषद ग्रन्थो मे भी व्यापक अर्थ मिलता है, जिसमे छान्दोग्योपनिषद मे धर्म की तीन शाखाऍ मानी गयी हैं– (1) यज्ञ, अध्ययन एव दान, अर्थात् गृहस्थधर्म, (2) तपस्या अर्थात् तापस

---

1 ऋग्वेद – 4.53.3
2 ऋग्वेद – 5.63.6
3 ऋग्वेद – 6.70.9
4 ऋग्वेद – 7.89.5
5 ऋग्वेद – 9 9 16
6 ऐतरेय ब्रा० – 6.96

धर्म तथा (3) ब्रह्मचारित्व अर्थात् आचार्य के गृह मे अन्त तक रहना।[1] यहाँ धर्म शब्द आश्रम व्यवस्था के निश्चित कर्त्तव्य की ओर सकेत करता है। धर्म शब्द का अर्थ विभिन्न कालो मे भले ही परिवर्तित होता रहा किन्तु यह मानव के विशेषाधिकारो, कर्त्तव्यो, बन्धनो का द्योतक, आर्य जाति के सदस्य की आचार–विधि का परिचायक एव वर्णाश्रम धर्म का द्योतक हो गया। तैत्तिरीयोपनिषद् मे 'सत्य वद, धर्म चर' छात्रो के लिए आचार धर्म का पावन उपदेश दिया गया है।[2] भगवद्गीता मे धर्म का सन्देश 'स्वधर्मे निधन श्रेय' के रूप मे व्यक्त किया गया है।[3] तन्त्रवार्तिककार के अनुसार वर्णों एव आश्रमो के धर्मों की शिक्षा देना ही धर्मशास्त्रो का प्रमुख कार्य है।[4]

धर्मशास्त्र या स्मृति ग्रन्थो मे धर्म शब्द का सुस्पष्ट अर्थ प्राप्त होता है। स्मृति ग्रन्थो मे प्रमुख मनुस्मृति मे तो शुरु मे ही मुनियो के द्वारा मनु से सभी वर्णों के धर्म की शिक्षा देने के लिए प्रार्थना की गयी है।[5] याज्ञवल्क्य स्मृति मे भी मुनियो के द्वारा याज्ञवल्क्य से इसी प्रकार का प्रश्न किया गया है।[6] किन्तु यहाँ यह समस्या हो सकती है किस कार्य को धार्मिक माना जाय तथा किसे अधार्मिक माना जाय। मनुस्मृति मे इसकी स्पष्ट व्याख्या यह है कि वेद तथा स्मृति प्रतिपादित सज्जनो का आचार तथा मन की प्रसन्नता जिस कर्म मे हो वही धर्म का मूल है।[7] महर्षि वेदव्यास जी ने धर्म शब्द की व्याख्याय अत्यन्त सरल एव सुबोध ढग से इस प्रकार प्रस्तुत की है 'परोपकार पुष्याय पापाय परपीडनम्' यहा धर्म शब्द का अर्थ एकदम बदल गया है और वह पुण्य का वाचक बन गया अर्थात् जो इस तरह का कार्य करेगा वह पुण्यात्मा (धार्मिक) और जो पुण्य कार्य नही करेगा वह पापात्मा (अधार्मिक) है । मनुस्मृति के व्याख्याकार मेघातिथि के अनुसार धर्मशब्द के पॉच उपादान प्राप्त होते है – 1 वर्णधर्म 2 आश्रमधर्म 3 वर्णाश्रम धर्म 4 नैमित्तिक धर्म। जिसे अन्यत्र 'प्रायश्चित धर्म' कहा गया है, 5 गुणधर्म (अभिषिक्त राजा के सरक्षण–सम्बन्धी कर्तव्य)।[8] मनुस्मृति मे भी धर्म शब्द का अर्थ यही लिया गया है।

परवर्तीकाल मे भी धर्म की अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं। पूर्व मीमासा सूत्र मे जैमिनि ने 'चोदना लक्षणोऽर्थोधर्म' सूत्र के द्वारा धर्म को 'वेदविहित प्रेरक' लक्षणो के अर्थ मे स्वीकार किया है, अर्थात् लिखे गये अनुशासनो के अनुसार चलना ही धर्म है। जो वेदो द्वारा प्रेरित एव प्रशसित है तथा जिनसे आनन्द की प्राप्ति होती है ऐसे क्रिया सस्कारो का भी सम्बन्ध धर्म से ही है।[9] वैशेषिक सूत्र मे भी धर्म की परिभाषा यह दी गयी है कि धर्म वही है जिससे आनन्द एव निःश्रेयस की प्राप्ति हो।[10] इसके अतिरिक्त कुछ एकागी परिभाषाएँ भी

---

1 छा0उ0 – 2 23
2 तै0 – 1 11
3 गीता – 3/35
4 पृष्ठ – 236 सर्वधर्मसूत्राणा वर्णाश्रम धर्मोपदेशित्वात्
5 मनुस्मृति – 1/2
6 याज्ञ0 1/1
7 मनु0 – 2/6
8 मनु0 – 2/25
9 पूर्वमीमासा – 1 1.2
10 वैशेषिक सूत्र – अथातोधर्म व्याख्यास्याम:। यतोऽभ्युदय नि:श्रेयससिद्धि स धर्म ।

दी गयी है, यथा 'अहिसा परमो धर्म'[1], आनुशस्य परो धर्म'[2], तथा आचार परमो धर्म[3]। हारीत ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा कि 'अथातो धर्म व्याख्यास्याम। श्रुति प्रमाणको धर्म। श्रुतिश्च द्विविधा, वैदिकी, तान्त्रिकी च', अर्थात् श्रुति प्रमाणक ही धर्म है।[4] धर्म शब्द कई अर्थो मे बौद्ध धर्म साहित्य मे उपलब्ध होता है। कभी–कभी यह धर्म शब्द भगवान बुद्ध की सम्पूर्ण शिक्षा का द्योतक माना गया तो कभी यह जडतत्त्व, मन एव शक्तियो का एक तत्त्व के रूप माना गया है।

## 2. धर्म के उपादान

गौतम धर्मसूत्र मे कहा गया है कि वेद धर्म का मूल है। (वेदो धर्ममूलम्)[5]। आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे धर्म के विषय मे यह विचार व्यक्त किया गया 'धर्मज्ञसमय प्रमाण वेदाश्च' जो धर्मज्ञ है, जो वेदो को जानता है उसका मत ही धर्म प्रमाण है।[6] ऐसा ही कथन हमे वसिष्ठधर्म सूत्र से भी प्राप्त होता है–'श्रुतिस्मृति विहितो धर्म। तदलाभेशिष्टाचार प्रमाणम्। शिष्ट पुनरकामात्मा।'[7] मनुस्मृति मे धर्म के पॉच उपादान है–सम्पूर्ण वेद, वेदज्ञो की परम्परा एव व्यवहार, साधुओ का आचार तथा आत्मतुष्टि।[8] याज्ञवल्क्य स्मृति मे धर्म उपादान का लक्षण इस प्रकार बताया गया है– जो वेद स्मृति (परम्परा से चला आया हुआ ज्ञान) सदाचार (शिष्टजनो का आचार–व्यवहार) तथा अपने को प्रिय (अच्छा) लगे और उचित सकल्प से उत्पन्न हुई इच्छाये, सब धर्म के मूल कहे गये हैं।[9] इन प्रमाणो से यह स्पष्ट होता है कि वेद स्मृतियॉ तथा परम्परा से चला आया हुआ शिष्टाचार या सदाचार ही धर्म के मूल उपादान हैं। धर्म के विषय मे एक निश्चित विधि का वेदो मे स्पष्ट उल्लेख भले ही न प्राप्त होता हो किन्तु उसके विषय मे प्रासगिक निर्देश अवश्य प्राप्त होता है। वेदो का यह निर्देश अवश्य ही धर्मशास्त्र सम्बन्धी प्रकरणो की ओर सकेत करता है। वेदों मे अनेक ऐसे स्थल है जहॉ विवाह , विवाह प्रकार, पुत्र प्रकार, गोद लेना, सम्पत्ति बॅटवारा, रिक्थलाभ (वसीयत) श्राद्ध, स्त्रीधन जेसी विधियो पर प्रकाश डाला गया है। वेदो की ऋचाओ मे यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि भ्रातृहीन कन्या को वर मिलना कठिन था।[10] किन्तु धर्मसूत्रों एव याज्ञवल्क्य स्मृति मे भ्रातृविहीन कन्या के विवाह के विषय मे जो चर्चा हुई, वह वेदो की परम्परा से गुॅथी हुई है।[11] मनुस्मृति मे भी इसी तरह की बात कही गयी है कि विद्वान

---

[1] अनुशासनपर्व – 115–1
[2] वनपर्व – 373–76
[3] मनुस्मृति – 1–108
[4] कुल्लूक द्वारा मनु0 2.1
[5] गौ0धर्म0 1 1.2
[6] आप0 1 1 1.2
[7] वसि0 1 4.6
[8] मनु0 2/6
[9] याज्ञ0 1/7
[10] ऋग्वेद – 2.17 7, 1 124 7, अथर्ववेद 1 17 1 तथा निरुक्त 3.4.5।
[11] याज्ञ0 1.53

पुरुष को चाहिए कि जिस कन्या के भाई न हो तथा जिसके माता–पिता का ज्ञान न हो उससे विवाह न करे।[1]

ऋग्वेद की ऋचा 'गृभ्णामि ते सोभगत्वाय' आज भी विवाह के अवसर पर गायी जाती है और विवाह विधि मे इसका प्रमुख स्थान है। इसका वर्णन आपस्तम्ब गृह्यसूत्र मे भी मिलता है।[2] धर्मसूत्रो एव मनुस्मृति मे वर्णित धर्मयुक्त ब्रह्म विवाह जिसमे कन्या का पिता वेद पढे हुए सदाचारी वर को स्वय बुलाकर उसकी पूजाकर और वस्त्र–भूषणादि से दोनो (वर–कन्या) को अलकृत कर कन्यादान करने की झलक हमे वैदिक समय मे भी मिलती है।[3] आसुर विवाह भी वैदिक काल मे अज्ञात नही था इसका वर्णन वसिष्ठ धर्मसूत्र तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र से ज्ञात होता है।[4] वेद मे गान्धर्व विवाह का भी वर्णन प्राप्त होता है। वैदिक काल मे औरस पुत्रो की भी चर्चा की गयी है। ऋग्वेद मे कहा गया है कि औरस पुत्र चाहे वह बहुत ही सुन्दर क्यो न हो, नही ग्रहण करना चाहिए, उसके विषय मे सोचना भी नही चाहिए। किन्तु मनुस्मृति मे औरस पुत्र की महत्ता को स्थापित किया गया है और पिता के धन का वास्तविक भागी औरस पुत्र को ही स्वीकार किया गया है।[5] धर्मसूत्रो या स्मृति ग्रन्थो मे वर्णित क्षेत्रज पुत्र की चर्चा प्राचीन काल मे वैदिक साहित्य मे भी प्राप्त होती है।[6] पिता अपने जीवन काल मे ही अपनी सम्पत्ति का बॅटवारा अपने पुत्रो मे कर सकता है। यह बात हमे तैत्तिरीय सहिता से स्पष्ट होती है किन्तु इसी सहिता मे यह भी कहा गया है कि पिता अपने ज्येष्ठ पुत्र को सब कुछ दे। इसी कथन की ओर आपस्तम्ब धर्मसूत्र तथा बौधायन धर्मसूत्र ने भी सकेत दिया है।[7] पैतृक सम्पत्ति के विषय में भाई बहिन के बीच विभाजन का उल्लेख ऋग्वेद मे इस प्रकार मिलता है कि भाई अपनी बहिन को पैतृक सम्पत्ति का कुछ भी भाग नही देता।[8]

ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी जीवन) की प्रशसा ऋग्वेद मे की गयी है। शतपथ ब्राह्मण मे विद्यार्थी जीवन के कर्त्तव्यो की चर्चा की गयी है कि ब्रह्मचारी को मदिरा पान से दूर रहना तथा सध्याकाल मे अग्नि मे समिधा डालना चाहिए।[9] ब्रह्मचारी के इसी कर्त्तव्य की चर्चा मनुस्मृति मे इस प्रकार की गयी है कि ब्रह्मचारी मधु मास, सुगन्धित पदार्थ, फूलो की माला, रस, स्त्री, अॅचार आदि और जीवो की हिसा का परित्याग करे।[10] तैत्तिरीय सहिता मे सन्यासी के विषय मे आया है कि जब इन्दु मे यतियो को कुत्तो (भेडियों) के (खाने के) लिए दे दिया, तो प्रजापति ने उसके लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था की। इस ज्ञान तथा अज्ञान मे किये गये पाप का प्रायश्चित्त करने का विधान मनुस्मृति के व्याख्याकार मेधातिथि ने किया है कि कुछ पण्डित लोग

---

[1] मनु0 3 11
[2] ऋग्वेद 10.85 36
आप0 2 4 14
[3] गौत0 4 4, बौधा0 1.2.2, आप0 2.5 11 17, मनु0 3.27।
[4] वसिष्ठ – 1 37.37, आप0 2.6.13 11
[5] मनु0 9–163
[6] ऋग्वेद 10.40.2
[7] तैत्ति0 2.5.2.7, आप0 2.6.14 12, बौधा0 2.2.5।
[8] ऋग्वेद – 3.31.2
[9] ऋग्वेद 10.109.5, शतपथ 11.5.4 18
[10] मनु0 – 2.177

अज्ञान से किये गये पाप मे प्रायश्चित्त करने को कहते है और कुछ आचार्य ज्ञान से किये गये पाप मे भी श्रुति को देखने से प्रायश्चित्त करने को कहते है।[1] तैत्तिरीय सहिता मे कहा गया है कि शूद्र यज्ञ के योग्य नही है।[2] मनुस्मृति मे भी शूद्रो के यज्ञीय विधान का निषेध किया गया है तथा उनका कार्य केवल द्विजो की सेवा करना है। वेदाध्ययन को यज्ञ माना गया है और तैत्तिरीयारण्यक मे पॉच यज्ञो का वर्णन किया गया है। जिसकी चर्चा हमे मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति मे प्राप्त होती है। इन दोनो स्मृतियो मे मनुष्य (गृहस्थों) के लिए ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ तथा मनुष्य यज्ञ का विधान किया गया है।[3] गाय, घोडा सोने तथा परिधानो के दान की प्रशसा हमे प्राचीनकाल मे प्राप्त होती है और इस दान कर्म का वर्णन हमे ऋग्वेद से प्राप्त होता है।[4] जो मनुष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए कार्य करता है उसकी सर्वत्र निन्दा की जाती है इस बात का प्रमाण हमे ऋग्वेद से भी प्राप्त होता है।[5]

धर्मशास्त्र यास्मृतिग्रन्थो मे जो विधियॉ प्राप्त होती है उनका प्रमाण मूल रूप से वैदिक साहित्य मे पाया जाता है । क्योकि धर्मशास्त्रो ने वेद को धर्म का मूल कहा है किन्तु वेद मे जो धर्म सम्बन्धी विचार आये है वे केवल प्रसगवश आये इसलिए धर्म सम्बन्धी विषयो का यथार्थ विवेचन हमे स्मृतिग्रन्थो से ही प्राप्त होता है ।

## 3. सामान्य धर्म

धर्मशास्त्रकारो ने आचार शास्त्र के सिद्धान्तो का सम्यक् विवेचन भले ही प्रस्तुत न किया हो किन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि उन्होने आचार शास्त्र के सिद्धान्तो को छोड दिया या उस पर कोई ऊँचा चिन्तन नहीं किया है । अति प्राचीन काल से ही सत्य को सर्वोपरि कहा गया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि सत्य बचन एव असत्य बचन की प्रतियोगिता चलती है। सोम दोनो मे जो सत्य या ऋजु (आर्जव) है उसकी रक्षा करता और असत्य को नष्ट करता है ।[6] पक्षपात रहित, न्याय पर आधारित आचरण से ही मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति हो सकती है। इसी को हम धर्म कह सकते हैं। ऋत ही धर्म का ऋग्वैदिक स्वरूप है। ऋग्वेद मे ऋत को जो मान्यता प्राप्त है वह बहुत ही उदात्त एव उत्कृष्ट है और उसी मे धर्म के नियम के सिद्धान्त समाविष्ट हैं। धर्म का उद्धेश्य समाज मे सतुलन रखना है यह सतुलन तभी रह सकता है जब मनुष्य प्राणि मात्र को ईश्वर की सृष्टि समझ कर समानता का व्यवहार करे। इसी प्रकार की समन्वय की भावना हमे यजुर्वेद से प्राप्त होती है कि पृथ्वी पर यह सब कुछ चराचर वस्तु है वह ईश्वर से आच्छादित है। मनुष्य को उसी ईश्वर के दिए हुए पदार्थों का उपभोग करना चाहिए। किसी अन्य व्यक्ति के

---

[1] तैत्ति० – इन्द्रो यतीन – शालावृकेभ्य प्रायच्छत्। मेधातिथि– मनुस्मृति – 11 45
[2] तैत्ति० – 7 1 1 6
[3] मनु0 3.70, याज्ञ0 1 102
[4] ऋग्वेद – 10 107.2
[5] ऋग्वेद – 10 117.6
[6] ऋग्वेद – 7 / 104 / 12

धन की लालच नही करनी चाहिए।[1] इस प्रकार व्यक्ति के आचरण से समाज मे व्यवस्था रह सकती है और इसी को धर्म कहा गया है जिससे मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति हो सकती है ।

शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि मनुष्य सत्य बोले सत्य के अतिरिक्त कुछ और न बोले ।[2] तैत्तिरीय उपनिषद मे आचार्य शिक्षा की समाप्ति पर अर्थात् समावर्तन नामक सस्कार के समय गुरू शिष्य को सत्य और धर्मपालन करने का उपदेश देता है (सत्य वद धर्मं चर) ।[3] छादोग्य उपनिषद मे पॉच प्रकार की दक्षिणा कही गयी है – तपो के पॉच गुण विशेष, दान, आर्जव (निष्कपटता) अहिसा और सत्यवचन ।[4] इसी उपनिषद् मे सोने की चोरी, सुरापान, ब्राह्मण की हत्या और गुरू शय्या को अपवित्र करना महापाप कहा है ।[5] वृहदारण्यकोपनिषद् मे कहा गया है कि व्यावहारिक जीवन मे सत्य एव धर्म दोनो समान है । इसी मे एक स्तुति प्राप्त होती है कि 'असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो।[6] यदि हम इन्द्रियो का दमन करे, दूसरो के प्रति दयाभाव रखे और अपने धन का कुछ भाग दान मे दे तो हम अपनी आध्यात्मिक उन्नति करेगे और समाज का कल्याण करेगे । वृहदारण्यक उपनिषद् मे सयम, दया और दान को धर्म कहा गया है।[7] कठोपनिषद् मे वासनाओ की तृप्ति को प्रेय अर्थात् सुखमय प्रतीत होने वाली वस्तु कहा है और आध्यात्मिक उन्नति को श्रेय कहा है । समाज के प्रति अपने कर्तव्य की पूर्ति से मुनष्य को स्थायी सुख की प्राप्ति होती है । यही धर्म है । मुण्डकोपनिषद् मे स्पष्ट कहा गया है कि जीवन का महाव्रत यह है कि मनुष्य उदार विचार रखे, किसी स्त्री के साथ अशिष्ट व्यवहार न करे, लोकमगल की उपेक्षा न करे, विद्वानो का अनादर न करे और सबको अपना जैसा समझे ।[8] इसी उपनिषद् मे यह भी बताया गया है कि तप, दान, सीधापन, किसी की हानि न करना और सच बोलना जीवन रूपी यज्ञ की दक्षिणा है ।[9] कठोपनिषद् मे आत्म ज्ञान के लिए दुराचरण त्याग, मन शान्ति, मनोयोग आवश्यक धर्म बताये गये हैं ।[10]

धर्मशास्त्रो के विद्वान अपने नियमो का समर्थन करने के लिए वेद के मत्रो की व्याख्या अपने मत की पुष्टि के लिए करते थे । आपस्तम्ब वेदो और विद्वानो के सर्व सम्मत विचारो को धर्म का स्रोत मानते है ।[11] बौधायन धर्म के तीन स्रोत मानते हैं श्रुति, स्मृति और शिष्टाचार । श्रुति से अभिप्राय वैदिक साहित्य से है जिसे हिन्दू धर्म का आदि स्रोत माना जाता है । स्मृति से उनका अर्थ स्मृति ग्रन्थो से है जो देश काल के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य निर्धारित करती थी । स्मृतियॉ जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप का उल्लेख

---

[1] यजुर्वेद – 40/1
[2] शत0 1/1/1/1, 1/1/1/5
[3] तैत्ति0 1/1/1/1
[4] छादो0 3/17
[5] छादो0 5/10
[6] वृह0उ0 – 1/4/14 , 1/3/2
[7] वृह0 उ0 5/2/3
[8] छादोग्य – 2/11/13/17–20
[9] छादोग्य – 3/17/4
[10] कठो0उ0 – 1/223
[11] आप0 1/1/1–4

नही कर सकती थी इसीलिए बौधायन ने शिष्ट व्यक्तियो के आचार को भी धर्म का स्रोत माना है । इससे यह बात स्पष्ट होती है कि धर्म का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे कार्य करने के लिए प्रेरित करना था जिनसे उसकी व्यक्तिगत और साथ ही समाज की भी उन्नति हो सके । सूत्र ग्रथो मे वर्ण धर्म, आश्रम धर्म और सामान्य धर्म के अन्तर्गत धर्म के सभी पहलुओ का ज्ञान प्राप्त होता है । सामान्य धर्म से अभिप्राय उस धर्म से है जिसका पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए । गौतम धर्मसूत्र मे कहा गया है कि जिस मनुष्य मे दया, धैर्य, ईर्ष्या का अभाव, शरीर, वाणी और विचारो की पवित्रता, कष्टदायक महत्वाकाक्षा का अभाव दूसरो की भलाई करने की भावना, दीन न होने की भावना और दूसरो की वस्तुओ को लेने की इच्छा न होना, ये आठ गुण होते है वह ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है । और यह भी कहा गया है कि चालीस सस्कारो के करने पर भी यदि ये आठ गुण नही आये तो ब्रह्मलोक की प्राप्ति नहीं हो सकती ।[1] इसी प्रकार वसिष्ठ ने भी कहा कि दूसरो की निदा ईर्ष्या, अहकार, अविश्वास, कुटिलता, आत्मप्रशसा, दूसरो को बुरा कहना, धोखा, लोभ, वहकावट, क्रोध और प्रतिस्पर्धा छोडने को सभी आश्रमो मे मनुष्यो के धर्म हैं, और आदेशित किया है कि सच्चाई का अभ्यास करो अधर्म का नही, सत्य बोलो असत्य नहीं, आगे देखा पीछे नही, उदात्त पर दृष्टि रखो अनुदात्त पर नही ।[2] आपस्तम्ब धर्म सूत्र के अनुसार मनुष्य को सभी आश्रमो मे उन अवगुणो को त्याग करना चाहिए जिनसे मनुष्य का नाश हो और उन गुणो को ग्रहण करना चाहिए जिनसे मनुष्य की उन्नति हो ।[3] इन सबसे यह स्पष्ट होता है कि गौतम एव अन्य धर्म शास्त्रकारो के मतानुसार यज्ञ कर्म तथा अन्य शौच एव शुद्धि सम्बन्धी धार्मिक क्रिया सस्कार आत्मा के नैतिक गुणो की तुलना मे कुछ नहीं है । फिर भी वे समाज को बाह्याडबर से दूर करके धर्मपालन के द्वारा नैतिक व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे ।

रामायण, महाभारत तथा स्मृतियो मे सामान्य धर्म के बारे मे स्पष्ट व्याख्या प्राप्त होती है । रामायण के अनुसार चरित्र ही धर्म है और इस कारण चरित्रवान राम धर्म के मूर्तरूप हैं ।[4] इस चरित्र के द्वारा ही मन मे सयम, इन्द्रियो पर नियन्त्रण और कर्त्तव्य पालन की भावना का विकास होता है । दूसरो के प्रति अपने दायित्व को निभाना, लोक जीवन की मर्यादा की रक्षा करना, समाज की व्यवस्था बनाए रखने मे योगदान करना ही धर्म है । इस धर्म से बधा हुआ मनुष्य स्वार्थ से परमार्थ को श्रेष्ठ समझकर लोकमगल की साधना मे लगा रहता है । महाभारत लोकधर्म का अमूल्य ग्रथ है । इसमें कहा गया है कि क्रोध न करना, सत्य बोलना, न्यायप्रियता, अपनी विवाहिता पत्नी से सन्तान की उत्पत्ति, सदाचार, व्यर्थ के झगडो से बचना, सरलता और सेवको का पालन पोषण ये नवों गुण चारो वर्णो के कर्त्तव्य है ।[5] महाभारत मे यह भी कहा गया है कि अन्य व्यक्ति के साथ किसी व्यक्ति को ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जो वह अपने अनुकूल नही

[1] गौत० धर्म० 8/23–24
[2] वसिष्ठ० धर्म० – 10/30/31/1
[3] आप०ध० – 1/8/23/3–6
[4] रामायण अरण्यकाण्ड 39/13
[5] महाभारत शान्तिपर्व 60/7

समझता है ।[1] जब धर्म की वृद्धि होती है तो समाज की उन्नति होती है और जब अधर्म की वृद्धि होती है तो समाज का पतन होता है । धर्म के कारण विश्व जीवित रहता है क्योकि धर्म ही के कारण सब वर्णों के व्यक्ति अपने वर्णों और आश्रमो का कर्त्तव्य पालन करते है । जब व्यक्ति धर्मपालन नही करते तो समाज मे अव्यवस्था फैल जाती है ।[2] इसी प्रकार का विचार मनु ने भी प्रकट किया है जब व्यक्ति धर्म का उल्लघन करता है तो समाज नष्ट हो जाता है । जब धर्म की रक्षा की जाती है तो धर्म समाज की रक्षा करता है । इसलिए हमे धर्म का उल्लघन नही करना चाहिए । यदि हम धर्म का उल्लघन करेगे तो यह हमे नष्ट कर देगा ।[3] भगवद्गीता मे धर्म के तीनो रूप ज्ञान, कर्म और भक्ति के मार्गों का समन्वय किया गया है । गीता मनुष्य के नैतिक विकास पर बल देती है । मनुष्यो के व्यक्तिगत नैतिक विकास से ही समाज की उन्नति सम्भव है ।

मनु ने धैर्य, क्षमा, इच्छाओ और इन्द्रियो का दमन पवित्रता, चोरी न करना, बृद्धि, विद्या, क्रोध न करना ये दस धर्म के लक्षण बतलाए हैं ।[4] इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर भी मनु ने अहिसा (दूसरे को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना) सत्य, अस्तेय (बिना पूछे किसी की कोई वस्तु नही लेना), शुद्धता (आन्तरिक अर्थात् भीतरी मानसिक तथा वाह्य अर्थात् शरीर आदि की स्वच्छता), इन्द्रियो को (उनके विषयो से) रोकना चारो वर्णों के लिए धर्म का अग माना है ।[5] इस प्रकार धर्मशास्त्रो मे मनुष्य के कर्त्तव्यो पर जोर दिया गया है न कि उनके अधिकारो पर । यदि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्त्तव्य को पूरा करे तो उसे ऐहिक और पारलौकिक सुख मिलेगा और साथ ही समाज मे व्यवस्था स्थापित होगी । धर्म का उद्देश्य जीवन के अन्य दो पुरूषार्थो – अर्थ और काम पर नियन्त्रण रखकर सासारिक और पारलौकिक दोनो प्रकार के सुखो की प्राप्ति करना है । मनु ने इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि मरने के उपरात न माता–पिता, न पत्नी, न लडके उस ससार (परलोक) मे साथी होगे केवल धर्म या सदाचार ही उनका साथ देगा ।[6] समाज का विकास मनुष्य के उपयोगी कार्य करने पर निर्भर है । मनुष्य दो प्रकार के कार्य करता है एक वे जो अपने निजी हित के लिए करता है और दूसरे वे जो समाज के लिए करता है । वर्णाश्रम धर्म इन दोनो प्रकार के कार्य करने के लिए प्रेरणा देता है । इसमे सामाजिक तथा व्यक्तिगत दोनों प्रकार के हितो का समन्वय है । वर्ण धर्म का मुख्य उद्देश्य सामाजिक उन्नति है और आश्रम धर्म का व्यक्ति के अन्तिम लक्ष्य की ओर प्रगति करना है । मनु से पहले धर्मशास्त्र के विचारको ने वेद स्मृति और विद्वानो के सर्वसम्मत विचारो को ही धर्म का स्रोत माना या किन्तु मनु ने अन्तरात्मा की तुष्टि को भी धर्म का स्रोत मान लिया ।[7] इसका कारण यह है कि भारतीयों को यह विश्वास था कि परमात्मा सब प्राणियों की आत्मा में निवास करता है इसी लिए प्रत्येक

---

[1] महा0 अनु0पर्व0 – 113/8
[2] महा0 शान्तिपर्व – 110/10–11
[3] मनु0 8/15
[4] मनु0 6/92
[5] मनु0 10/63
[6] मनु0 4/239/4/241
[7] मनु0 4/161

व्यक्ति की आत्मतुष्टि उसी कार्य से होगी जिससे सब प्राणियो का कल्याण होगा। मनुष्य के अधिकतर कार्य इस ससार मे वर्ण–धर्म और आश्रम–धर्म के अतर्गत आते है । इसलिए धर्मशास्त्रो मे धर्म के इन दोनो रूपो का विवेचन हमे प्राप्त होता है ।

'तत्त्वमसि' का दार्शनिक विचार प्रत्येक व्यक्ति मे एक ही आत्मा की अभिव्यक्ति का द्योतक है। इसी दार्शनिक विचारधारा को दया, अहिसा आदि गुण प्राप्त करने का कारण बताया गया है । हम यहाँ पर नैतिकता एव तत्त्वदर्शन (अध्यात्म) को साथ–साथ चलते हुए देखते है । इसी सिद्धान्त के अनुसार एक व्यक्ति द्वारा किया गया सुकृत्य या दुष्कृत्य दूसरे को प्रभावित करता हुआ बतलाया गया है । दक्ष ने कहा है कि यदि कोई आनन्द चाहता है तो उसे दूसरे को उसी दृष्टि से देखना चाहिए जिस दृष्टि से वह अपने को देखता है ।[1] धर्मशास्त्रकारो ने नैतिकता के लिए (सद्नीतियो के लिए) प्रमाणिकता के रूप मे श्रुति (अर्थात् सर्वं खलु इद ब्रह्म) एव अन्त करण के प्रकाश दोनो को ग्रहण किया है । अच्छे गुण प्राप्त करने के कारण पर तो इनसे प्रकाश पड जाता है किन्तु उदात्त गुणो को प्राप्त करने के लिए हमे मानव अस्तित्व के लक्ष्यो (पुरूषार्थ) की व्याख्या से ही प्राप्त होता है । प्राचीन समय से मानव के लिए चार पुरूषार्थों की बात कही गयी है – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इसमे अन्तिम पुरूषार्थ मोक्ष तो परम लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति जिस किसी को ही हो पाती है, अधिकाश मनुष्यो के लिए यह एक आदर्श मात्र है । काम सबसे निम्न श्रेणी का पुरूषार्थ माना गया है इसे केवल मूर्ख ही सर्वोत्तम पुरूषार्थ मानते हैं ।[2] महाभारत मे कहा गया है कि एक समझदार व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम तीनो पुरूषार्थों को प्राप्त करता है, किन्तु यदि तीनो की प्राप्ति न हो सके तो वह धर्म एव अर्थ प्राप्त करता है किन्तु यदि उसे केवल एक ही चुनना है तो वह धर्म का ही चुनाव करता है। धर्मशास्त्रकार भी काम की सर्वथा भर्त्सना नही की है वे उसे मानव की क्रियाशील प्रेरणा के रूप मे ग्रहण करते है, किन्तु उन पुरूषार्थों से निम्नकोटि का पुरूषार्थ मानते हैं । गौतम ने धर्म को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है।[3] याज्ञवल्क्य ने भी यही कहा है कि ब्राह्म मुहूर्त मे उठकर अपने (किये गए एव किये जाने वाले) हित का विचार करे तथा धर्म, अर्थ और काम को उनके उचित समय पर यथाशक्ति परित्याग न कर अपितु उनका सेवन करे ।[4] आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे कहा गया है कि धर्म के विरोध मे न आने वाले सभी सुखो का भोग करना चाहिए इस प्रकार से उसे दोनो लोक मिल जाते है ।[5] भगवद्गीता मे कृष्ण अपने को धर्म विरूद्ध काम के समान कहा है । कौटिल्य ने भी कहा कि धर्म एव अर्थ के अविरोध में काम की तृप्ति करनी चाहिए, बिना आनन्द के जीवन नही बिताना चाहिए । किन्तु अपनी मान्यता के अनुसार कौटिल्य ने अर्थ को ही प्रधानता दी है, क्योंकि अर्थ से ही धर्म एव काम की उत्पत्ति होती है ।[6] कामसूत्रकार वात्स्यायन ने धर्म, अर्थ एव काम

---

[1] दक्ष – 3/22

[2] महाभारत – उद्योग पर्व – 124/34–38
शान्तिपर्व – 167/8–9

[3] गौतधर्म० 9/46–47

[4] याज्ञ० 1/115

[5] आप०धर्म० – 2/8/20/22–23

[6] कौटिल्य – 1/7

की परिभाषा इस प्रकार दी है और क्रम से प्रथम एव द्वितीय को दूसरे एव तीसरे से श्रेष्ठ कहा है । किन्तु राजा के लिए उन्होने अर्थ को सर्व श्रेष्ठ कहा है। धर्मशास्त्रकार आसन्न एव परमलक्ष्यो एव प्रेरणाओ को ही श्रेष्ठतम् माना है । उनके अनुसार उच्चतर जीवन के लिए तन और मन दोनो का अनुशासित होना परम आवश्यक है, इसलिए निम्नतर लक्ष्यो का उच्चतर गुणो एव मूल्यो पर आश्रित हो जाना परम आवश्यक है ।

इस प्रकार यह स्पष्ठ होता है कि धर्मशास्त्रकारो ने नैतिक गुणो को बहुत महत्त्व दिया है और इसके पालन पर विशेष बल भी दिया है । किन्तु धर्म से सीधा सम्बन्ध उनके लिए व्यावहारिक जीवन से था इसलिए उन्होने सामान्य धर्म की अपेक्षा वर्णाश्रम धर्म का विस्तृत वर्णन किया है ।

************

# द्वितीय अध्याय

# धर्मशास्त्र के विविध विषय

# धर्मशास्त्र के विविध विषय

## 1. वर्ण–व्यवस्था

भारत के सामाजिक इतिहास मे वर्ण व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है, जो सामाजिक विभाजन के रूप मे वैदिक काल से आज तक निरन्तर प्रवाहमान है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय समाज का वर्णों मे विभाजन किया गया था। इसका प्रधान आधार रगभेद अथवा प्रजातीय धारणा ही थी। प्रारम्भ मे इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी रूचि और मनस्थिति के अनुसार किसी भी वर्ण को स्वीकार कर सकता था, लेकिन वर्ण व्यवस्था का यह लचीलापन कुछ ही समय बाद उत्तर वैदिककाल मे समाप्त हो गया। समय–समय पर विभिन्न वर्णों मे परस्पर प्रतिस्पर्धा तथा शारीरिक और वाचिक सघर्ष भी होते रहे पर इस सघर्ष से वर्ण व्यवस्था कमजोर नहीं हुई। हिन्दू समाज मे यह व्यवस्था आज भी विद्यमान है। वर्ण व्यवस्था जातिगत वर्ण एव सामाजिक सरचना से सम्बन्धित है। उसमे धर्म का भी समावेश है। वर्ण के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वाभाविक गुणो के अनुरूप स्थान मिलता है। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत कर्म का प्रधान स्थान है तथा प्रत्येक वर्ण का अपना विशिष्ट कर्त्तव्य है।

वर्ण व्यवस्था मे दो प्रधान तत्त्व निहित है एक तो भेदपरक ऊँच–नीच की भावना और दूसरे सभी वर्णों के लिए निर्धारित कर्म। इन्हीं दो तत्त्वो को लेकर वर्ण व्यवस्था का स्वरूप बना। चारो वर्णों के अपने–अपने कर्म वैज्ञानिक और सुविचारित आधार पर निर्धारित किये गये हैं जो समाज के व्यवस्थित विभाजन को व्यक्त करते हैं। व्यक्ति का उद्देश्य बहुमुखी अभ्युत्थान जो उसके गुणानुरूप कर्म से माना गया है। सभी वर्णों के मनुष्यों में समानता है, अन्तर केवल उनके गुण और कर्म का है।

'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत के 'वृञ्वरणे' अथवा 'वरी' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'चुनना' या 'वरण करना'। वर्ण और 'वरण' शब्दो मे साम्य भी है। इसलिए वर्ण से तात्पर्य 'वृत्ति' से है, किसी विशेष व्यवसाय के चुनने से है। समाजशास्त्रीय भाषा मे 'वर्ण' का अर्थ वर्ग से है, जो अपने चुने हुए विशिष्ट व्यवसाय से आबद्ध हैं वर्ण शब्द उस सामाजिक वर्ण की ओर सकेत करता है जिसका समाज मे विशिष्ट कार्य और स्थान है, ऋग्वेद मे कई स्थानों पर वर्ण शब्द का प्रयोग आर्य और दास मे शारीरिक और सास्कृतिक भेद करने के लिए आया हुआ है। यहॉ वर्ण का अर्थ है, रग या प्रकाश।[1] कहीं–कहीं तो यह वर्ण जनगण शब्द के लिए आया है जिनका चर्म काला है या गोरा।[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण मे आया है कि ब्राह्मण दैवी वर्ण है और शूद्र असुर्य वर्ण है।[3] असुर्य वर्ण का अर्थ है शूद्र जाति। ऋग्वेद में आर्यो एव दासो या दस्यु लोगों की अमित्रता के विषय में बहुत से स्थल प्राप्त होते हैं। आर्य दासों के लिए कृष्णत्वक्, कृष्णगर्भ, अनास विशेषण प्रयुक्त करते थे। ऋग्वेद में दासों के लिए मृध्रवाच, अकर्मन्, अयज्वन्, अदेवयु, अब्रह्मन, अव्रत

---

[1] ऋग्वेद – 1/73/7, 2/3/5, 9/97/15 9/104/4, 9/105/4
[2] ऋग्वेद – 2/12/4 एवं 1/179/6
[3] तैत्ति० – 1/2/6

अन्यव्रत शब्द आया है।[1] आर्य वर्ण के लोग सच्चरित्र अच्छे स्वभाव और अच्छे गुणो वाले व्यक्ति का बोध होता है दास वर्ण के लोग दुश्चरित्र अनियमितताओ और अव्यवस्थाओ को उत्पन्न करने वाले थे।

ऋग्वेदीय काल मे ही आर्य और अनार्य या दास दो परस्पर विरोधी दल थे , आर्य एव दस्यु (दास) जो एक दूसरे से चर्म, रग, बोली एव स्वरूप मे भिन्न थे। इस प्रकार प्राचीन काल मे वर्ण शब्द केवल दास एव आर्य से सम्बन्धित था। यद्यपि ब्राह्मण एव क्षत्रिय शब्द ऋग्वेद मे बहुधा प्रयुक्त हुए है किन्तु वर्ण शब्द का सम्बन्ध उनसे नही था। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त मे आया है कि देवताओ ने आदि पुरुष के चार भाग किए, ब्राह्मण उसका मुख था और राजन्य बाहु, वैश्य जघा तथा शूद्र उसके पैर से उत्पन्न हुए।[2] किन्तु यहाँ पर वर्ण शब्द का प्रयोग नही हुआ है। ऋग्वेद मे पुरुष सूक्त को छोडकर कही भी वैश्य एव शूद्र शब्द नही आये है। महाभारत मे भी ऋग्वेद की भाँति वर्णों की उत्पत्ति बताई गयी है केवल अन्तर इतना ही है कि इसमे विराट पुरुष (आदि पुरुष) के स्थान पर ब्रह्म का उल्लेख किया गया है।[3] गीता मे श्रीकृष्ण ने कहा है कि उन्होने चारो वर्णों की सृष्टि गुण और कर्म के आधार पर की है तथा वे ही उनके कर्त्ता और विनाशक है।[4] मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मा ने लोकवृद्धि के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रमश मुख, बाहु, जघा तथा पैरो से उत्पन्न किया।[5] गीता के अनुसार वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के मूल मे गुणो की भी अभिव्यक्ति मानी गयी है। मनुष्य अपने गुणो से महान होता है न कि अपने वश अथवा परिवार से श्रेष्ठ होता है। उसकी आतरिक प्रकृति, विभिन्न प्रवृत्तियॉ और विशेषताएँ गुण को व्यक्त करती हैं। सत्व, रज और तम ये प्रकृतित तीन गुण निर्दिष्ट किए गये हैं।[6] गीता मे आगे यह भी कहा गया है कि सत्व गुण से वास्तविक सुख और ज्ञान का आभास मिलता है अपनी सात्विकता के कारण यह गुण श्रेष्ठतम माना गया है। रजोगुण से प्रेरित होकर मनुष्य अनुरक्त होता हुआ अपने कर्मों को सम्पन्न करता है और तमोगुण से अज्ञान की सृष्टि होती है। जब अज्ञान का प्रभाव होता है तब भ्रम आलस्य, प्रमाद, निद्रा, मोह आदि का उदय होता है इसलिए सत्वगुण सुख का, रजगुण कर्म का और तमस गुण अज्ञान का द्योतक माना गया है।[7] मनुस्मृति मे भी तीन प्रकार के गुणो की चर्चा की गयी है– सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण सत्वगुण ज्ञान समन्वित, रजोगुण रागद्वेष युक्त तथा तमोगुण प्रतिकूल ज्ञान से युक्त है प्रीति से सयुक्त क्लेशरहित और प्रकाशयुक्त लक्षणो से युक्त आत्मा सत्वगुण सम्पन्न मानी गई है।[8] इन गुणो से सम्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण वर्ग का सदस्य माना गया है। सत्व आदि गुणो को और अधिक स्पष्ट करते हुए मनुस्मृतिकार कहते हैं कि सात्विक गुण का लक्षण था, वेदो का अभ्यास, तप, ज्ञान शौच (शुद्धि) इन्द्रिय सयम, धर्म कार्य और आत्मा का चिन्तन ये समस्त लक्षण ब्राह्मण वर्ग के थे। दु खयुक्त, अप्रीतिकारक तथा शरीर का विषयों की ओर आकृष्ट करना रजोगुण समन्वित है। राजसिक

[1] ऋग्वेद – 10/22/8
[2] ऋ0 10/90
[3] महा0शान्ति0 – 122/405
[4] गीता0 4/13
[5] मनु0 – 1/31
[6] गीता – 14/5
[7] गीता – 146/9
[8] मनु0 – 12/24, 12/26, 12/27

गुण के ये लक्षण क्षत्रियो के है। जो मोहयुक्त हो जिसके विषय का आकार अस्पष्ट हो, तर्क शून्य हो तथा दुर्ज्ञेय हो वह तमो गुण माना गया है। लोभ, निद्रा, अधैर्य, क्रूरता, नास्तिकता, नित्यकर्म का त्याग, मॉगने का स्वभाव और प्रमाद से तामस गुण के लक्षण कहे गए है।[1] वर्ण व्यवस्था का यह स्वरूप विभिन्न वर्गों को जन्म दिया। विष्णु पुराण मे भी यह स्पष्ट है कि सत्वगुण से युक्त ब्राह्मण, रजगुण से समन्वित क्षत्रिय, रज और तम गुण से वैश्य तथा केवल तम गुण से शूद्र ब्रह्मा की सन्तान है।[2]

ऋग्वेद मे ब्रह्म, क्षत्र और विश् तीन वर्णों का भी उल्लेख है[3] ब्रह्मशब्द का अर्थ प्रार्थना या स्तुति है। अथर्ववेद मे ब्रह्म शब्द का ब्राह्मण वर्ग के अर्थ मे आया है।[4] ब्रह्म शब्द ब्राह्मणो के लिए प्रयुक्त हो जाना स्वाभाविक ही है क्योकि ब्राह्मण ही स्तुतियो एव प्रार्थनाओ के प्रणेता होते थे। ऋग्वेद मे ब्रह्म और क्षत्र स्तुति एव शक्ति के अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। कही–कहीं यह शब्द ब्राह्मण एव क्षत्रियो के लिए प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद मे यह क्षत्रिय के अर्थ मे प्रयुक्त है।[5] क्षत्रिय वैदिक काल मे जन्म से ही क्षत्रिय थे या नही इसका उत्तर अस्पष्ट है। ऋग्वेद से इस पर कुछ प्रभाव पडता है कि क्षत्रियो एव ब्राह्मणो मे कर्म सम्बन्धी कोई अन्तर नही था। ऋग्वेद की एक ऋचा से यह स्पष्ट है कि इस समय तक व्यवसाय चुनने मे किसी प्रकार का प्रतिबध नहीं था इस ऋचा में एक व्यक्ति कहता है कि मैं कवि हूँ। मेरे पिता एक वैद्य हैं और मेरी माता चक्कियो मे आटा पीसती है। हम लोग विविध क्रियाओ द्वारा धनोपार्जन करना चाहते है।[6] इसी स्थान पर कवि कहता है – हे सोम पान करने वाले इन्द्र, क्या तुम मुझे लोगो का रक्षक बनाओगे या राजा? क्या तुम मुझे सोम पीकर मस्त रहने वाला ऋषि बनाओगे या अनन्त धन दोगे।[7] इससे यह स्पष्ट होता है कि एक ही व्यक्ति ऋषि, भद्रपुरुष या राजा हो सकता था। वैश्य शब्द यद्यपि ऋग्वेद के केवल पुरूष सूक्त मे ही आया है, किन्तु 'विश्' शब्द कई बार प्रयुक्त हुआ है । विश्' का सम्बन्ध जनदल से है । ऋग्वेद मे आया है इन्दु तुम मानवीय झुण्डो एव दैवी झुण्डो के नेता हो ।[8] ऋग्वेद के एक मन्त्र मे विश् सम्पूर्ण आर्य जाति का द्योतक है ।[9] ऋग्वेद मे कहीं विश् इन्द्र की उपाधि, अग्नि की उपाधि तथा कही कही जन एव विश् शब्दो मे विरोध भी है किन्तु विश् पाञ्चजन्य भी कहा गया है ।[10] इससे यह स्पष्ट होता है कि जन एव विश् मे कोई भेद नही है । पञ्चजन शब्द का उल्लेश ऋग्वेद मे कई स्थानो पर हुआ है । अत विश् शब्द ऋग्वेद की सभी स्तृतियो मे वैश्य का बोधक नहीं, अपितृ जन या आर्यजन का द्योतक है । ऋग्वेद में अनार्य या दास जातियों का उल्लेख किया गया है । ये आर्य जाति के लोगो की सेवा करती थी । मनुस्मृति के मतानुसार ब्राह्मणों के दास्य के लिए भगवान् ने शूद्र की उत्पत्ति की । ब्राह्मण ग्रन्थो से भी इस बात की पुष्टि होती है

---

[1] मनु० – 12/31, 12/28, 12/29 12/30
[2] विष्णुपुराण – 1/6/4.5
[3] ऋ०– 8/35/16–18
[4] अथर्व० – 2/15/4
[5] अथर्व० – 5/17/9
[6] ऋग्वेद – 9/11/2/3
[7] ऋ० 3/44/5
[8] ऋ० 3/34/2
[9] ऋ० 8/63/6
[10] ऋ० 5/32'11 9/66/20, 2/26/3

इससे यह स्पष्ट होता है कि आर्यों की भले ही विरोधी रही किन्तु धीर–धीरे उनसे मित्रता स्थापित हो गयी। दासत्व की स्थिति मे होते हुए भी यह वर्ग तत्कालीन जीवन मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती थी । यद्यपि परवर्ती काल मे शूद्रो द्वारा ब्राह्मण को दिया जाने वाला दान अग्राह्य था किन्तु ऋग्वैदिक काल मे यह दान ग्राह्य दान था। बल्भूथ नामक दास ने एक ब्राह्मण को 100 गौ (मुद्राओ आदि के साथ) दान मे दी थी ।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक काल मे चारो वर्णों के मध्य मित्रता थी जन्म का महत्त्व नही था कर्म के आधार पर सामाजिक व्यवस्था का सयोजन हो रहा था । व्यवस्थाओ को अपनाने की स्वतत्रता थी ।

ऋग्वेद एव ब्राह्मणग्रन्थो के अतिरिक्त अन्य सहिताओ से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणो क्षत्रियो एव वैश्यो के कर्त्तव्यो मे विभाजन रेखाएँ स्पष्ट हो गयी थीं। ऋग्वेद मे कहा गया है कि वह राजा जो ब्राह्मण को सर्वप्रथम आदर देता है अपने घर मे सुख से रहता है। ब्राह्मण ऐसे देवता हैं, जिन्हे हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं।[2] अथर्ववेद मे कहा गया है कि ब्राह्मण सभी वर्णों मे सर्वश्रेष्ठ है[3] तैत्तिरीय सहिता मे आया है कि देवताओ के दो प्रकार हैं, देवता तो देवता हैं ही, और ब्राह्मण भी, जो पवित्र ज्ञान का अर्जन करते हैं और उसे पढाते हैं इसलिए मानव देवता है।[4] तैत्तिरीयोपनिषद् मे आया है कि अश्वमेघ के समय ब्राह्मण एव राजन्य दोनो वीणा बजाये, क्योकि धन को ब्राह्मण के यहॉ आनन्द नही मिलता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण के चार विलक्षण गुण ब्राह्मण, प्रतिरूपचर्या, यश एव लोकपक्ति है। जब लोग ब्राह्मण से पढते है या उसके द्वारा पूर्ण होते हैं तो वे उसे चार विशेष अधिकार अची, दान, अज्येयता एव अवध्यता देते है।

क्षत्रियो की स्थिति के बारे मे ऋग्वेद मे कई स्थानो पर राजन् शब्द आया है जिसका अर्थ है बडा या महान या प्रमुख, किन्तु कही–कहीं राजन् राजा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।[5] ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय ही राजा होता था। जब राजा का राज्याभिषेक हो जाता था तो यही समझा जाता था कि एक क्षत्रिय सबका अधिपति, ब्राह्मणों एव धर्म की रक्षा करने वाला उत्पन्न किया गया है।[6] क्षत्रिय को कोई कार्य आरम्भ करने से पूर्व ब्राह्मण के पास जाना चाहिए, ब्राह्मण एव क्षत्रिय के सहयोग से यश मिलता है। शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि राजा के पुरोहित का स्थान बहुत महत्वपूर्ण हो गया। एक ब्राह्मण बिना राजा के रह सकता है, किन्तु एक राजा बिना पुरोहित के नहीं रह सकता है, यहाँ तक कि देवताओ को भी पुरोहित की आवश्यकता होती है।[7] राजा द्वारा ब्राह्मण के अनादर करने की घटनाओ का वर्णन हमें महाभारत एव पुराणो की कुछ गाथाओं से प्राप्त होता है।

वैश्यों के लिए तैत्तिरीय सहिता मे आया है कि पशुओ की कामना करने वाले वैश्य यज्ञ करते थे। जब देवता लोग पराजित हो गय तो वे वैश्य की दशा को प्राप्त हो गये या असुरों के विश् बन गये। मनुष्यों

---

[1] ऋ0 8/46/32
[2] ऋ0 4/50/8
[3] अर्थव0 5/17/19
[4] तै0स0 1/7/3/1
[5] ऋ0 10/42/10, 10/97/6
[6] ऐत0ब्रा0 38/39/3
[7] शत0 ब्रा0 4/1/4/6

मे वैश्य, पशुओ मे गाये अन्य लोगो के उपभोग की वस्तुएँ है, वे भोजन के आधार से उत्पन्न किये गये है, अत वे सख्या मे अधिक है।[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण मे कहा गया है कि वैश्य ऋक्–मन्त्रो से उत्पन्न हुए है। इसके अनुसार क्षत्रिय का उद्गम यजुर्वेद से तथा ब्राह्मण का उद्गम सामवेद से हुआ है। इसी मे यह भी लिखा गया है कि विश् ब्राह्मणो एव क्षत्रियो से पृथक रहते है।[2] ताण्ड्य ब्राह्मण मे आया है कि वैश्य ब्राह्मणो एव क्षत्रियो से निम्न श्रेणी के है।[3] इससे स्पष्ट होता है कि वैश्य यज्ञ कर सकते थे, पशुपालन करते थे, दोनो ऊँची जातियो की अपेक्षा सख्या मे अधिक थे। उन्हे कर देना पडता था, वे ब्राह्मणो एव क्षत्रियो से दूर रहते थे और उनकी आज्ञा का पालन करते थे।

ऋग्वेद मे आर्य लोग काले चर्म वाले लोगो से पृथक कहे गये हैं। आपस्तम्ब एँव बौधायन धर्मसूत्रो मे काले वर्ण को शूद्र कहा गया है।[4] तैत्तिरीय सहिता मे कहा गया है कि जैसे पशुओ मे घोडा होता है, वैसे मनुष्यो मे शूद्र है, अत शूद्र यज्ञ के योग्य नही हैं।[5] वैदिक काल मे शूद्र यज्ञ आदि नही कर सकते थे, वे केवल पालकी ही ढोते थे। शूद्र एक चलता फिरता श्मशान है, उसके समीप वेदाध्ययन नही करना चाहिए, ऐसा श्रुतिवाक्यो मे कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण मे आया है कि उसने ब्राह्मणो को गायत्री के साथ उत्पन्न किया, राजन्य को त्रिष्टुप के साथ और वैश्य को जगती के साथ किन्तु शूद्र को किसी छन्द के साथ नही उत्पन्न किया।[6] ताण्ड्य ब्राह्मण मे आया है कि एक शूद्र भले ही उसके पास बहुत से पशु हो, यज्ञ करने योग्य नही है वह देवहीन है उसके लिए किसी देवता की रचना नही की गयी क्योकि उसकी उत्पत्ति पैरो से हुई है।[7] इससे यह स्पष्ट होता है कि पशुओ से सम्पन्न शूद्र भी द्विजो की पद–पूजा किया करता था। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि शूद्र असत्य हैं, शूद्र श्रम है, किसी दीक्षित व्यक्ति को शूद्र से भाषण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि शूद्र लोग यद्यपि आर्य समाज के अन्तर्गत आ गये थे, किन्तु समाज मे उनका स्थान बहुत नीचा था। उनमे और आर्यों के बीच एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींच दी गयी थी।

वर्ण व्यवस्था ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रणयन समय मे इतनी सुदृढ हो गयी कि यह एक जाति का रूप धारण कर लिया तथा देवताओ को भी जाति मे विभाजन कर दिया गया अग्नि एव वृहस्पति देवता ब्राह्मण के, इन्द्र, वरुण, यम क्षत्रिय के, वसु, रूद्र, विश्वदेव एव मरूत् विश् के तथा पूषा शूद्र के देवता थे। इसी प्रकार यह भी कहा गया कि ब्राह्मण बसन्त ऋतु हैं क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु एव विश् वर्षा ऋतु हैं। वैदिक युग मे जाति व्यवस्था की स्थिति आर्य और अनार्य जाति के रूप स्पष्ट थी। आर्यों के मध्य कार्य विभाजन करने के लिए वर्ण व्यवस्था का नियमन किया गया। वर्ण व्यवस्था का निर्धारण विशुद्ध रग के आधार पर नही किया

---

[1] तै०स० 2/3/7/1, 7/1/1/5
[2] तै०ब्रा० – 3/12/9 1/6/5
[3] ताण्ड्०ब्रा० – 6/1/10
[4] आप०ध०सू० – 1/9/27/11, बौ० ध०सू० – 2/1/59
[5] तैत्ति० सं० – 7/1/1/6
[6] ऐत० ब्रा० – 5/12
[7] ताण्ड० ब्रा० – 6/1/11

गया क्योकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तो लगभग एक ही रग के थे। वर्ण व्यवस्था का मुख्य आधार कार्यक्षमता तथा कुशलता ही था। अनार्य वर्ण व्यवस्था से बाहर थे। इस प्रकार जाति प्रथा का विकास आर्य और अनार्य जाति से प्रारम्भ हुआ। आर्यों के चारो वर्ण एक आर्य जाति के माने गये थे भले ही शूद्र अपवित्र माने गये परन्तु आर्यों ने उन्हे अपनी वर्ण व्यवस्था मे स्थान दिया था। क्योकि अनेक शूद्रो ने तो अपने कर्म द्वारा ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया था। बाद मे वर्णों द्वारा अनेक व्यवसाय अपनाने के कारण उनको पहचानना मुश्किल होने लगा इसलिए अपनी श्रेष्ठता या अस्तित्व बनाये रखने के लिए प्रत्येक वर्ण अपने को जाति मान बैठा।

जाति शब्द सस्कृत की 'जन्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। व्याकरण के अनुसार जाति वह है जो आकृति द्वारा पहचान ली जाये, सब लोगो के साथ बदल न जाये और एक बार बतलाने से जान ली जाये।[1] गौतम तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे जाति शब्द का उल्लेख पृथक् जनसमुदाय के अर्थ मे किया गया है।[2] मनु ने भी जाति शब्द प्रयोग द्विजाति और हीन जाति के लिए किया है।[3] तथा ब्राह्मण के लिए भी जाति शब्द का व्यवहार किया है।[4]

चारो वर्णों के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यवसाय एव शिल्प से सम्बन्धित वर्ग थे जो कालान्तर मे जाति सूचक हो गये। ऋग्वेद मे वाप्ता (नाई), त्वष्टा (बढई), भिषक् (वैद्य), कर्मार (लोहार), चर्मम्न (चमार)।[5] अथर्ववेद मे इनके अतिरिक्त रथकार, कर्मार तथा सूत का उल्लेख हुआ है।[6] तैत्तरीय सहिता मे कुलाल (कुम्हार), पुजिष्ठ (व्याध), निषाद (नाव चलाने वाला), इषुकृत् (वाण बनाने वाला), तक्षा (बढई, रथकार), धन्वकृत (धनुषनिर्माता) आदि विभिन्न व्यावसायिको के नाम मिलते हैं।[7] इस प्रकार व्यवसाय एव शिल्प से सम्बन्धित यह वर्ग जातियो के निर्माण कार्य को प्रारम्भ किया। मनुस्मृति मे पौण्ड्रको, ओड्रो, द्रविडो, कम्बोजो, यवनो, शकों, परदो, पहल्वो, चीनो, किरातो, दरदो एव खशो को क्षत्रिय माना है और कहा, कि वे वैदिक सस्कारों के न करने से एव ब्राह्मणों के सम्बन्ध से दूर रहने पर शूद्रो की श्रेणी मे आ गये।[8] मनु के अनुसार चारो वर्णों के अतिरिक्त अन्य जातियॉ शूद्र हैं चाहे वे आर्यों या मलेच्छो की भाषा बोलती हो।

वर्ण और जाति दोनो शब्दो का प्रयोग लगभग समान अर्थ में होता रहा है। किन्तु कभी–कभी दोनो के अर्थों मे अन्तर भी पाया जाता रहा है। वर्ण की धारणा वश, चरित्र, सस्कृति एव व्यवसाय पर मूलत आधारित है। इसमें व्यक्ति की नैतिक एव बौद्धिक योग्यता का समावेश होता है। स्मृतियो मे भी वर्णो का आदर्श कर्त्तव्यो पर, समाज या वर्ग के उच्च्य मापदण्ड पर बल देना, न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों एव विशेषाधिकारो पर बल देना। किन्तु इसके विपरीत जाति व्यवस्था जन्म एव आनुवशिकता पर बल देती है और बिना कर्त्तव्यो

---

[1] सिद्धान्त कौमुदी (स्त्री प्रत्यय)
[2] गौ०ध०सू० – 11/30, आप०ध०सू० 2/3/1
[3] मनु० – 3/15
[4] मनु० – 8/20
[5] ऋग्वेद – 10/142/4, 8/102/8, 9/112/1–3, 10/72/2, 8/5/38
[6] अथर्ववेद – 3/5/6, 3/5/6, 3/5/7
[7] तैत्ति० सं० 4/5/4/2
[8] मनु० 10/43–45

के आचरणो पर बल दिये केवल विशेषाधिकारो पर ही आधारित है। मनु ने वर्ण शब्द को मिश्रित जातियो के अर्थ मे प्रयुक्त किया है और कही इसका प्रयोग जाति अर्थ मे भी किया है।[1]

समाज मे चार वर्णों के अतिरिक्त अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहो के परिणामस्वरूप अनेक वर्ण सकर जातियॉ बन गई थी। जब एक उच्च वर्ण या जाति का व्यक्ति अपने से निम्न जाति की स्त्री से विवाह करता है तो उसे अनुलोम विवाह कहा जाता है किन्तु जब किसी उच्च जाति की स्त्री का विवाह किसी निम्न जाति या वर्ण के पुरुष से होता है तो इसे प्रतिलोग विवाह कहा जाता है। मनु के अनुसार वर्णसकर मिश्रित जातियो का सूचक है किन्तु उन्होने सकर शब्द वर्णों के मिश्रण के अर्थ मे प्रयुक्त किया है।[2] गौतम धर्म सूत्र मे भी सकर शब्द का प्रयोग किया गया है। ब्राह्मण एव राजन्य पर सौख्य रक्षण, वर्णसकरता, गुणो का होना निर्भर करता है।[3] नारद का कहना है कि प्रतिलोम जन्म से वर्णसकर होता है। बौधायन धर्म सूत्र के अनुसार जो वर्ण सकर है वे व्रात्य है।[4] मिताक्षरा के अनुसार अनुलोम एव प्रतिलोम की सताने वर्ण सकर होती हैं।[5] मेघातिथि ने मनुस्मृति को उद्धृत करते हुए कहा कि सकर जात शब्द 'आयोगव' की भॉति प्रतिलोम का द्योतक है यद्यपि अनुलोम मे वर्ण सकरता पायी जाती है, किन्तु वे अपनी माता की जाति के विशेषाधिकारो को प्राप्त कर लेते हैं।[6] गीता के अनुसार जब नारियॉ व्यभिचारिणी हो जाती हैं तो वर्णसकरता उत्पन्न होती है।[7] स्मृतिकारो ने वर्णसकरता को रोकने के लिए राजा से दण्डित करने को उद्‌बोधित किया है। याज्ञवल्क्य तथा गौतम धर्मसूत्र मे कहा गया है कि शास्त्रो के नियमो के अनुसार राजा को वर्णों एव आश्रमो की रक्षा करनी चाहिए और जब ये (वर्णाश्रम) अपने कर्त्तव्यो से च्युत होने लगे तो उन्हे ऐसा करने से रोका जाय।[8]

जाति व्यवस्था मे शिथिलता के लिए जात्युत्कर्ष एव जात्यपकर्ष नामक एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। मनु के अनुसार जब कोई ब्राह्मण किसी शूद्र नारी से विवाह करता है तो उससे उत्पन्न कन्या पारशव कहलाती है और यदि वह पारशव लडकी किसी ब्राह्मण से विवाहित होती है और पुन इस सम्मिलन से उत्पन्न लडकी किसी ब्राह्मण से विवाहित होती है तो इस प्रकार सातवीं पीढी ब्राह्मण होगी, अर्थात् जात्युत्कर्ष होगा। इसके विपरीत यदि कोई ब्राह्मण किसी शूद्रा से विवाह करता है और पुत्र उत्पन्न होता है तो वह पुत्र पारशव कहलायेगा और जब वह पारशव पुत्र किसी शूद्रा से विवाहित होता है और उसका पुत्र भी वैसा करता है तो सातवीं पीढी में पुत्र केवल शूद्र हो जाता है। इसे जात्यपकर्ष कहा जाता है।[9] गौतम ने कहा है कि आचार्यों के अनुसार अनुलोम लोग जब इस प्रकार विवाह करते हैं कि प्रत्येक स्तर मे जब वर जाति स्त्री से उच्चतर या निम्नतर होता है तो वे सातवीं या पॉचवीं पीढ़ी में उपर उठते हैं तो इसे जात्युकर्ष,

[1] मनु० 10/27–31, 3/15, 8/177, 9/86
[2] मनु० – 10/12–24, 10/40 5/89
[3] गौ०ध०सू० – 8/3
[4] बौधा०ध०सू० – 1/9/16
[5] मिताक्षरा (याज्ञ० 1/96)
[6] मनु० 5/88
[7] गीता० 1/41–43
[8] याज्ञ० 1/361, गौत० 11/9–11, वसि० 19/7–8, विष्णु० 3/3 मनु० 10/61
[9] मनु० 10/64

जब नीचे जाते है तो जात्यपकर्ष कहते है।[1] याज्ञवल्क्य के अनुसार जात्युत्कर्ष एव जात्यपकर्ष के दो प्रकार है जिनमे एक तो विवाह से उत्पन्न होता है और दूसरा व्यवसाय से होता है सातवी एव पॉचवी पीढी मे जात्युत्कर्ष होता है यदि व्यवसाय मे विपरीतता पायी जाती है तो उसमे भी वर्ण के समान ही सातवी एव पॉचवी पीढी मे जात्युत्कर्ष पाया जाता है।[2] मेघातिथि ने इस प्रकार व्याख्या की है– यदि कोई ब्राह्मण शूद्र से विवाह करे और उससे कन्या उत्पन्न हो तो वह कन्या निषादी कही जायेगी, यदि वह निषादी एक ब्राह्मण से विवाहित होती है और पुत्री उत्पन्न करती है और वह पुत्री एक ब्राह्मण से विवाहित होती है और यह क्रम छह पीढियो तक चला जाता है तो छठी का बच्चा सातवी पीढी मे आकर ब्राह्मण हो जाता है। इसी प्रकार यदि कोई ब्राह्मण किसी वैश्य नारी से विवाह करता है, तो उससे जो कन्या उत्पन्न होगी व अम्बष्ठा कहलायेगी औद यदि यह अम्बष्ठा कन्या किसी ब्राह्मण से विवाहित होती है तो इस क्रम से चलकर छठी पीढी से जो सन्तान होगी वह ब्राह्मण कहलायेगी। यदि कोई ब्राह्मण किसी क्षत्रिय नारी से विवाह करे और पुत्री उत्पन्न हो तो वह मूर्धावसिक्त कहलायेगी, और यदि वह मूर्धावसिक्त कन्या किसी ब्राह्मण से विवाहित होती है तो पॉचवी पीढी इसी क्रम से जो सन्तान होगी वह ब्राह्मण होगी। इसी प्रकार यदि कोई क्षत्रिय किसी शूद्रा से विवाहित होता है तो उससे उत्पन्न कन्या उग्र कहलायेगी, और यदि वह क्षत्रिय से विवाह करे तो जात्युत्कर्ष छठी पीढी मे हो जायेगा। यदि कोई क्षत्रिय वैश्य नारी से विवाहित होता है तो उससे उत्पन्न कन्या माहिष्या कहलायेगी और जात्युत्कर्ष पॉचवी पीढी मे होगा। यदि कोई वैश्य शूद्र से विवाह करे तो उससे उत्पन्न कन्या करणी कहलायेगी और यदि वह वैश्य से विवाह करे तो पॉचवीं पीढी मे जात्युत्कर्ष हो जायेगा। वसिष्ठ धर्म सूत्र मे कहा गया है कि चारो वर्णों के लिए कुछ–न–कुछ विशिष्ट वृत्तियॉ या अपने व्यवसाय निर्धारित हैं। आपत्काल मे एक वर्ण अपने निकट नीच के वर्ण का व्यवसाय कर सकता है, किन्तु अपने से ऊॅचे वर्ण का व्यवसाय वर्जित है आपत्ति काल के हट जाने पर पुन अपनी वृत्ति मे लौट आना चाहिए।[3] बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार यदि कोई निषाद (एक ब्राह्मण का उसकी शूद्र नारी से उत्पन्न पुत्र) किसी निषादी से विवाह करता है और यह क्रम चलता रहता है तो पॉचवीं पीढ़ी शूद्र की गर्हित स्थिति से छुटकारा पा लेती है और सन्तानों का उपनयन सस्कार हो सकता है यहॉ जात्युत्कर्ष का दूसरा ही उदाहरण हमे प्राप्त होता है।[4]

धर्मशास्त्रो से ज्ञात होता है कि व्यवसाय सम्बन्धी जातियॉ व्यवस्थित एव धनी थीं। इस सम्बन्ध मे श्रेणी, पूग, गण, व्रात एव सघ शब्द प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य मे भी ये शब्द आये हैं यहॉ इनका सामान्य अर्थ दल अथवा वर्ग है। वसिष्ठ ने श्रेणी एव विष्णु ने गण का प्रयोग सगठित समाज के अर्थ मे किया है।[5]

---

[1] गौतम० 4/18/19
[2] याज्ञ० 1/96, 1/91
[3] वसिष्ठ – 2/22–23
[4] बौ०ध०सू० – 18/13–14
[5] वसि०ध०सू० – 16/15, विष्णुधर्म सूत्र० – 5/167

मनु ने सघ का प्रयोग इसी अर्थ मे किया है।[1] कात्यायन के अनुसार नैगम एक ही नगर के नागरिको का एक समुदाय है , व्रात विविध अस्त्रधारी सैनिको का एक झुड है , पूग व्यापारियो का एक समुदाय है , गण ब्राह्मणो का एक दल है, सघ बौद्धो एव जैनो का एक समाज है , तथा गुल्म चाण्डालो एव श्वपचो का एक समूह है। याज्ञवल्क्य ने ऐसे कुलो, जातियो, श्रेणियो एव गणो को दण्डित करने को कहा है जो अपने आचार या व्यवहार से च्युत होते है।[2] याज्ञवल्क्य ने श्रेणी, नैगम, पूग, व्रात, गण के नाम तथा परम्परा से चले आये हुए व्यवसायो की ओर स्पष्ट सकेत किया है, और यह भी कहा है कि पूगो एव श्रेणियो को झगडो के अन्वेषण करने का पूर्ण अधिकार है और इस विषय मे पूग को श्रेणी से उच्च स्थान प्राप्त है।[3]

स्मृति तथा धर्मशास्त्र ग्रन्थो मे जातियो की सूची प्राप्त होती है इनमे से कुछ जातियो को उद्धृत करना इसलिए आवश्यक है क्योकि आज भी ये जातियॉ ज्यो की त्यो पायी जाती है।

अन्ध्र– मनु के अनुसार अन्ध्र जाति वैदेहक पिता एव कार्वावर माता से उत्पन्न एक उपजाति थी और गॉव के बाहर रहती, जगली पशुओ को मारकर अपनी जीविका चलाती थी।[4]

अन्त्य– इस शब्द को चाण्डाल ऐसी निम्नतम जातियो का नाम उल्लिखित किया है ऐसा स्मृति तथा धर्मसूत्र मे आया है।[5]

अन्त्यज– चाण्डाल आदि निम्नतम जातियो के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है मनु ने इसे शूद्र के लिए प्रयुक्त किया है। व्यासस्मृति मे चर्मकार, भट, भिल्ल, रजक, पुष्कर, नट, विराट, चाण्डाल, दाश, श्वपच, कोलिक नामक अन्त्यजो के लिए नाम आये है।[6]

अन्तावसायी या अन्त्यावसायी– मनु ने अन्त्यो एव अन्त्यावसामियो को अलग–अलग लिखा है और अन्त्यावसायी को चाण्डाल पुरुष एव निषाद स्त्री की सन्तान कहा है।[7]

अम्बष्ठ– इसे भृज्जकण्ठ भी कहा जाता है। याज्ञवल्क्य ने अम्बष्ठ को ब्राह्मण एव वैश्य नारी की अनुलोम सन्तान कहा गया है।[8] मनु ने अम्बष्ठो के लिए दवा–दारू का व्यवसाय बताया है।[9]

आभीर– मनु के अनुसार यह एक ब्राह्मण एव अम्बष्ठ कन्या की सन्तान है।[10]

आयोगव– यह शूद्र पुरुष तथा वैश्य स्त्री से उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है ऐसा धर्मसूत्रों एव स्मृतियो मे आया है।[11] किन्तु बौधायन इस मत को नहीं मानते हैं उनके अनुसार इस जाति की उत्पत्ति वैश्य पुरुष

---

[1] मनु० – 8/219
[2] याज्ञ० – 1/361
[3] याज्ञ० – 2/192, 2/30
[4] मनु० – 10/36
[5] मनु० – 4/79, 8/68, याज्ञ०– 1/148–197, वसि० – 16/30, आप० 3/1
[6] मनु० 8/279, व्यासस्मृति – 1/12–13
[7] मनु० 4/79, 10/39
[8] याज्ञ० 1/91, मनु० 10/8, बौधा० 1/9/3
[9] मनु० 10/47
[10] मनु० 10/15
[11] याज्ञ० 1/94, गौ० 4/15, विष्णु० 16/4, मनु० 10/12

और क्षत्रिय स्त्री से हुई थी।[1] मनु के अनुसार आयोगव की वृत्ति लकडी काटना है।[2] उशना के अनुसार यह जुलाहा है या ताम्रकास्यकार है या धान उत्पन्न करने वाला है या कपडे का व्यापारी है।

आहिण्डिक— मनु ने इसे निषाद पुरुष एव वैदेही नारी की सन्तान कहा है अर्थात् दोहरी प्रतिलोम जाति का है। मनु ने इसे चर्मकार का कार्य करने के कारण कारावर कहा है।[3]

उग्र— यह क्षत्रिय पुरुष एव शूद्र नारी से उत्पन्न अनुलोम सन्तान है। स्मृतिकारो तथा धर्म सूत्रकारो का ऐसा कथन है।[4] मनु के अनुसार उग्र विलो मे रहने वाले जीवो को मारकर खाने वाले मनुष्य है।[5]

करण— गौतम एव याज्ञवल्क्य के अनुसार वैश्य पति एव शूद्र पत्नी का अनुलोम पुत्र है।[6] मनु के अनुसार एक क्षत्रिय व्रात्य (जिसका उपनय सस्कार नही हुआ है) का उसी प्रकार की नारी से जब सम्बन्ध होता है तो उसकी सन्तान को झल्ल, मल्ल, निच्चिवि, नट, करण, खश, द्रविड कहते हैं।[7]

कायस्थ— कायस्थ जाति के लोग मूल रूप से राजकीय सेवा से सम्बद्ध रहे हैं। याज्ञवल्क्य सर्वप्रथम उल्लेख लेखक के रूप मे किया है।[8]

कारावर— मनु के अनुसार य जाति निषाद एव वैदेही नारी से उत्पन्न हुई है चर्मकारो का व्यवसाय इसकी वृत्ति है।[9]

कारूष— मनु के अनुसार इसकी उत्पत्ति व्रात्य वैश्य एव उसी के समान नारी के सम्मिलन से होती है इस जाति को सुधन्वाचार्य, विजन्यन, मैत्र एव सात्वत भी कहते हैं।[10]

किरात— व्यास ने इसे शूद्र की एक उपशाखा माना है मनु ने इन्हे शूद्र की स्थिति मे आया हुआ क्षत्रिय माना है।[11]

कृत— गौतम के अनुसार वैश्य एव ब्राह्मणी की सन्तान कृत है किन्तु याज्ञवल्क्य के मत में इस जाति को वैदेहक कहा जाता है।[12]

कैवर्त— मनु ने कैवर्त को निषाद एव आयोगव की सन्तान माना है इसके साथ ही मनु ने मार्गव एव दास भी कहा है। कैवर्त लोग नौका वृत्ति करते थे।[13]

क्षता— मनु, याज्ञवल्क्य एव नारद ने इन्हे शूद्र पिता एव क्षत्रिय माता की प्रतिलोम सतान कहा है।[1] मनु ने इनके लिए उग्र एव पुल्कस की वृत्ति की व्यवस्था करते हैं।

---

[1] बौध0 1/9/7
[2] मनु0 10/48
[3] मनु0 10/27, 10/36
[4] बौध0 1/95, मनु0 10/9, याज्ञ0 1/92
[5] मनु0 10/49
[6] याज्ञ0 1/92, गौ0 4/17
[7] मनु0 10/22
[8] याज्ञ0 1/322
[9] मनु0 10/36
[10] मनु0 10/23
[11] व्यास0 1/10–11, मनु0 10/43–44
[12] गौ0ध0सू0 – 4/15, याज्ञ0 1/93
[13] मनु0 – 10/34

गोप– याज्ञवल्क्य ने कहा है कि गोप–पत्नियो का ऋण उनके पतियो द्वारा दिया जाना चाहिए, क्योकि उनका पेशा एव कमाई इन स्त्रियो पर निर्भर होती है।[2]

चाण्डाल– स्मृतियो तथा धर्मसूत्रो मे इसे शूद्र द्वारा ब्राह्मणी से उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान को कहा गया है।[3] मनु ने इसे निम्नतम मनुष्य माना है।[4] याज्ञवल्क्य ने सर्वप्रथम बहिष्कृत घोषित किया है। इन्हे कुत्तो एव कौओ की श्रेणी मे रखा गया है।[5] फाहियान ने चाण्डालो के विषय मे लिखा है कि जब वे नगर या बाजार मे घुसते थे तो लकडी के किसी टुकडे (डडे) से ध्वनि उत्पन्न करते चलते थे, जिससे लोगो को उनके प्रवेश की सूचना मिल जाय और स्पर्श न हो सके।[6]

धिग्वण– मनु के अनुसार यह ब्राह्मण पुरुष और आयोगव नारी की सन्तान है। यह जाति चमडे का व्यवसाय करती थी जाति विवेक मे इसे मोचीकार कहा गया है।[7]

निषाद– ब्राह्मण पुरुष एव शूद्र स्त्री से उत्पन्न अनुलोम सन्तान कहा गया है इसका दूसरा नाम पारशव है। ऐसा धर्मशास्त्रकारो तथा स्मृतिकारो की मान्यता है।[8]

पुल्कस (पौल्कस)– मनु तथा बौधायन के अनुसार यह निषाद पुरुष एव शूद्र नारी की सन्तान है[9] सूतसहिता एव वैखानस मे यह शराब बनाने और बेचने वाला कहा गया है।[10]

मद्गु– मनु के अनुसार य जगली पशुओ को मारकर अपनी जीविका चलाता है। कुल्लूक ने मनु के इस कथन की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह ब्राह्मण एव वन्दी नारी की सन्तान है।[11]

मागध– मनु तथा याज्ञवल्क्य ने इन्हे वैश्य पुरुष एव क्षत्रिय नारी की प्रतिलोम सन्तान कहा है मनु ने कहा है कि ये स्थलमार्ग के व्यापारी थे।[12] किन्तु गौतम ने इसे वैश्य पुरुष एव ब्राह्मणी की सन्तान माना है।[13] बौधायन ने इसे शूद्र पुरुष एव क्षत्रिय नारी की सन्तान माना है।[14]

मूर्धावसिक्त– याज्ञवल्क्य एव गौतम के अनुसार यह ब्राह्मण पुरुष एव क्षत्रिय नारी से उत्पन्न अनुलोम जाति है।[15] वैखानस ने ब्राह्मण पुरुष एव क्षत्रिय नारी की वैध सन्तान को सर्वोत्तम अनुलोम माना है और उनके गुप्त प्रेम से उत्पन्न अर्थात् अवैध सन्तान को अभिषिक्त माना है। यदि राज्याभिषेक हो जाय तो

---

[1] मनु0 10/12 याज्ञ0 1/94, नारद (स्त्रीपुंस 112)
[2] याज्ञ0 2/48
[3] गौत0 4/15–16, वसिष्ठ0 18/1, बौधा0 9/7, मनु0 10/12 याज्ञ0 1/93
[4] मनु0 10/12
[5] याज्ञवल्क्य0– 1/93
[6] फाहियान – 405–411 ई0
[7] मनु0 10/15 10/49
[8] बौधा0 1/9/3, वसि0 18/8, मनु0 10/8, याज्ञ0 1/91
[9] मनु0 10/18, बौधा0 1/9/14
[10] वैखानस – 10/14
[11] मनु0 10/48
[12] मनु0 10/11, याज्ञ0 1/93
[13] गौ0ध0सू0 – 4/16
[14] बौधा0 – 1/9/7
[15] याज्ञ0 1/91, गौत0 4/17

वह राजा हो सकता है, नही तो आयुर्वेद, भूत–प्रेत विद्या, ज्योतिष, गणित आदि से अपनी जीविका चलाता है।[1]

मैत्रेयक– मनु के अनुसार यह वैदेहक पुरुष एव आयोगव नारी की सन्तान है। इसकी जीविका है राजाओ एव बडे लोगो की स्तुति करना एव प्रातःकाल घण्टी बजाना।[2] जातिविवेक ने इसे ढोकनकार कहा है।

यवन– गौतम के अनुसार यह शूद्र पुरुष एव क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न प्रतिलोम जाति है।[3] मनु ने यवनो की शूद्रो की स्थिति मे पतित क्षत्रिय माना है।[4]

वेण (वैण)– मनु एव बौधायन के अनुसार यह वैदेहक पुरुष एव अम्बष्ठ नारी की सन्तान है। मनु ने इसे बाजा बजाने वाला कहा है।[5]

वैदेहक– मनु, बौधायन, विष्णु, नारद तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार यह वैश्य पुरुष एव ब्राह्मण नारी की प्रतिलोम सन्तान है।[6] किन्तु गौतम ने शूद्र पुरुष एव क्षत्रिय नारी की सन्तान माना है।[7] मनु के अनुसार इनका व्यवसाय है अन्तःपुर की स्त्रियो की रक्षा करना।[8]

शैलूष– विष्णुधर्मसूत्र एव मनु ने इसे रगावतारी से भिन्न एव ब्रह्मपुराण ने इसे नटो के लिए जीविका खोजने वाला कहा है।[9] याज्ञवल्क्य तथा आपस्तम्ब ने इसे रजक एव व्याध की श्रेणी मे रखा है।[10]

श्वपचया श्वपाक– मनु ने इसे क्षतापुरुष एव उग्र नारी से उत्पन्न सन्तान माना है और यह भी कहा कि चाण्डाल एव श्वपच एक ही व्यवसाय करते थे ये नगरो की सफाई करते थे तथा श्मशान मे रहते थे।[11]

सोपाक– मनु के अनुसार यह चाण्डाल पुरुष एव पुक्कस नारी की सन्तान है[12] यह राजा से दण्डित लोगों को फॉसी देते समय जल्लाद का कार्य करता है।

सूत– यह क्षत्रिय पुरुष एव ब्राह्मण नारी की प्रतिलोम सन्तान है। ऐसा सभी स्मृतिकार तथा सूतकार मानते हैं।[13] मनु के अनुसार इनका प्रधान कर्म रथ हॉकना, अर्थात् घोडा जोतना, खोलना आदि था।[14]

---

[1] वैखानस – 10/12
[2] मनु0 10/23
[3] गौत0 4/17
[4] मनु0 10/43–44
[5] मनु0 10/19, 10/49, बौधा0 1/9/13
[6] मनु0 10/11–13 17, बौध0 1/9/8, विष्णु0 16/6, नारद (स्त्रीपुंस 111), याज्ञ0 1/93
[7] गौ0ध0सू0 – 4/15
[8] मनु0 10/47
[9] विष्णु0 51/13, मनु0 4/214
[10] याज्ञ0 2/48, आप0 9/38
[11] मनु0 10/51, 55–56
[12] मनु0 10/38
[13] गौ0 4/15, बौधा0 1/9/9, वसि0 18/6, कौटिल्य 3/7 मनु0 10/11, विष्णु 16/6, याज्ञ0 1/93, नारद–110,
[14] मनु0 10/47

वैखानस एव सूतसहिता मे स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि सूत एव रथकार मे अन्तर है जिनमे सूत तो वैध विवाह की सन्तान हैं, किन्तु रथकार क्षत्रिय पुरुष एव ब्राह्मण नारी के गुप्त प्रेम की सन्तान है।[1]

स्मृतियो मे वर्णित की गयी कुछ जातियॉ यथा अम्बष्ठ, मागध, मल्ल एव वैदेहक प्रदेशो से सम्बन्धित थी तथा कुछ जातियॉ आभीर, किरात एव शक नामक विशिष्ट जातियो पर आधारित थी। गौतम ने आत्मा के आठ गुणों को परम गौरव माना है तथापि जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था सभी युगो मे बलवती बनी रही और कुछ आचार्यो ने जाति एव चरित्र मे जाति को ही महत्ता दी है।

## 2. वर्णो के कर्त्तव्य,अयोग्यताएं एवं विशेषाधिकारः

ऋगवैदिक काल मे जो वर्णव्यवस्था कर्म प्रधान थी तथा कर्म की श्रेष्ठता प्राप्त करना ही इसका उद्देश्य था धीरे–धीरे इसमे कठोरता आती गयी और इन चारो वर्णो का कर्म सकुचित सीमा द्वारा बन्द कर दिया गया तथा समय के साथ यह वर्णव्यवस्था कर्म के स्थान पर जन्म प्रधान हो गयी। वर्ण व्यवस्था के क्रम मे ब्राह्मण वर्ण सर्वोच्च स्थान पर था राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक तथा आर्थिक क्षेत्रो मे ब्राह्मण को विशेषाधिकार प्राप्त थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे उसे दिव्य वर्ण का उल्लिखित किया गया था।[2] तैत्तिरीय सहिता एव आरण्यक के अनुसार समस्त देवता उसमे निवास करते थे, इसलिए उसे देवता माना गया था।[3] अथर्ववेद के अनुसार उसकी सुविधाओ का सर्वदा ध्यान रखा जाता था समाज मे उसे कष्ट मिलने पर जल मे टूटी हुई नाव की तरह राजा का राज्य विनष्ट हो जाता था।[4] स्मृतियों एव धर्मसूत्रों में वेद पढना, वेद पढाना, यज्ञ करना और करवाना, दान देना तथा दान लेना ये ब्राह्मणों के स्वधर्म के अन्तर्गत प्रधान कर्म थे जो वैदिक युग से उनके साथ सम्बद्ध थे।[5] ब्राह्मण से त्याग, कर्त्तव्य परायणता, साधना और बौद्धिक श्रेष्ठता की अपेक्षा की जाती थी। वह राज्य और समाज के हित के लिए धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करता था तथा साधना और तपश्चर्या द्वारा समाज का मार्ग निर्देशन करता था। ब्राह्मणों को अनेक विशेष सुविधाए प्राप्त थीं। पुरोहित के रूप मे वह राजा को महत्वपूर्ण परामर्श देता था। राज्याभिषेक के समय वह राजा को प्रजा और राज्य के प्रति कर्त्तव्यपरायणता का आदेश देता था। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि हे मनुष्यों ! यह व्यक्ति तुम्हारा राजा है। ब्राह्मणों का राजा सोम है।[6] इससे यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण राजा पर आश्रित नहीं था बल्कि उसके बिना तो राजा का अभिषेक हो पाना कठिन था। महाभारत काल में भी वह राजा का प्रधान परामर्शदाता था तथा अपनी समुचित सलाह से प्रशासन में उसे मार्ग दर्शन करता था। राजा के योगक्षेम पुरोहित के अधीन माना जाता था।[7] मनु ने भी राजा के मंत्रियों में एक ब्राह्मण मत्री नियुक्त करने

---

[1] वैखानस – 10/13
[2] तैत्ति० ब्रा० 1/2/6
[3] तैत्ति० सं० 1/7/31, तैत्ति०आ० 2/15
[4] अथर्व० 5/19/8/15
[5] मनु० – 1/88, याज्ञ० 5/188, अर्थशास्त्र – 1/3, बौ०ध०सू० 10/1.2, बौ०ध०सू० – 110/18/2
[6] शत०ब्रा० – 11/5/7/1
[7] महा०शान्ति० – 74/1

का उल्लेख किया है जो राज–प्रशासन मे सहायक होता था। राजा उन मत्रियो मे से विद्वान धर्मादि युक्त विशिष्ट एक ब्राह्मण मत्री के साथ षड्गुण से युक्त श्रेष्ठ मन्त्र की मत्रणा करता था तथा उस पर पूर्ण विश्वास कर उसे सब कार्य सौंप देता था एव उससे परामर्श और निश्चय कर राजधर्म आरम्भ करता था। राजा के न्याय प्रदान करने मे भी वह अपना योग प्रदान करता था। इसके साथ ही साथ यदि राजा स्वय विवादो का न्याय नहीं कर पाता था तो वह उस कार्य को देखने के लिए ब्राह्मण की नियुक्ति करता था। वह ब्राह्मण न्यायालय मे अन्य सदस्यो के साथ कार्यो को देखता था तथा विवादो के निर्णय करने मे सहायक होता था।[1]

ब्राह्मण ही समाज का बौद्धिक और आध्यात्मिक ज्ञान का नेता था। वह बौद्धिक ज्ञान मे सर्वश्रेष्ठ था। वैदिक काल मे भी ब्राह्मण एव विधा मे अभेद्य सम्बन्ध था। ब्रह्मविद्या में ब्राह्मणो ने विशिष्ट गति प्राप्त की थी। इसलिए जो वेदो का ज्ञाता और आर्षेय था वही ब्राह्मण ऋषि था। द्विजों को शिक्षा देना और आध्यात्मिक ज्ञान करने का दायित्व उसी पर था। ब्रह्मवर्चसम् की प्राप्ति के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार स्वाध्याय ही माना गया था। इसीलिए स्वाध्याय और अध्यापन ब्राह्मण का सर्वोच्च तप कहा गया था।[2] पतञ्जलि के महाभाष्य मे आया है कि ब्राह्मणो को बिना किसी कारण के धर्म, वेद एव वेदागो का अध्ययन करना चाहिए।[3] मनु के अनुसार ब्राह्मणों के लिए वेदाध्ययन परमावश्यक है क्योकि यह परमोच्च धर्म है।[4] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि विधाता ने ब्राह्मणो को वेदों की रक्षा के लिए देवो एव पितरो की तुष्टि तथा धर्म की रक्षा के लिए उत्पन्न किया है।[5] अध्यापन कार्य पर ब्राह्मण का एकाधिकार था वह अपनी शिक्षा और अध्यापन से समाज को बौद्धिक क्षेत्र में अग्रणी करता था। निरुक्त मे कहा गया है कि विद्या ब्राह्मणों के पास आयी और सम्पत्ति के समान अपनी रक्षा के लिए उसने प्रार्थना की।[6] समस्त द्विज वर्ग को अपनी शिक्षा और विद्या से वह पारगत करता था इसलिए श्रोत्रिय होने का अधिकारी वही था। मनु के अनुसार ब्राह्मण मूर्ख होने पर भी देवता के समान था।[7] ब्राह्मण के ही विषय में मनु अन्यत्र कहते हैं कि जाति की विशिष्टता, उत्पत्ति स्थान की श्रेष्ठता, श्रुति स्मृतिविहित आचरण तथा यज्ञोपवीत सस्कार आदि की श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण सभी वर्णो का स्वामी था।[8] मनु ने ब्राह्मण के विषय में और स्पष्ट करते हुए कहा कि निन्दित कर्म करने वाला ब्राह्मण भी जन्म के आधार पर देवता के समान पूज्य है। तथा एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी किसी अब्राह्मण गुरु के यहाँ ठहर नहीं सकता, भले ही वह किसी शूद्र से कोई उपयोगी या हितकर कला कौशल सीख ले।[9] आपस्तम्ब धर्म सूत्र में आया है कि दस वर्ष का ब्राह्मण सौ वर्ष के क्षत्रिय की अपेक्षा अधिक आदरणीय है वह क्षत्रिय के लिए

---

[1] मनु0 7/58–59, 8/9, 8/10–11
[2] बृ0उ0 – 4/3/35–39
[3] महाभाष्य – पृष्ठ 15
[4] मनु0 4/147
[5] याज्ञ0 1/118
[6] निरुक्त0 2/4
[7] मनु0 9/317
[8] मनु0 10/3
[9] मनु0 – 9/319, 2/242

पिता के सदृश है।[1] अथर्ववेद के अनुसार ब्राह्मण के लिए प्रत्येक वर्ण से एक–एक पत्नी रखने का अधिकार था। इस प्रकार वह चार पत्नियॉ रख सकता था। ब्राह्मण द्वारा प्रत्येक वर्ण मे पत्नी रखने की व्यवस्था वैदिक काल से प्राप्त होती है।[2] देवल ने भी ब्राह्मणो की इस वैवाहिक व्यवस्था का उल्लेख किया है कि ब्राह्मण चार पत्नियॉ रख सकता था।[3] हिन्दू सामाजिक जीवन मे चार पत्नियॉ रखना ब्राह्मण की विशेष सामाजिक प्रतिष्ठा और गरिमा को व्यक्त करता है। समाज मे ब्राह्मण ही पुरोहित के पद पर प्रतिष्ठित हो सकता था धीरे–धीरे पौरोहित्य कर्म ब्राह्मण के लिए वशानुगत हो गया। ब्राह्मण पुरोहित के नेतृत्व मे ब्राह्मणोचित वेश–भूषा के साथ ही राजन्य अथवा वैश्य यज्ञ के कार्य मे भाग ले सकता था।[4] ब्राह्मण पुरोहित के अभाव मे राजा द्वारा प्रदत्त हवनीय पदार्थ देवता स्वीकार नही करते हैं। मनु के अनुसार ब्राह्मण ही पृथ्वी पर श्रेष्ठ है क्योकि वह धर्म की रक्षा करने मे समर्थ होता है।[5] गौतम धर्म सूत्र के अनुसार श्रोत्रिय ब्राह्मण का पोषण राजा के द्वारा ही होता है तथा ब्राह्मण पुरोहित के बिना कोई भी यज्ञ अथवा धार्मिक कार्य सम्पन्न नहीं माना जाता है। अपना तथा दूसरो का पुरोहित बनना ब्राह्मण का प्रमुख कर्त्तव्य था।[6]

ब्राह्मण के जीवन का आदर्श था निर्धनता, सादा जीवन, उच्च विचार, धन सञ्चय से सक्रिय रूप मे दूर रहना। मनु के अनुसार ब्राह्मणो के लिए यह एक सामान्य नियम था कि वे इतना ही धन प्राप्त करे जिससे वे अपना तथा अपने कुटुम्ब का भरणपोषण कर सके, बिना किसी को कष्ट दिये अपने धार्मिक कर्त्तव्य कर सके। इसके साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण उतना ही अन्न एकत्र करे जितना कि एक कुसूल या एक कुम्भी में अट सके।[7] याज्ञवल्क्य तथा मनु ने ब्राह्मणो के लिए यह भी व्यवस्था दी है कि यदि वे अपनी जीविका न चला सकें तो फसल कट जाने के बाद खेत में जो धान्य की बालियॉ गिर पडी हों उन्हें चुनकर खायें। दान लेने से यह कष्टकर कार्य अच्छा है। इसे मनु ने ऋत की सज्ञा दी है।[8] ब्राह्मण को अपने योग क्षेम (जीविका एव रक्षण) के लिए राजा या धनिक जन के पास जाना चाहिए किन्तु क्षुधापीडित होने पर ब्राह्मण को राजा, अपने शिष्य या सुपात्र के यहॉ सहायता के लिए जाना चाहिए लेकिन अधार्मिक राजा या दानी से दान नहीं ग्रहण करना चाहिए ऐसा विभिन्न धर्मशास्त्र कार मानते हैं।[9] गौतम धर्म सूत्र में कहा गया कि यदि राजा, शिष्य या सुपात्र दाता न मिले तो अन्य योग्य द्विजातियों के पास जाना चाहिए[10] किन्तु यदि यह भी सम्भव न हो सके तो धर्मशास्त्रकारों ने व्यवस्था दी ब्राह्मण किसी से दान ले सकता है लेकिन शूद्र से लिये गये दान से यज्ञ या अग्निहोत्र नहीं करना चाहिए नहीं तो वह आगामी जन्म में चाण्डाल होगा।[11]

---

[1] आ0ध0सू0 2/10/26/10, 1/4/14/23, मनु0 2/135, विष्णु – 32/17
[2] अथर्ववेद – 5/17/8/9
[3] देवल, गृहस्त्नाकर – पृ0 85
[4] ऐ0ब्रा0 – 7/14/19
[5] मनु0 – 1/99
[6] गौ0ध0सू0 – 10/9–10, 10/2
[7] मनु – 4/2–3, 4/7–8
[8] याज्ञ0 1/128, मनु0 10/112, 4/5
[9] गौ0ध0 – 9/63, याज्ञ0 1/100, 1/130, मनु0 4/33, विष्णु0 61/1, वसिष्ठ ध0 12/2
[10] गौ0ध0सू0 – 17/1–2
[11] मनु0 11/24–42, याज्ञ0 1/127–216, वसिष्ठ – 14/13, विष्णु 57/13, मनु0 4/241, आ0ध0सू0 1/2/7/20–21, गौ0 18/24–25

प्रतिग्रह पर ब्राह्मणो का ही विशेषाधिकार था किन्तु दान किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी को भी दिया जा सकता था इस पर स्मृतिकारो ने कहा कि जो जन्म से ब्राह्मण हो, श्रोत्रिय (आचार्य) हो तथा जिसने सभी वेदो पर अधिकार प्राप्त कर लिए हो। उसको दान दिया जाता है वह अब्राह्मण को दान देने से जो सहस्र या अनन्त गुना फल प्राप्त करेगा उससे दुगुना फल उसे प्राप्त होगा।[1] गौतम बौधायन तथा मनु ने ऐसी व्यवस्था दी है कि जब कोई ब्राह्मण श्रोत्रिय या वेदपारग गुरु को दक्षिणा देने के लिए, विवाह के लिए, औषधि के लिए, अध्ययन एव यात्रा के लिए दान मागे तो यज्ञ करने के उपरान्त दानी को अपने धन की सामर्थ्य के अनुसार दान अवश्य देना चाहिए।[2] स्मृति ग्रन्थो मे यह बात प्राप्त होती है यदि कोई बिना मागे दान दे तो ग्रहण कर लेना चाहिए यहाँ तक कि बुरे काम करने के अपराधियो से भी बिना माँगा दान ग्रहण करना चाहिए किन्तु दुराचारिणी स्त्रियो, नपुसक पुरुषो, एक पतित लोगों से दान लेना तथा बहुत से मनुष्यो से दान लेना मना किया गया है।[3]

स्वधर्म और आपद्धर्म अपनाने के कारण हिन्दू समाज मे ब्राह्मणों के कई प्रकार हो गए। महाभारत मे इनकी छह श्रेणियाँ बताई गयी हैं – ब्राह्मणसम, देवसम, शूद्रसम, चाण्डालसम, क्षत्रसम और वैश्यसम। अत्रि ने ब्राह्मण के दस प्रकार बताए हैं – देवसम ब्राह्मण, मुनि ब्राह्मण, द्विज ब्राह्मण, क्षत्र ब्राह्मण, वैश्य ब्राह्मण, शूद्र ब्राह्मण, निषाद ब्राह्मण, पशुब्राह्मण, मलेच्छ ब्राह्मण, चाण्डाल ब्राह्मण।[4] अपरार्क ने देवल को उद्धृत करते हुए ब्राह्मणों को आठ प्रकारों मे बॉटा है – जाति ब्राह्मण, ब्राह्मण, श्रोत्रिय, अनूचान, भ्रूण, ऋषिकल्प, ऋषि, मुनि।[5]

धर्मशास्त्रकारो ने ब्राह्मणो के दण्ड विधान का विस्तृत वर्णन किया है गौतम ने कहा कि राजा ब्राह्मणो को छ प्रकार के दण्ड से मुक्त रखे – (1) उन्हें पीटा न जाय (2) उन्हें हथकडी–बेडी न लगायी जाय, (3) उन्हे धन–दण्ड न दिया जाय (4) उन्हे ग्राम या देश से न निकाला जाय, (5) उनकी भर्त्सना न की जाय (6) उन्हे त्यागा न जाय।[6] इन छ प्रकार के छुटकारो से यह तात्पर्य है कि ब्राह्मण अबध्य, अबन्ध्य, अदण्ड्य, अबहिष्कार्य, अपरिवाद्य और अपरिहार्य था। किन्तु यह छूट केवल विद्वान ब्राह्मणों से ही विशेष सम्बन्ध रखती थी। ब्राह्मण के शरीर दण्ड के विषय में गौतम के अनुसार शरीर दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। बौधायन ने ब्राह्मण को अदण्डनीय माना किन्तु ब्रह्महत्या, व्यभिचार या अगम्यगमन अर्थात् मातृगमन, स्वसृगमन, दुहितृगमन आदि, सुरापान, सुवर्ण की चोरी के अपराधी होने पर ब्राह्मण के ललाट पर जलते हुए लोहे के चिन्ह से दाग देने तथा देश निष्कासन की व्यवस्था दी है मनुस्मृति में भी यही बात मिलती है।[7] मनु ने कहा है कि ब्राह्मण को किसी भी दशा में प्राणदण्ड नहीं देना चाहिए बल्कि उसकी सारी सम्पत्ति छीनकर

---

[1] याज्ञ० 1/6, गौ० 5/18 . मनु० 7/85, व्यास० 4/42
[2] मनु० 11/1–3, गौ० 5/19–20, बौधा० 2/3/15
[3] मनु० 4/204,224, 248–249 . याज्ञ० 1/125, आप०ध०सू०– 1/6/19/11–14, वि०ध०सू० – 57/11, वसि०– 14/2–11
[4] अत्रि० 384
[5] वैखानससूत्र – 1/1
[6] गौ०ध०सू० 8/12–13
[7] मनु० 11/99–100, गौ०ध०सू० 12/43, बौधा० 1/10/18–19

उसे देश निकाला दे देना चाहिए।[1] चोरी के मामले मे याज्ञवल्क्य तथा नारद ललाटाकन एव देश–निष्कासन नामक दण्ड उचित मानते है।[2] मनु ने भी ब्राह्मणो के लिए धन दण्ड की भी व्यवस्था बतलाई है और यह व्यवस्था झूठी गवाही देने, बलात्कार एव व्यभिचार के लिए उचित माना है।[3] यदि ब्राह्मण भ्रूणहत्या करे, चोरी करे, ब्राह्मण नारी को शस्त्र से मारे या निर्दोष नारी को मार डाले तो उसे प्राण दण्ड मिलना चाहिए।[4] अति प्राचीनकाल से ही ब्राह्मणो का शरीर परम पवित्र माना जाता रहा है इसलिए ब्रह्महत्या अधमतम अपराध के रूप मे स्वीकृत था। शतपथ ब्राह्मण ने तो ब्रह्महत्या को जघन्य अपराध माना है[5] गौतम ने ब्रह्महत्या करने वाले को पतितो मे सबसे बडा माना है तथा वसिष्ठ ने तो इसे भ्रूणहत्या कहा है।[6] मनु, याज्ञवल्क्य तथा विष्णु ने तो ब्रह्महत्या को पॉच महापातकों मे गिना है।[7] गौतम धर्म सूत्र के अनुसार किसी ब्राह्मण को डपटना या मारने की धमकी देना या पीट देना या शरीर से चोट द्वारा रक्त निकाल देने पर दण्ड का विधान किया गया है।[8]

स्मृतिकारो के अनुसार वेदज्ञानी ब्राह्मण करो से मुक्त था।[9] ब्राह्मण कर मुक्त क्यो रखा जाता था? इसका उत्तर वसिष्ठ धर्मसूत्र में मिलता है ब्राह्मण वेदाध्ययन करता है वह धार्मिक शील प्राप्त करता है जिसे राजा भी प्राप्त करता है ब्राह्मण विपत्तियों से रक्षा करता है।[10] मनु ने भी कहा कि राजा द्वारा रक्षित श्रोत्रिय जब धार्मिक गुण प्राप्त करता है तो राजा का जीवन, सम्पत्ति एव राज्य बढता है।[11] ब्राह्मणो के कर सम्बन्धी विषय पर स्मृतिकारो का मन्तव्य है कि ब्राह्मणो के साथ अन्य लोगो अर्थात् अन्धा, जड, पशु, सत्तर वर्ष से अधिक बूढे से राजा कर न ले , लेकिन ऐसे ब्राह्मण जो खेती करते हैं उनसे कर लेने का विधान किया गया है।[12] धार्मिक राजा को चाहिए कि वह अश्रोत्रिय तथा जो यज्ञ न करे उसे कर से मुक्त न करे। ब्राह्मणो के लिए यह व्यवस्था थी कि यदि वह गुप्त धन पाता या तो उसे अपने पास रख सकता था। किन्तु अन्य वर्णों के लोगों द्वारा पाये गये गुप्त धन को राजा हडप लेता था, किन्तु यदि प्राप्त कर्त्ता राजा को पता बता देता था तो उसे छठा भाग मिल जाता था। यदि राजा को स्वय गुप्त धन प्राप्त होता था तो वह आधा ब्राह्मणों में बाँट देता था।[13] स्मृतिकारों एव धर्मसूत्रो मे यह भी कहा गया है कि यदि कोई ब्राह्मण बिना किसी उत्तराधिकारी के मर जाता था तो उसका धन श्रोत्रियों या ब्राह्मणों मे बाँट दिया जाता था।[14]

---

[1] मनु० – 8/379–380
[2] याज्ञ० 2/270, नारद (साहस, 10)
[3] मनु० 8/123, 8/378
[4] याज्ञ० 2/281 विश्वरूप द्वारा उद्धृत।
[5] शत०ब्रा० 13/3/1/1
[6] गौ०ध०सू० 21/1 वसि०ध०सू० 1/20
[7] मनु० 11/54, याज्ञ० 3/227, वसि० 35/1
[8] गौत० 22/20–22
[9] आ०ध०सू० – 2/10/26/10, वसिष्ठ ध०सू० – 19/23, मनु० 7/133
[10] वसि० 1/44–46
[11] मनु० 7/136, 8/305
[12] आप० 2/10/26/11–17, वसि० 19/23, मनु० 8/394
[13] गौ०ध०सू० 10/43–45, याज्ञ० 2/34–35, मनु० 3/13–14, विष्णु० – 3/56–64
[14] मनु० 9/188, गौ० 28/39–40, वसि० 17/84–87, विष्णु० 17/13–14

स्मृतिकारो एक विषय पर गहरा मतभेद स्पष्ट होता है कि आततायी, हिसक या भयानक अपराधी ब्राह्मण का प्राण हरण किया जा सकता है कि नही किया जा सकता है। मनु ने इस विषय पर कहा है कि अपने वेद पढाने वाले (गुरु) वेदार्थ बताने वाले, माता–पिता, अन्य श्रद्धास्पद लोगो, ब्राह्मणो, गायो तथा तप मे लगे हुए लोगो की हिसा नही करनी चाहिए। उन्होने पुन लिखा है कि ब्राह्मण के द्वारा हत्या करने पर कोई प्रायश्चित्त नही है।[1] किन्तु स्वय मनु ने पुन कहा है कि आततायी को अवश्य मार डालना चाहिए, भले ही वह गुरु ही क्यो न हो, बच्चा, बूढा या विद्वान क्यो न हो।[2] कात्यायन,, भृगु एव वृहस्पति ने भ्री आततायी ब्राह्मण को अबध्य माना है।[3] याज्ञवल्क्य की व्याख्या मे विश्वरूप ने लिखा है कि वह व्यक्ति ब्राह्मण हत्या का अपराधी है जो सग्राम मे लडते हुए ब्राह्मण या आततायी ब्राह्मण को छोडकर किसी अन्य प्रकार के ब्राह्मण को मारता है, या जो स्वय अपने लाभ के लिए किसी ब्राह्मण को मारता है या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसे धन देकर मरवाता है।[4] विश्वरूप ने और आगे कहा कि धन के लोभ से जो किसी ब्राह्मण को मारता है उसको पाप नही लगता, बल्कि उसको पाप लगता है जो उसे मरवाता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि यज्ञ कराने वाले को फल मिलता है न कि यज्ञ करने वाले ऋत्विक् को प्राप्त होता है। मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य तथा मनु का उद्धरण देते हुए लिखा है कि यदि आत्म रक्षा के लिए कोई किसी आततायी ब्राह्मण को रोक रहा है और असावधानी या त्रुटि से उसे मार डालता है तो वह राजा द्वारा दण्डित नहीं हो सकता, बल्कि उसे एक हल्का प्रायश्चित्त करना पडेगा।[5] इससे यह स्पष्ट होता है कि आततायी ब्राह्मण को मारना मना था। याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार अपरार्क ने भी लिखा है कि आततायी ब्राह्मण को यदि किसी अन्य प्रकार से रोकना असम्भव है तो उसे मार डालने की व्यवस्था शास्त्रो मे है, किन्तु यदि उसे दो एक थप्पड मारकर रोका जा सके तब उसका प्राण हर लेना ब्रह्महत्या है।[6]

स्मृतिकारो का कहना है कि श्राद्ध तथा देव क्रिया सस्कार के समय भोजन के लिए कुछ ही ब्राह्मण बुलाये जा सकते हैं।[7] ब्राह्मण की मृत्यु पर शोक करने (सूतक) की अवधि अपेक्षाकृत और वर्णों से कम थी। मनु तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्राह्मण के लिए दस दिन, क्षत्रियों के लिए ग्यारह दिन तथा वैश्य या शूद्र के लिए बारह तथा तीस दिन की थी।[8] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण समाज का सर्वोच्च नेता था तथा अनेक विशेषाधिकारों से युक्त होकर समाज को सत्य के पथ पर अग्रसर कर रहा था।

ब्राह्मणों के पश्चात् समाज का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ण क्षत्रिय था। महाभारत मे इस वर्ण के विशिष्ट धर्म अध्ययन, प्रजा की रक्षा, यज्ञ करना तथा दान देना बताया गया है। ऋग्वेद में इसे 'क्षत्र' कहा गया है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है क्षत् अर्थात् हानि से रक्षा करने वाला। गीता के अनुसार शौर्य, तेज, धैर्य,

---

[1] मनु0 4/162, 11/89
[2] मनु0 8/350–351, विष्णु0 5/189–190
[3] कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका पृ0 315)
[4] याज्ञ0 2/21 (व्याख्या विश्वरूप)
[5] याज्ञ0 2/11, मनु0 8/350–351, (मिताक्षरा व्याख्या)
[6] याज्ञ0 3/227 (व्याख्या अपरार्क)
[7] मनु0 3/124–128, याज्ञ0 1/217–219–221, गौत0 15/5–9, आप0 2/7/17/4
[8] मनु0 5/83, याज्ञ0 3/22, वसि0 4/27–30, विष्णु 12/1–4

चातुर्य्य, युद्ध क्षेत्र से न भागना, दान देना तथा ईश्वर भक्ति ये क्षत्रिय वर्ण के स्वाभाविक कर्म है।[1] गौतम ने कहा कि क्षत्रिय का तीन वेदो मे अधीत होना चाहिए तथा शासन कार्य के लिए राजा को वेद, धर्मशास्त्र, उपवेद और पुराणो का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य माना है।[2] कौटिल्य के अनुसार क्षत्रिय का प्रमुख कर्म था अध्ययन करना, यज्ञ करना, शस्त्र ग्रहण करना और भूत रक्षण करना।[3] मनु ने यह व्यवस्था दी है कि क्षत्रिय प्रजा की रक्षा करे, दान दे, वेद पढे और विषयो मे आसक्त न हो।[4] न्याय की स्थापना करना तथा अधर्मियो को दण्ड देना भी क्षत्रिय के क्षेत्र मे सम्मिलित था। वे समाज की भौतिक आवश्कताओ की पूर्ति और सरक्षण के लिए राज करते थे। याज्ञवल्क्य ने कहा कि राजा युद्ध मे अपहृत धन ब्राह्मणो को दान करे और अपनी प्रजाओ को अभयदान दे इससे बढकर कोई धर्म नही है तथा यह भी कहा कि राजा को ब्राह्मणो के प्रति क्षमाशील होना चाहिए मित्रादि के प्रति सरल, शत्रुओ के प्रति क्रोधी तथा सेवको एव प्रजा के प्रति पिता के समान दयावान एव हितकारी होना चाहिए इस प्रकार न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने पर राजा प्रजाओ के पुण्य का छठॅवा भाग प्राप्त करता है।[5]

युद्ध मे विजित सम्पूर्ण सामग्री पर क्षत्रिय का अधिकार होता था। विजित एव अधीनस्थ राजाओ से उपहार प्राप्त करने का विशेष अधिकार राजा को प्राप्त होता था। मनु के अनुसार रथ घोडा, हाथी, छत्र, धन, धान्य, पशु, स्त्रियॉ सब तरह के द्रव्य और कुप्य जो योद्धा जीतकर लाता था, उसी का होता था।[6] राजा को अपनी प्रजा से अन्यायपूर्वक कर लेकर कोशवृद्धि नही करना चाहिए जो राजा ऐसा करता है वह शीघ्र ही श्रीहीन होकर वान्धवो सहित नष्ट हो जाता है। याज्ञवल्क्य ने ऐसा विचार व्यक्त किया है।[7] वर्ण के क्रम के अनुसार क्षत्रियो के लिए दण्ड की व्यवस्था भी की गई थी। ब्राह्मण को सबसे कम तथा शूद्र को सबसे अधिक दण्ड मिलता था। गौतम के अनुसार ब्राह्मण का अपमान करने वाले क्षत्रिय को 100 कार्षापण अर्थदण्ड देना पडता था।[8] मनु ने कहा है कि ब्राह्मण से कटु वचन कहने वाला क्षत्रिय सौ पण, वैश्य डेढ सौ या दो सौ पण और शूद्र वध से दडनीय होते है।[9] आपस्तम्ब ने कहा कि ब्राह्मण के अतिरिक्त चोरी करने वाले अन्य वर्ण का वध कर देना चाहिए।[10]

समाज में कुछ ऐसे कार्य थे जो क्षत्रियो के लिए वर्जित थे। वेद अध्यापन, यज्ञ कराने और दान लेने का अधिकार केवल ब्राह्मणों का था। मनु के अनुसार ब्राह्मणो के कर्मो मे से क्षत्रियो के लिए ये कर्म अविहित

---

[1] गीता0 18/43
[2] गौ0ध0सू0 – 11/3 11/9
[3] अर्थशास्त्र – 3/6
[4] मनु0 1/89
[5] याज्ञ0 1/323, 1/334–335
[6] मनु0 7/96
[7] याज्ञ0 1/340
[8] गौ0ध0सू0 – 2/3/6–7
[9] मनु0 8/267
[10] आ0ध0सू0 2/10/27/16–17

थे – पहला पढाना, दूसरा यज्ञ कराना और तीसरा दान लेना था। अगर कोई क्षत्रिय इसके विपरीत कार्य करता था तो उसे प्रायश्चित्त करना पडता था। पढाने का अधिकार केवल ब्राह्मण को था।[1]

वर्ण व्यवस्था के क्रम मे वैश्य का स्थान तीसरा था वैश्य ही समाज की अर्थ व्यवस्था एव भरण पोषण का भार वहन करता था। वे अपने सतत् प्रयासो द्वारा समाज एव राज्य को आर्थिक सुदृढता प्रदान करते थे। अर्थ सम्बन्धी नीतियो का सारा सचालन वैश्य वर्ग करता था। गौतमधर्म सूत्र के अनुसार अध्ययन, यजन और दान देना उसका परम कर्त्तव्य था।[2] कौटिल्य ने भी अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन और वाणिज्य वैश्यो का कर्म बताया है।[3] मनु के अनुसार पशुओ की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढना, व्यापार करना, ब्याज लेना तथा कृषि कर्म वैश्यो के कर्त्तव्य थे।[4] किन्तु बाद मे वैश्यो ने शिक्षा ग्रहण करने का कार्य त्याग दिया और अपने को पूर्णरूपेण व्यापार और वाणिज्य मे लगाया। इस तरह आध्यात्मिक और बौद्धिक उन्नयन का मार्ग उनसे छूट गया। गौतम के अनुसार अध्ययन, यजन, दानादि के कर्मो को त्याग कर वैश्य, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और कुसीद जैसे धनोपार्जन के कार्यों मे तल्लीन हो गए।[5] याज्ञवल्क्य के अनुसार यज्ञ करना, अध्ययन, दान, ब्याज लेना, कृषि, वाणिज्य और पशुपालन वैश्यो का कर्म है।[6] राज्य को अधिकाधिक कर प्रदान करने वाला वर्ण वैश्य ही था , जो अपनी वस्तुओ के विक्रय की आय मे से राजा को कर देता था। मनु ने कहा है कि स्थल तथा जल मार्ग से व्यापार करने मे चतुर और बाजार के सौदो का मूल्य लगाने मे निपुण व्यक्ति बाजार के अनुसार जिस वस्तु का जो मूल्य निश्चित करता था, उसके लाभ मे से राजा को कर के रूप मे बीसवॉ भाग मिलता था। पशु और सुवर्ण का कर पचासवॉ भाग एव धान्य का छठा, आठवॉ या बारहवॉ भाग राजा को प्राप्त होता था।[7]

कुछ ऐसी वस्तुऍ थी जिनका व्यापार करना वैश्यो के लिए वर्जित था। मद्य, मास, लौह और चमडा जैसी वस्तुऍ बेचना उनके लिए निषिद्ध किया गया था। किन्तु मनु के अनुसार राजा को इन वस्तुओं के बेचने वाले से वस्तुओ का छठा भाग कर के रूप मे प्राप्त होता था।[8] मनु ने अन्यत्र कहा है कि राजा से सम्बद्ध बिक्री करने योग्य सामान (वर्तन, हाथी, घोडा, रथ आदि) तथा निर्यात् के लिए मना किए गए पदार्थ (दुर्भिक्ष के कारण अन्नादि, पशून्नति के लिए गाय, बैल, भैंस आदि) को लोभवश दूसरे देश मे ले जाने वाले व्यापारी की सम्पूर्ण सम्पत्ति का राजा हरण कर लेता था। जो व्यापारी मिलावटी वस्तु बेचते थे तथा साधारण वस्तु को अतिउत्तम कहकर विक्रय करते थे वे दडित होते थे।[9]

---

[1] मनु0 10/77, 10/1
[2] गौ0ध0सू0 – 10/1–3
[3] अर्थशास्त्र – 3/7
[4] मनु0 1/90
[5] गौ0ध0सू0 2/1/50
[6] याज्ञ0 1/118–119
[7] मनु0 8/398, 7/130
[8] मनु0 7/131–32
[9] मनु0 – 8/399, 8/203

समाज मे शूद्र वर्ण की स्थिति निम्नतम थी। शूद्र पतित तथा हेय माने जाते थे। अधिकार और प्रतिष्ठा से वचित शूद्रो की तुलना पशुओ से की गयी थी।[1] स्मृतियो एव धर्मसूत्रो मे कहा गया है कि शूद्रो का विशिष्ट कर्त्तव्य था द्विजातियो की सेवा करना एव उनसे भरण पोषण प्राप्त करना।[2] मनु के अनुसार तीनो वर्णों की सेवा करना यही एक कर्म ईश्वर ने शूद्रो के निमित्त बनाया है। यह वर्ण समाज के हीन कर्म करता था। शूद्र का अपना कोई धन नही होता था उसके सारे धन पर स्वामी का ही अधिकार होता था। मनु, गौतम तथा अन्य आचार्यों के अनुसार वे अन्य तीन वर्णों द्वारा परित्यक्त वस्तुओ का उपयोग करते थे। सेवा के बदले मे उन्हे जूठा अन्न, पुराने वस्त्र, धान के पुआल तथा पुराने बर्तन, खाट आदि दिये जाते थे।[3] ब्राह्मण की सेवा करना शूद्रो का सौभाग्य सूचक था। यदि ब्राह्मण सेवा से उसका भरण पोषण नही होता था, तभी वे क्षत्रिय अथवा वैश्य की सेवा करते थे।[4] मनु ने अन्यत्र कहा है कि शुद्ध (बाहरी शारीरिक शुद्धि तथा भीतरी मानसिक शुद्धि से युक्त) अपने से श्रेष्ठ जातिवालो की सेवा करने वाला, मधुर भाषण करने वाला, अहकार रहित और सदा ब्राह्मणादि के आश्रय मे रहने वाला शूद्र श्रेष्ठ जातियो को प्राप्त करता है।[5] मनु ने कहा है कि श्रद्धायुक्त होकर अपनी अपेक्षा नीच व्यक्ति (शूद्र) से भी उत्तम विद्या ग्रहण करनी चाहिए।[6] मनुस्मृति के व्याख्याकार मेघातिथि के अनुसार द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को आवश्यकता पडने पर नीच शूद्र से भी निरन्तर श्रद्धापूर्वक मोक्ष धर्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[7] मेघातिथि का कहना है कि श्रुति स्मृति विहित धर्म की अपेक्षा अन्य लौकिक धर्म चाण्डाल भी कहे तो उसे मानना चाहिए। यदि चाण्डाल भी इस स्थान पर बहुत देर तक मत रूको, इस जल मे स्नान न करो, आदि वचन कहे तो उसे स्वीकार करना चाहिए। यह चाण्डालोक्त वचन भी एक प्रकार का धर्म अर्थात् व्यवस्था है। क्योकि मनु के द्वारा उक्त धर्म शब्द व्यवस्था के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है।

यद्यपि शूद्र को वेदाध्ययन करने का आदेश नही था किन्तु वे इतिहास एव पुराण सुन सकते थे। भागवत पुराण मे आया है कि तीनो वेदो को स्त्रियॉ, शूद्र एव कुब्राहन (जो केवल जन्म मात्र से ब्राह्मण हैं) नहीं पढ सकते।[8] शूद्र पवित्र अग्नियॉ नही जला सकते थे और न वैदिक यज्ञ कर सकते थे। किन्तु बादरि ने लिखा है कि शूद्र भी वैदिक यज्ञ कर सकते हैं। अत्रि तथा अपरार्क के अनुसार शूद्र पूर्त धर्म कर सकते थे, अर्थात् कूप, तालाब, मन्दिर, वाटिकाओं आदि का निर्माण तथा ग्रहण आदि अवसरों पर भोजन दान आदि कर सकते थे।[9] मेघातिथि तथा मिताक्षरा ने भी कहा कि वे साधारण अग्नि में आहुति दे सकते हैं विधिवत उत्पन्न वैवाहिक अग्नि में नहीं।[10] मनु के अनुसार यदि शूद्र प्याज या लहसुन खाये तो कोई पाप नहीं है, वह

---

[1] बौधा0ध0सू0 2/10, 191/6
[2] मनु0 10/121–123, याज्ञ01/120, वसि0 2/20, बौधा0 1/10/5
[3] मनु0 10/124–125, गौत0 10/60–61
[4] मनु0 10/121, 122, 123
[5] मनु0 9/335
[6] मनु0 2/238
[7] मेघातिथि – मनु0 2/238
[8] भागवत पुराण – 1/4/25
[9] अत्रि–46, अपरार्क पृ0 24
[10] मिताक्षरा – याज्ञ0 1/131

सस्कारो के योग्य नही है, उसे न तो धर्म पालन का कोई अधिकार है और न पालने के कोई आदेश ही है।[1] शूद्रो के लिए दण्ड विधान अधिक कडा था। यदि कोई शूद्र किसी धरोहर रूप मे रखी स्त्री के साथ व्यभिचार करता था तो उसे प्राण दण्ड दिया जाता था। वसिष्ठ तथा मनु ने कहा है कि यदि शूद्र किसी ब्राह्मण नारी के साथ उसके मन के अनुसार या विरुद्ध व्यभिचार करे तो उसे प्राणदण्ड मिलना चाहिए।[2] मनु ने दण्ड विधान को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि किसी ब्राह्मण की भर्त्सना या दारूण वचन से आक्षेप करने पर शूद्र को शारीरिक दण्ड दिया जाताा था या उसकी जीभ काट ली जाती थी,[3] किन्तु इसी अपराध पर क्षत्रिय या वैश्य को 100 या 150 कार्षापण का दण्ड दिया जाता था। यदि ब्राह्मण किसी शूद्र को दुर्वचन कहे तो उस पर केवल 12 कार्षापण का या कुछ दण्ड नही लगता था।[4] मृत्यु या जन्म होने पर शूद्र को एक महीने का सूतक लगता था। मनु एव याज्ञवल्क्य के अनुसार शूद्र न तो न्यायाधीश हो सकता था और न धर्म का उद्घोष ही कर सकता था।[5] ब्राह्मण किसी शूद्र से दान नही ग्रहण कर सकता था। स्मृति तथा धर्म सूत्र मे यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण उसी शूद्र के यहॉ भोजन कर सकता था जो उसका पशुपालन, हलवाहा या वशानुक्रम से मित्र हो या अपना नाई या दास हो।[6] आपस्तम्ब के अनुसार अपवित्र शूद्र द्वारा लाया गया भोजन ब्राह्मण के लिए वर्जित है, किन्तु उन्होने शूद्रो को तीन उच्च वर्णों के सरक्षण मे भोजन बनाने के लिए आज्ञा दी है, किन्तु इस विषय मे उनके नाखून, केश आदि स्वच्छ होने चाहिए।[7]

शूद्र चारो आश्रमो मे केवल गृहस्थाश्रम ही ग्रहण कर सकता है मनुस्मृति के व्याख्याकार मेघातिथि ने कहा है कि शूद्र ब्राह्मण की सेवा कर एव गृहस्थाश्रम मे रहते हुए सन्तानोत्पत्ति करके मोक्ष को छोडकर सभी कुछ प्राप्त कर सकता है।[8] शूद्र जीवन श्रुद्र समझा जाता था। याज्ञवल्क्य एव मनु ने स्त्री, शूद्र, वैश्य एव क्षत्रिय को मार डालना उपपातक माना है, किन्तु इसके लिए जो प्रायश्चित एव दान की व्यवस्था बतायी गयी है।[9] उससे यह स्पष्ट होता है कि शूद्र का जीवन नगण्य सा था।

## 3. अस्पृश्यता

भारत मे जाति व्यवस्था का उदय वैदिक साहित्य मे प्राप्त होता है। ऋग्वेद मे आर्य और अनार्य नामक दो जातियॉ थी। आर्य अपने विपक्षी अनार्य के लिए निरादर सूचक शब्दों का प्रयोग करते थे। स्मृतियो

---

[1] मनु0 10/126
[2] वसि0 21/1, मनु0 8/366
[3] मनु0 8/270
[4] मनु0 8/268
[5] मनु0 8/9–20, याज्ञ0 1/3
[6] गौत0 16/6, मनु04/253 याज्ञ01/166, विष्णु0 57/16, पराशर0 9/19
[7] आप0 1/5/16/22
[8] मनु0 6/97 (मेघातिथि व्याख्या)
[9] याज्ञ0 3/236, मनु0 11/66

मे वर्णित अन्त्यजो के नाम वैदिक साहित्य मे प्राप्त होते है। ऋग्वेद मे चर्मम्न (खाल या चाम शोधने वाले) एव वाजसनेयी सहिता मे चाण्डाल एव पौल्कस शब्द आया है।[1] किन्तु इन वैदिक शब्दो से यह सकेत नही मिलता कि ये अस्पृश्य जाति की द्योतक थी। छान्दोग्योनिषद् मे चाण्डाल के विषय मे कहा गया है कि तीन उच्च वर्णों की अपेक्षा इनकी सामाजिक स्थिति अति निम्न थी।[2] इससे यह सकेत प्राप्त होता है कि चाण्डाल शूद्र जाति की निम्नतम शाखाओ मे परिगणित था, वह कुत्ते एव सूअर के सदृश कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण मे यज्ञ के सम्बन्ध मे तीन पशु अर्थात् कुत्ते, सूअर एव भेड अपवित्र माने गये।[3] मनु एव याज्ञवल्क्य के अनुसार श्राद्ध मे पितर लोग सूअर का मास बडे चाव से खाते है।[4] अत उपनिषद् मे वर्णित चाण्डाल को हम अस्पृश्य नही मान सकते है।

मनु ने कहा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र केवल चार वर्ण है पॉचवा कोई वर्ण नही है।[5] अस्पृश्यता केवल जन्म से ही नही उत्पन्न होती है यह भयकर पापो अर्थात् दुष्कर्मों से लोग जाति निष्कासित एव अस्पृश्य हो जाते है। मनु ने कहा है कि ब्रह्महत्या करने वाले, ब्राह्मण के सोने की चोरी करने वाले या सुरापान करने वाले लोग को जाति से बाहर कर देना चाहिए, न तो कोई उनके साथ खाये, न उन्हे स्पर्श करे, न उनकी पुरोहिती करे और न उनके साथ कोई विवाह सम्बन्ध स्थापित करे, वे लोग वैदिक धर्म से विहीन होकर ससार मे विचरण करे।[6] मिताक्षरा मे कहा गया है कि कुछ लोग जो साधारणत अस्पृश्य नहीं हो सकते थे, कुछ विशेष व्यवसायो का पालन करने यथा देवलक (जो धन के लिए तीन वर्ष तक मूर्ति पूजा करता है), ग्राम के पुरोहित, सोमलता विक्रयकर्त्ता को स्पर्श करने से वस्त्र–परिधान सहित स्नान करना पडता था।[7] मनु के अनुसार कुछ परिस्थितियो मे पड जाना, यथा रजस्वला स्त्री के स्पर्श, पुत्रोत्पन्न होने के दस दिन की अवधि मे स्पर्श, सूतक मे स्पर्श, शव स्पर्श आदि मे वस्त्र सहित स्नान करना पडता था।[8] अपरार्क ने अस्पृश्यता का कारण यह दिया है कि मलेच्छ या कुछ विशिष्ट देशो का निवासी होना। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यक्ति जो गन्दा व्यवसाय करते थे, अस्पृश्य माने जाते थे, यथा कैवर्त (मछुआ), मृगयु (मृग मारने वाला), व्याध, सौनिक (कसाई), शाकुनिक (पक्षी पकडने वाला), धोबी इन्हे छूने पर स्नान करके ही भोजन किया जा सकता है।[9]

अस्पृश्यता सम्बन्धी जो विधान बने थे वे किसी जाति सम्बन्धी विद्वेष के लिए नहीं अपितु उनके पीछे धार्मिक धारणाऍ एव स्वास्थ्य सम्बन्धी विचार थे जो मोक्ष प्राप्ति के लिए परम आवश्यक माने गये थे, क्योंकि अन्तिम छुटकारे के लिए शरीर एव मन से पवित्र एव स्वच्छ होना अनिवार्य था। आपस्तम्ब ने लिखा है कि

---

[1] ऋग्वेद 8/5/38
[2] छान्दो0 5/10/7
[3] शत0ब्रा0 12/4/1/4
[4] मनु0 3/270, याज्ञ0 1/259
[5] मनु0 10/4
[6] मनु0 9/235–239
[7] मिताक्षरा, याज्ञ0 3/30
[8] मनु0 5/85
[9] अपरार्क पृ0 1196

वैश्यदेव के उपरान्त प्रत्येक गृहस्थ को चाहिए कि वह चाण्डालो, कुत्तो एव कौओ को भोजन दे। यह बात आज भी वैश्यदेव की समाप्ति के उपरान्त पायी जाती है।[1] हिन्दू समाज मे कुछ व्यवसायो को यथा झाडू देने, चर्म शोधन, श्मशान रक्षा आदि को बुरे एव अस्वच्छ व्यवसायो मे गिनते थे। प्राचीन काल मे बहुत से व्यवसाय वशानुक्रमिक थे जिससे लोगो के मन मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि जो गन्दा व्यवसाय करते है वे जन्म से ही अस्पृश्य है। आज तो यह स्थिति है कि चाहे कुछ जातियो के लोग गन्दा व्यवसाय करे या न करे जन्म से ही अस्पृश्य माने जाते है। धर्म सूत्रकारो ने केवल चाण्डाल को ही अस्पृश्य माना है। गौतम के अनुसार चाण्डाल ब्राह्मणी से शूद्र द्वारा उत्पन्न सन्तान हैं अत यह प्रतिलोमो मे अत्यन्त गर्हित प्रतिलोम है।[2] आपस्तम्ब ने कहा है कि चाण्डालस्पर्श पर सवस्त्र स्नान करना चाहिए, चाण्डाल सभाषण पर ब्राह्मण से बात कर लेनी चाहिए, चाण्डाल दर्शन पर सूर्य या चन्द्र या तारो को देख लेना चाहिए।[3] मनु के अनुसार केवल अन्ध्र–भेद, चाण्डाल एव श्वपच को गॉव के बाहर तथा अन्त्यावसायी को श्मशान मे रहने को कहा है।[4] मनु के व्याख्याकार मेघातिथि ने स्पष्ट कहा है कि प्रतिलोमो मे केवल चाण्डाल ही अस्पृश्य है, अन्य प्रतिलोमो यथा सूत, मागध, आयोगव, वैदेहक एव क्षता के स्पर्श से स्नान करना आवश्यक नही है।[5] मनु ने अस्पृश्यता को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि दिवाकीर्ति (चाण्डाल) उदक्या (रजस्वला), पतित (पाप करने पर जो निष्कासित हो गया हो या कुजाति मे आ गया हो), सूतिका (पुत्रोत्पत्ति करने पर नारी), शव और शव को छू लेने वाले को छूने पर स्नान की व्यवस्था दी है।[6] किन्तु कुछ स्मृतिकारो ने शूद्र के स्पर्श से द्विजो को स्नान कर लेने की व्यवस्था दी है।

अत्रि ने लिखा है कि यदि द्विज चाण्डाल, पतित, म्लेच्छ, सुरापात्र, रजस्वला को स्पर्श कर ले तो बिना स्नान किये भोजन नहीं करना चाहिए यदि भोजन करते समय स्पर्श हो जाय तो भोजन करना बन्द कर देना चाहिए और भोजन को फेककर स्नान कर लेना चाहिए।[7] प्राचीन स्मृति ग्रन्थों में यह स्पष्ट नहीं है कि चाण्डालो की छाया अपवित्र मानी जाती रही है। मनु के अनुसार किसी देवता, अपने गुरु, राजा, स्नातक, अपने अध्यापक, भूरी गाय, वेदाध्यायी की छाया को जान बूझकर पार नहीं करना चाहिए।[8] याज्ञवल्क्य ने भी चाण्डाल को बहिष्कृत करने की व्यवस्था दी।[9] किन्तु छाया को अपवित्र नहीं माना है। याज्ञवल्क्य के श्लोक को उद्धृत करते हुए मिताक्षरा ने कहा है कि यदि चाण्डाल या पतित गाय की पूँछ के बराबर की दूरी पर आ जाय तो स्नान करना चाहिए।[10]

---

[1] आप० 2/4/9/5
[2] गौ०धू०सू० – 4/15–23
[3] आप० 2/12/8–9
[4] मनु० 10/36–51
[5] मेघातिथि – मनु० 10/13
[6] मनु० 5/85
[7] अत्रि – 267–369
[8] मनु० – 4/130
[9] याज्ञ० – 1/93
[10] मिताक्षरा – याज्ञ० 3/30

याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि सडक पर चाण्डाल चले तो वह चन्द्र तथा सूर्य की किरणो एव हवा से पवित्र हो जाता है। उन्होने पुन कहा कि यदि जनमार्ग या कच्चे मकान पर चाण्डाल, कुत्ते एव कौए आ जायें तो उसकी मिट्टी एव जल हवा के स्पर्श से पवित्र हो जायेगे।[1] स्मृतियो मे अस्पृश्यता के सामान्य नियमो का अपवाद भी बताया गया है अत्रि ने कहा है कि मन्दिर, देवयात्रा, विवाह, यज्ञ एव सभी उत्सवो मे किसी अस्पृश्य का स्पर्श अस्पृश्यता का द्योतक नही हो सकता है।[2] स्मृत्यर्थसार मे उन स्थानो का नाम आया है जहाँ छुआछूत का कोई भेद नही होता है– सग्राम मे, हाट (बाजार) के मार्ग, धार्मिक जुलूसो, मन्दिरो, उत्सवो, यज्ञो, पूतस्थलो, आपत्तियो मे, ग्राम या देश पर आक्रमण होने पर, बडे जलाशय के किनारे, महान् पुरुषो की उपस्थिति मे, अचानक आग लग जाने पर या महान् विपत्ति पडने पर स्पर्शास्पर्श पर ध्यान नही दिया जाता है।[3] विष्णुधर्म सूत्र के अनुसार तीन उच्च वर्णों का स्पर्श करने पर अस्पृश्य को पीटे जाने का दण्ड मिलता था।[4] किन्तु याज्ञवल्क्य ने चाण्डाल द्वारा उच्च वर्ण का स्पर्श करने पर केवल 100 पण के दण्ड की व्यवस्था की है।[5] अस्पृश्यो के कुओ या बरतनो मे पानी पीने पर, उनका दिया हुआ पका या बिना पकाया हुआ भोजन ग्रहण करने पर, उनके साथ रहने पर या अछूत नारी के साथ व्यभिचार करने पर शुद्धि और प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी गयी है। मिताक्षरा मे कहा गया है कि प्रतिलोम जातियाँ (जिनमे चाण्डाल भी सम्मिलित है) व्रत कर सकती है।[6]

## 4. दास प्रथा

भारत मे दास प्रथा का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से है। ऋग्वेद मे दासो के विषय मे सूचना मिलती है जहाँ इन्हे दास, दस्यु, असुर तथा आर्यों से भिन्न वर्ण के रूप मे किया गया है।[7] ऋग्वेद मे आया है कि आर्यों और अनार्यों के बीच सघर्ष हुआ आर्य अनार्य को पराजित कर उन्हे बदी बनाकर दास बना लिया था। ये दास जीवन भर आर्यों की सेवा करते थे। तैत्तिरीय सहिता से ज्ञात होता है कि दास दासियो को उपहार मे दिये जाने की प्रथा थी।[8] ऐतरेय ब्राह्मण मे आया है कि एक राजा ने अपना राज्याभिषेक कराने वाले पुरोहित को दस हजार दासियॉ और दस हजार हाथी भेट मे दिये थे।[9] वृहदारण्यक उपनिषद् से ज्ञात होता है कि जनक ने याज्ञवल्क्य से ब्रह्मविद्या सीख लेने के पश्चात् उनसे कहाकि मैं आपको विदेह देश देता हूॅ। साथ ही आपकी दासता करने के लिए अपने को समर्पित करता हूॅ।[10] छान्दोग्योपनिषद् में आया है– इस

---

[1] याज्ञ0 1/194–197
[2] अत्रि – 249
[3] स्मृत्यर्थसार पृ0 79
[4] विष्णु0 – 5/104
[5] याज्ञ0 2/234
[6] मिताक्षरा – याज्ञ0 3/162
[7] ऋ0 9/71/2
[8] तैत्ति0 सं0 – 2/2/6/3
[9] ऐत0ब्रा0 –39/8
[10] वृह0 उ0 – 4/4/23

ससार मे लोग गायो एव घोडो, हाथियो एव सोने, पत्नियो एव दासियो, खेतो एव घरो को महिमा कहते है।[1] इससे यह पता चलता है कि वैदिक काल मे पुरुष एव नारियो का दान हुआ करता था और भेट स्वरूप दिये गये लोग दास माने जाते थे।

मनु के अनुसार शूद्र का मुख्य कर्त्तव्य उच्च वर्ण की सेवा करना था[2] किन्तु इससे यह नही स्पष्ट होता है कि शूद्र दास थे मनु का सकेत शूद्रो से दास कर्म कराने के लिए ही था। आपस्तम्ब धर्म सूत्र मे कहा गया है कि अचानक अतिथि के आ जाने पर अपने को, स्त्री या पुत्र को भूखा रखा जा सकता है, किन्तु उस दास को नही, जो सेवा करता है।[3] कौटिल्य ने अनेक प्रकार के दासो का उल्लेख किया है– आत्मविक्रयी (अपने को बेचनेवाला), उदरदास (जो अपना पेट पालने के लिए अपने को बेच देते थे), ध्वजाहृत (युद्ध मे बदी), दण्डप्रणीत (राजा के दण्ड के कारण), आहितिक (ऋण के कारण बना हुआ), दाय भाग मे प्राप्त दास, गर्भवती दासी से उत्पन्न दास।[4] मनु ने सात प्रकार के दासो का वर्णन किया है– 1 युद्ध मे स्वामी के पास जीता गया, 2 भोजन करने आदि के लोभ से आया, 3 दासी पुत्र, 4 मूल्य देकर खरीदा गया, 5 किसी के देने से प्राप्त हुआ, 6 पिता की परम्परा से चला आता हुआ, 7 राजदण्ड को चुकाने के लिए स्वीकृत किया गया।[5]

नारद ने शुश्रूषक (जो दूसरे की सेवा करता है) को पॉच वर्गो मे बॉटा है – वैदिक छात्र, अन्तेवासी, अधिकर्मकृत (मेट या काम करने वालो को देखनेवाला), भृतक (नौकर, वेतन पर काम करने वाला), दास। इनमे प्रथम चार को कर्मकार कहा जाता था और वे सभी पवित्र कामो को करने के लिए बुलाये जाते थे। किन्तु दास को सभी प्रकार के कार्य करने पडते थे, यथा घर बुहारना, गन्दे गड्ढो, मार्ग, गोबर स्थलो को स्वच्छ करना, मलमूत्र फेकना आदि था।[6] नारद ने दासो के पन्द्रह प्रकार बताये हैं– 1 घर मे उत्पन्न, 2 खरीदा हुआ, 3 दान या किसी अन्य प्रकार से प्राप्त, 4 वसीयत मे प्राप्त, 5. अकाल में रक्षित, 6 किसी अन्य स्वामी द्वारा प्रतिश्रुत, 7 बड़े ऋण से युक्त, 8 युद्धबन्दी, 9 बाजी मे विजित, 10 मैं आपका हूँ कहकर दासत्व ग्रहण करने वाला, 11 सन्यास से च्युत, 12 जो अपने से कुछ दिनों के लिए दास बने, 13 भोजन के लिए बना हुआ, 14 दासी के प्रेम से आकृष्ट दास (वडवाहृत), 15 अपने को बेच देने वाला।

याज्ञवल्क्य ने दासो के विषय मे एक विधान यह बताया है कि यदि वे अपने स्वामी को किसी आसन्न प्राणलेवा कठिनाई से बचा ले तो दासता से मुक्त हो सकते हैं। किन्तु सन्यास से च्युत व्यक्ति जीवन भर राजा का दास होकर रहता है।[7] याज्ञवल्क्य तथा नारद के मतानुसार वर्णो के अनुसार ही दास बन सकते हैं ब्राह्मण के अतिरिक्त तीनों वर्ण ब्राह्मण के, वैश्य या शूद्र, क्षत्रिय के दास हो सकते हैं, किन्तु क्षत्रिय किसी

---

[1] छा०उ० – 7/24/2
[2] मनु० 1/91, 8/413–414
[3] आप० 2/4/9/11
[4] अर्थशास्त्र – 2/13
[5] मनु० 8/415
[6] नारद 6/7
[7] याज्ञ० 2/182–183

वैश्य या शूद्र का या वैश्य शूद्र का दास नही हो सकता है।[1] कात्यायन के अनुसार ब्राह्मण किसी ब्राह्मण का भी दास नही हो सकता, किन्तु यदि वह होना ही चाहे तो किसी चरित्रवान् एव वैदिक ब्राह्मण का ही, और वह भी केवल पवित्र कार्य करने के लिए हो सकता है। कात्यायन ने यह भी कहा है कि सन्यास च्युत ब्राह्मण को राज्य से निकाल बाहर करना चाहिए, किन्तु सन्यास भृष्ट क्षत्रिय एव वैश्य व्यक्ति राजा का दास होता है।[2] कौटिल्य एव कात्यायन के मतानुसार यदि स्वामी दासी से व्यभिचार करे और सन्तानोत्पत्ति हो जाय तो दासी एव पुत्र को दासत्व से छुटकारा मिल जाता है।[3] नारद एव कात्यायन ने यह कहा है कि किसी वैदिक छात्र, शिक्षार्थी, दास, स्त्री, नौकर या कर्मकार द्वारा अपने कुटुम्ब के भरण–पोषणार्थ लिया गया धन गृहस्वामी को देना चाहिए भले ही यह धन उसकी अनुपस्थिति मे ही क्यो न लिया गया हो।[4] मनु के अनुसार गवाहो के अभाव मे नाबालिग, बूढे आदमी, स्त्री, छात्र, सगे सम्बन्धी, दास एव नौकर को भी गवाह माना जाता है।[5]

## 5. आश्रम व्यवस्था

भारतीय सामाजिक सगठन की दूसरी महत्वपूर्ण सस्था आश्रम व्यवस्था थी, जो वर्ण व्यवस्था के साथ सम्बन्धित थी। इसका विधान मानव जीवन को सुव्यवस्थित एव सुसस्कृत बनाने के उद्देश्य से किया गया। यदि वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य समाज को व्यवस्थित करना था तो आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन को व्यवस्थित करते हुए उसे समाज का योग्य नागरिक बनाना था। आश्रम व्यवस्था सस्कारो के निर्माण एव व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्रियाओ के नियोजन का भी प्रयत्न है। इसी कारण से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र वर्ण के व्यक्तियो के लिए अलग–अलग ढग से आश्रमो में प्रवेश, जीवन विधि तथा कर्त्तव्य आदि का विधान किया गया। जीवन की वास्तविकता कर्त्तव्य और आध्यात्म के आधार पर मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमो मे विभाजित किया गया। इसका सर्वोपरि एव अन्तिम उद्देश्य आश्रम व्यवस्था द्वारा आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुए मोक्ष की प्राप्ति करना है।

आश्रम शब्द आ उपसर्ग पूर्वक 'श्रम' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है प्रयास करना अथवा परिश्रम करना, अर्थात् जिसमें रहकर अथवा जहॉ रहकर मनुष्य श्रम करता है उसे आश्रम कहते हैं। आश्रम जीवन की यात्रा मे एक विश्राम स्थल का कार्य करता है जिसमें व्यक्ति अपने जीवन के आवश्यक कर्त्तव्यो को पूरा करता हुआ उच्चतर लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है।

वैदिक सहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में आश्रम व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु प्रथम दो आश्रमों, ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ की व्याख्या किसी न किसी रूप में की गयी है। किन्तु बाद के वैदिक ग्रन्थों में

---

[1] याज्ञ0 2/183, नारद – 39
[2] कात्यायन – 721
[3] अर्थशास्त्र – 3/13, कात्यायन – 723
[4] नारद (ऋणादान)– 12
[5] मनु0 8/70

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ तीन आश्रमो का विवरण मिलता है। वानप्रस्थ और सन्यास एक ही मे मिले जुले रूप मे प्राप्त होते है। ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग अनेक स्थानो पर हुआ है। पति शब्द का प्रयोग सन्यासी के अर्थ मे दो या तीन स्थानो पर मिलता है। सर्वप्रथम जाबालोपनिषद मे चारो आश्रमो का नामोल्लेख मिलता है।[1] वृहदारण्यक उपनिषद से ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा था कि अब मै गृहस्थी से प्रव्रज्या ग्रहण करने जा रहा हूँ।[2] श्वेताश्वतर ने ब्रह्मज्ञान की चर्चा आश्रम नियमो से उपर उठ जाने वाले लोगो से की थी। इससे स्पष्ट है कि उपनिषद काल मे आश्रम व्यवस्था का प्रचलन हो चुका था। महाभारत मे आश्रम व्यवस्था की दैवी अभिव्यक्ति मिलती है।[3] मत्स्य पुराण तथा वायुपुराण मे कहा गया है कि आश्रम धर्म का पालन न करने वाले अथवा निरादर करने वाले यातना के भागी होते हैं और उन्हे नरक की प्राप्ति होती है।[4] ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार आश्रमो के चिन्तन का उद्देश्य समाज के विभिन्न सदस्य अपने कर्त्तव्यो का निष्ठापूर्वक पालन करे।[5]

आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार गार्हस्थ्य, गुरुगेह (आचार्य कुल) मे रहना, मुनि रूप मे रहना तथा वानप्रस्थ (वन मे रहना) ये चार आश्रम हैं।[6] गौतम ने भी चार आश्रमो को बताया है ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु एव वैखानस।[7] वसिष्ठ धर्म सूत्र ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एव परिव्राजक चार आश्रम बताये है।[8] मनु ने भी चार आश्रमो के नाम दिये हैं किन्तु अन्तिम को उन्होने यति तथा सन्यास कहा है।[9] चौथे आश्रम को कई नामो से द्योतित किया गया है– परिव्राट् या परिव्राजक (जो एक स्थान पर नही ठहरता, स्थान–स्थान मे घूमा करता है), भिक्षु (जो भिक्षा मॉग कर खा लेता है), मुनि (जो जीवन और मृत्यु के रहस्यो पर विचार करता है), यति (जो अपनी इन्द्रियो को सयमित रखता है)। मनु ने अन्यत्र तीन आश्रमो का उल्लेख किया है किन्तु बाद मे कहा है कि सौ वर्ष के चारो आश्रमो को पच्चीस–पच्चीस वर्ष के चार भागों मे विभाजित किया जा सकता है।[10] आश्रम व्यवस्था के पालन से पुण्य लोक की तथा पालन न करने से नरक की प्राप्ति मानी गयी है। इस प्रकार आश्रम धर्म का पालन करना लोगो के लिए अत्यन्त आवश्यक माना गया है।

## 5.1. ब्रह्मचर्य आश्रम

मनुष्य के बौद्धिक और शिक्षित जीवन के निमित्त ब्रह्मचर्य आश्रम की व्यवस्था की गई थी। विद्या और शिक्षा की प्राप्ति इसी के पालन से होती थी, जिससे मनुष्य की ज्ञान गरिमा बढती थी। ब्रह्मचर्य दो शब्दो 'ब्रह्म' और 'चर्य' से बना है। 'ब्रह्म' का अर्थ है– 'वेद' अथवा महान् और 'चर्य' का विचरण करना

---

[1] जा०उप० – 4
[2] वृह० उ० 4/5/2
[3] महा० शान्तिपर्व – 191/8
[4] मत्स्य पुराण – 141/66–67, वायु – 83/60
[5] ब्रह्मा० पु० –27/70/71
[6] आप० – 2/9/21/1
[7] गौ०ध०सू० – 3/2
[8] वसि०ध०सू०– 7/1–2
[9] मनु० 6/87, 6/96
[10] मनु० 2/240, 7/87

अथवा अनुसरण है। इन दोनो का सम्मिलित अर्थ है 'महान मार्ग पर विचरण करना' या 'वेद मार्ग पर चलना'। ब्रह्म और वेद का घनिष्ठ सम्बन्ध है – 'ब्रह्मवेद इति श्रुते।' उपनिषद काल मे ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठतम प्रतिष्ठा थी, तप, त्याग और सयम नियम का ब्रह्मचर्य आश्रम मे महत्व रहा है क्योकि जीवन मे इनकी उपादेयता सार्थकता प्रदान करती थी अपने तप और सयम से ब्रह्मचारी ज्ञान का अर्जन करता था तथा अपने जीवन को प्रशस्त करता था।

ब्रह्मचारियो के लिए नियम बने थे। आश्वलायनगृहसूत्र के अनुसार ब्रह्मचारी के उपनय के उपरान्त तीन रातो, या बारह रातो या एक वर्ष तक क्षार, लवण नही खाना चाहिए और पृथ्वी पर शयन करना चाहिए।[1] मनु के अनुसार अग्नि मे समिधा डालना, भिक्षा मॉगना, भू–शयन, गुरु के लिए काम करना, प्रतिदिन स्नान करना, देवो ऋषियो, पितरो का तर्पण करना आदि ब्रह्मचारियो का धर्म है।[2] पूर्ण छात्र जीवन के नियम आचमन, गुरुशुश्रूषा, वाक्सयम, समिधाधान था।[3] यह नियम हमे धर्मसूत्रो तथा स्मृति ग्रन्थो मे प्राप्त होती है। अग्नि होम, भिक्षा, सन्धोपासना, वेदाध्ययन का समय एव विधि, कुछ खाद्यो एव पेयो एव गीतो का वर्जन, गुरु शुश्रूषा एव ब्रह्मचारी के अन्य व्रतो के विषय मे नियम एव विधियॉ कही गयी हैं। उपनयन के समय प्रज्जवलित अग्नि को समिधा दे–देकर तीन दिनो तक रखना पडता था। इसके उपरान्त साधारण अग्नि मे समिधा डाली जाती थी प्रतिदिन प्रात एव साय छ समिधा दी जाती थी।[4] इसका स्पष्ट उल्लेख स्मृतियो तथा धर्मसूत्रो मे किया गया है।

आश्वलायन गृहसूत्र गृहसूत्र मे शिक्षा के विषय मे कहा गया है कि ब्रह्मचारी को ऐसे पुरुष या स्त्री से भिक्षा मागनी चाहिए जो निषेध न करे और मॉगते समय ब्रह्मचारी को 'महोदय भोजन दीजिए' कहना चाहिए ।[5] मनु, याज्ञवल्क्य तथा बौधायन गृहसूत्र के अनुसार ब्रह्मचारी इन शब्दों के साथ भिक्षा मागता है, 'भवति भिक्षा देहि' (भद्र मुझे भोजन दीजिए), किन्तु क्षत्रिय एव वैश्य ब्रह्मचारी को क्रम से 'भिक्षा भवति देहि' तथा ' देहि भिक्षा भवति' कहना चाहिए ।[6] ब्रह्मचारी सर्वप्रथम माता से, तब बहिन से या मौसी से मागना चाहिए ।[7] ब्रह्मचारी को भिक्षा देने मे कोई निषेध नहीं कर सकता या क्योकि ऐसा करने पर किये गये सत्कार्यो से उत्पन्न गुण, यज्ञादि से उत्पन्न पुण्य, सन्तान, पशु, आध्यात्मिक यश आदि का नाश हो जाता है। मनु तथा याज्ञवल्क्य मे अपात्रो एव अपराधियों को छोडकर ब्रह्मचारी को भिक्षा याचना करने का निर्देश दिया है ।[8] और अन्यत्र यह भी कहा है कि ब्रह्मचारी को थोडा–थोडा करके कई गृहों से भोजन मागना चाहिए । केवल देवपूजन या पितरों के श्राद्ध काल में ही किसी एक व्यक्ति के यहा भरपेट भोजन ग्रहण

---

[1] आश्व० गृह सू० – 1/22/17
[2] मनु० 2/108 एवं 176
[3] बौ० 2/10–40 आप० 1/13/11–1, बौधा० 1/27 मनु० 2/49–249, याज्ञ० 1/16–32
[4] मनु० 2/186, याज्ञ० 1/25, बौधा० 2/5/55–57, आप०ध०सू० 1/1/4/17
[5] आश्व० गृह सू० – 1/22/6–8
[6] मनु० 2/49, याज्ञ० 1/30 बौधा०गृ०सू० 2/5/47–53
[7] मनु० 2/50
[8] मनु 2/183–185, याज्ञ० 1/29

करना चाहिए ।[1] मनु के अनुसार ब्रह्मचारी समिधा लाने एव भिक्षा मागने के अतिरिक्त गुरू के लिए पात्रो मे जल भरता था, पुष्प एकत्र करता था, गोबर, मिट्टी, कुश आदि लाता था ।[2]

अत्रि ने लिखा है कि आत्मज्ञानी द्विज को सन्ध्या तीन बार करनी चाहिए । इन तीनो सन्ध्याओ को गायत्री (प्रात कालीन) साबित्री (मध्यान्ह कालीन) एव सरस्वती (साय कालीन) कहा जाता है किन्तु गौतम, मनु एव याज्ञवल्य ने प्रात एव साय दो सन्ध्याओ का ही वर्णन किया है ।[3] मनु के अनुसार ब्रह्मचारी एकाग्र चित्त होकर देर तक सन्ध्या कर सकता है क्योकि ऋषियो ने बहुत देर तक सन्ध्या करके लम्बी आयु, बुद्धि, कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज को प्राप्त किया ।[4] प्रात कालीन सन्ध्या पूर्व दिशा की तथा सायकालीन उत्तर – पश्चिम दिशा की ओर करना चाहिए सन्ध्या करने वाले को स्नान करना चाहिए, पवित्र स्थान पर कुश–आसन पर बैठना चाहिए, यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए एव मौन रहना चाहिए । याज्ञवल्क्य के अनुसार प्राणायाम के समय गायत्री का शिर (ओम् के साथ समन्वित तीनो व्याहृतियॉ) एव गायत्री का मन्त्र मन ही मन दुहराये जाते है। मन मे सातो व्याहृतियॉ (जिसमे प्रत्येक के पहले ओम् अवश्य जुडा रहना चाहिए), तव गायत्री मन्त्र और अन्त मे गायत्री का शिर दुहराना चाहिए ।[5] बौधायन का कथन है कि राजा को सन्ध्या न करने वाले ब्राह्मणो से शूद्र का काम लेना चाहिए।[6] सन्ध्या के गुण के विषय मे मनु, याज्ञवल्क्य एव बौधायन का मत है कि प्रात काल की सन्ध्या मे मनुष्य रात्रि मे किए हुए पापो को नष्ट करता है तथा सायकाल की सन्ध्या मे मनुष्य दिन मे किए हुए पापो को नष्ट करता है।[7] जब व्यक्ति सूतक मे पडा हो, घर मे सन्तानोत्पत्ति के कारण अशौच हो, तो उसे जप तथा उपस्थान को छोडकर केवल अर्घ्य तक सन्ध्या करनी चाहिए।

प्राचीन काल मे शिक्षा पद्धति मौखिक थी। आपस्तम्ब धर्म सूत्र के अनुसार शिष्य गुरु को भगवान की भॉति माने।[8] मनु, याज्ञवल्क्य एव गौतम ने कहा है कि जो ब्रह्मचारी का उपनयन कराता है और उसे सम्पूर्ण वेद पढाता है वही आचार्य है।[9] मनु के अनुसार आचार्य को उपाध्याय से दस गुना, पिता को आचार्य से सौ गुना तथा माता को पिता से सहस्र गुनी उत्तम माना है।[10] आचार्य से अपने कर्त्तव्य विद्यार्थी एकत्र करता है इसलिए व आचार्य कहलाता है ऐसा आपस्तम्ब धर्म सूत्र मे आया है।[11] मनु एव याज्ञवल्क्य का कथन है कि आचार्य उपनयन करने के उपरान्त शिष्य को शौच (शारीरिक शुद्धता) आचार, अग्नि मे समिधा डालने एव सन्ध्या पूजा के नियम सिखाता है।[12] जब ब्राह्मण न मिले तब क्षत्रिय या वैश्य को आचार्य बनाना चाहिए

---

[1] मनु 2/188–189, याज्ञ0 1/32
[2] मनु 2/182
[3] गौ0 ध0सू0 2/96, मनु0 2/101, याज्ञ0 1/24–35
[4] मनु 4/93–94
[5] याज्ञ0 1/23
[6] बौ0ध0सू0 – 2/4/20
[7] मनु0 2/102, याज्ञ0 3/307, बौध0 2/4/25–28
[8] आ0ध0सू0 – 1/2/6/13
[9] मनु0 2/140, याज्ञ0 1/34, गौ0 1/10–11
[10] मनु0 2/145
[11] आप0 – 1/1/1/14
[12] मनु0 – 2/69, याज्ञ0 1/15

किन्तु ब्रह्मचारी साङ् वेद के नही जानने वाले गुरु के पास जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्यावस्था वास न करे।[1] याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार मिताक्षरा ने कहा है कि ब्राह्मण द्वारा प्रेरित किये जाने पर ही क्षत्रिय या वैश्य को शिक्षण कार्य करना चाहिए, अपने मन से नहीं, क्षत्रिय शिक्षण कार्य से अपनी जीविका नही चला सकता है।[2] ब्रह्मचारी को सर्वप्रथम प्रणव, व्याहृतियॉ एव गायत्री ही पढायी जाती थी। इसके बाद वेद के अन्य भाग पढाये जाते थे। गौतम, वसिष्ठ, मनु और याज्ञवल्क्य ने वेद के अध्ययन का आदेश दिया है।[3] अपना वेद पढ लेने के उपरान्त अन्य शाखाएँ या वेद पढे जा सकते है।

मनु के अनुसार दस प्रकार के व्यक्ति शिक्षण प्राप्त करने योग्य है– गुरु पुत्र, गुरु सेवा शिष्य, जो बदले मे ज्ञान दे सके, धर्मज्ञानी या जो मन देह से पवित्र हो, सत्यवादी, जो अध्ययन करने एव धारण करने मे समर्थ हो, जो शिक्षण के लिए धन दे सके, जो व्यवस्थित मन का हो और जो निकट सम्बन्धी हो।[4] याज्ञवल्क्य ने कृतज्ञ, गुरु से घृणा न करने वाला या गुरु के प्रति असत्य न होने वाला, स्वस्थ तथा व्यर्थ का छिद्रान्वेषण न करने वाला, मनु के द्वारा बताये गये गुणो के अलावा निर्धारित किया है।[5] आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार ब्रह्मचारी को सदा अपने गुरु पर आश्रित एव उनके नियन्त्रण के भीतर रहना चाहिए, उसे गुरु को छोडकर किसी अन्य के पास नही जाना चाहिए।[6] गौतम ने कहा है कि शिष्य को असत्य भाषण नही करना चाहिए, प्रतिदिन स्नान करना चाहिए, सूर्य की ओर नही देखना चाहिए तथा मधु सेवन, मास, इत्र, पुष्प सेवन, दिनशयन, तेलमर्दन, अजन, जूता आदि पहनना, छाता लगाना, प्रेम व्यवहार, क्रोध, लालच, मोह, व्यर्थ विवाद, गर्म जल मे स्नान, दॉत स्वच्छ करना, नाच, गान, नारी को देखना या युवा नारियो को छूना, नीच कार्य करना, पशुहनन, अश्लील बातचीत, आसव सेवन आदि से दूर रहना चाहिए।[7] मनु के मतानुसार ब्रह्मचारी को अपने गुरु के नाम का उच्चारण नहीं करना चाहिए तथा उनके गमन, भाषण, चेष्ट आदि का नकल न करे। क्योकि ऐसा दुष्ट आचरण करने वाला शिष्य इस लोक तथा परलोक मे अधोगति पाता है। इसके साथ यह भी कहा गया है कि जहॉ गुरु की बुराई या निन्दा होती हो वहॉ ब्रह्मचारी कान बन्द कर अन्यत्र चला जाय लेकिन यदि स्वय ही वह बुराई या निन्दा करता है तो आगे के जन्म मे गधा और कुत्ता होगा।[8] बौधायन धर्मसूत्र मे कहा गया है कि जूता पहने, सिर बॉधे, दोनो हाथ फॅसे रहने पर, सिर पर समिधा रखे रहने पर, हाथ मे पुष्प–पात्र या भोजन लिये रहने पर अभिवादन नहीं करना चाहिए, और न पितरो का श्राद्ध करते समय, अग्नि या देवता की पूजा करते समय तथा जब स्वय गुरु ऐसे कार्यो में लगे हों अभिवादन नहीं करना

---

[1] मनु० – 2/242
[2] मिताक्षरा – याज्ञ० 1/118
[3] गौ०ध०सू० 2/51, वसि० 7/3, मनु० 3/2, याज्ञ० 2/52
[4] मनु० 2/109–112
[5] याज्ञ० 1/28
[6] आप० – 1/1/2/19
[7] गौ०ध०सू० 2/13–14–18–19–22–23–25.
[8] मनु० 2/199–200–201.

चाहिए तथा बहुत सन्निकट खडे होकर भी प्रणाम नही करना चाहिए।[1] स्मृत्यर्थसार तथा मनु ने कहा है कि धर्म विरोधी, पापी, नास्तिक, जुआरी, चोर, कृतघ्न एव शराबी को अभिवादन नही करना चाहिए।[2]

आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार शिष्य अपने गुरु की पत्नी के साथ वैसा ही व्यवहार करेगा जैसा कि गुरु के साथ करता है किन्तु न तो उसके पॉव छुएगा और न उसका उच्छिष्ट भोजन करेगा।[3] मनु के अनुसार गुरु की पत्नी को तेल की मालिश, स्नान कराना, उबटन लगाना, उनका बाल झाडना या फूल आदि से श्रृगार करना, आदि कर्म शिष्य को नही करना चाहिए, तथा बीस वर्षीय शिष्य आचार्य की नवयुवती पत्नी के चरण को स्पर्श कर अभिवादन न करे, प्रत्युत पृथ्वी पर गिरकर प्रणाम करना चाहिए।[4] आपस्तम्ब, वसिष्ठधर्मसूत्र, विष्णु एव मनु के अनुसार शिष्य गुरुपुत्र के साथ वही व्यवहार करेगा जो गुरु के साथ किया जाता है किन्तु गुरुपुत्र के पैर न पकडेगा और न उसका उच्छिष्ट भोजन करेगा।[5] गुरु एव सगे सम्बन्धियो के अतिरिक्त लोगो से मिलने पर शिष्य के व्यवहार के विषय मे आपस्तम्ब तथा मनु ने कहा है कि किसी ब्राह्मण के मिलने पर 'कुशल', क्षत्रिय से 'अनामय', वैश्य से 'क्षेम' एव शूद्र से 'आरोग्य' शब्द का व्यवहार करना चाहिए। जो बडा हो उसे प्रणाम, जो समान या छोटी अवस्था का हो उसका कुशल मात्र ही पूछना चाहिए।[6]

ब्रह्मचारी के वेदाध्ययन के विषय मे मनु ने कहा है कि ब्रह्मचारी गुरु के समीप मे 36 वर्ष (प्रतिवेद के क्रम से 12–12 वर्ष) तक या उसका आधा अट्ठारह वर्ष तक (प्रतिवेद के हिसाब से छ, छ वर्ष तक) अथवा उसका चतुर्थांश 9 नव वर्ष तक (प्रतिवेद के हिसाब से तीन–तीन वर्ष तक) अथवा वेदो के ग्रहण करने की अवधि तक तीनो वेदो का अध्ययन करना चाहिए तथा ब्रह्मचारी को चाहिए कि अखण्डित ब्रह्मचर्य को धारण करते हुए तीनो वेदो को उतना न कर सके तो दो वेदो को इतना भी नहीं कर सके तो एक वेद को ही ब्राह्मण क्रम से अध्ययन करे।[7] याज्ञवल्क्य ने भी ब्रह्मचारी के समय को स्पष्ट किया है। प्राचीन काल से ही अध्ययन का साहित्य बहुत विशाल रहा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे कहा गया है कि वेद अनन्त हैं।[8] ऋग्वेद मे आया है कि जो लोग साथ पढते हैं उनमे बडा वैषम्य पाया जाता है और सहपाठी अपने मित्र को सभा मे जीतता देखकर प्रसन्न होते हैं।[9] गौतम ने कहा है कि प्रजा को सभालने के लिए वेद, धर्मशास्त्रों, अगो, उपवेदो एव पुराणो पर आश्रित रहने के लिए राजा को आदेशित किया है।[10] याज्ञवल्क्य के अनुसार पुराण, न्याय, मीमासा, धर्मशास्त्र और (व्याकरण आदि) अगों सहित चारो वेद चौदह विद्या के और धर्म के स्थान हैं।[1]

---

[1] बौध0 1/2/31–32
[2] स्मृत्यर्थसार – – पृ0 7, मनु0 4/30
[3] आ0ध0सू0 1/2/7/27
[4] मनु0 2/211–212
[5] आप0 – 1/2/7/30 वसि0 13/54, विष्णु0 28/31 मनु0 2/207
[6] आप0 1/4/14/26–29, मनु0 2/127
[7] मनु0 3/1–2, याज्ञ0 1/36
[8] तैत्ति0 ब्रा0 – 3/10/11
[9] ऋग्वेद – 10/71/7
[10] गौ0ध0सू0 11/19

है।[1] धर्मशास्त्र का विशाल साहित्य होने के कारण लोग वेद की अपेक्षा सवेगो एव बुद्धि को सन्तोष देने वाले साहित्य की ओर अधिक झुकने लगे इसी कारण स्मृतिग्रन्थो मे द्विजातियो को वेद पढने पर बार–बार बल दिया गया है। मनु के अनुसार जो द्विज वेद का अध्ययन किये बिना ही दूसरे शास्त्र मे परिश्रम करता है वह जीता हुआ ही वश सहित शीघ्र शूद्रत्व को प्राप्त करता है।[2] दक्ष के अनुसार वेदाध्ययन मे पॉच बाते प्राप्त होती है– वेद को कण्ठस्थ करना, उसके अर्थ पर विचार करना, बार–बार दुहराकर सदा नवीन बनाये रखना, जप करना एव दूसरे को पढना।[3] मनु एव याज्ञवल्क्य का भी इसी तरह का मन्तव्य है कि वेदशास्त्र के वास्तविक अर्थ को जानने वाला जिस किसी आश्रम मे रहता है इस लोक मे ही ब्रह्मभाव के लिए समर्थ होता है।[4] वेद को कण्ठस्थ करने के उपरान्त उसे सदा स्मरण मे रखना आवश्यक था। वेद को भूलना मद्य पीने आदि पापो के समान है तथा इसे ब्रह्महत्या के समान भी कहा गया है। ऐसा मनु एव याज्ञवल्क्य ने माना है।[5] गौतम ने नास्तिक को पतित माना है[6] याज्ञवल्क्य ने वेद निन्दा को ब्रह्महत्या के समान कहा है।[7] मनु के मतानुसार नास्तिकता, वेद निन्दा, देवनिन्दा, द्वेष, दम्भ, अभिमान, क्रोध और क्रूरता का त्याग करना चाहिए।[8] गौतम, मनु, विष्णु एव याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा का कर्त्तव्य है कि विद्वान लोगो एव विद्यार्थियो की जीविका का प्रबन्ध करे क्योकि ब्राह्मण राजा का अक्षय निधि कहा गया है और वेद पारगामी ब्राह्मण को दिया गया दान अनन्त फल वाला होता है।[9]

क्षत्रियो, वैश्यो एव शूद्रो की शिक्षा के विषय धर्मसूत्रो तथा स्मृति ग्रन्थों में विवरण प्राप्त होता है। गौतम के अनुसार राजा को तीनो वेदो, अन्वीक्षिकी (अध्यात्म या तर्कशास्त्र) का पण्डित होना चाहिए, उसे अपने कर्त्तव्य पालन मे वेदो, धर्मशास्त्रों, वेदो के सहायक ग्रन्थो, उपवेदो एव पुराणों का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।[10] मनु एव याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा को तीनो वेदो, आन्वीक्षिकी, दण्डनीति एव वार्ता का पण्डित होना चाहिए।[11] वैश्य की शिक्षा के विषय मे बहुत कम निर्देश प्राप्त होता है। मनु के मतानुसार तीनो वर्णों को वेदाध्ययन करना चाहिए , व्यापार, पशुपालन, कृषि वैश्यो की जीविका के साधन हैं, वैश्यों को पशुपालन कभी नही छोडना चाहिए, उन्हे रत्नो, मूगो, मोतियो, धातुओ, वस्त्रो, गन्धो, नमक, बीज–रोपना, मिट्टी के गुण दोषो, व्यापार मे लाभ हानि, भृत्यो के वेतन का मान क्रम, सभी प्रकार के अक्षर, क्रय–विक्रय की सामग्रियो के स्थान का ज्ञान होना चाहिए।[12] धर्मशास्त्र मे शूद्र शिक्षा के विषय में कोई नियम नहीं है। याज्ञवल्क्य के अनुसार द्विजातियो की सेवा शूद्रो का प्रधान कर्म है, उससे जीविका न चलने पर वाणिज्य वृत्ति का आश्रय ले अथवा

---

[1] याज्ञ0 – 1/3
[2] मनु0 – 2/168
[3] दक्ष – 2/34
[4] मनु0 12/102, याज्ञ0 1/51
[5] मनु0 11/56, याज्ञ0 3/228
[6] गौ0ध0सू0 21/1
[7] याज्ञ0 3/228
[8] मनु0 4/163
[9] गौ0ध0सू0 10/9–12, मनु0 7/82–85, विष्णु0 3/79–80, याज्ञ0 1/315–333
[10] गौ0ध0सू0 – 11/3–19
[11] मनु0 – 7/43, याज्ञ0 1/311
[12] मनु0 10/1

द्विजातियो के अनुकूल आचरण करते हुए अनेक प्रकार के शिल्पो द्वारा जीवन निर्वाह करना चाहिए।[1] प्राचीन काल मे स्त्रियो की शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था उच्चतर थी। किन्तु कालान्तर मे नारियो की दशा अधोगति को प्राप्त होती गयी। गौतम, वसिष्ठ तथा मनु के अनुसार वेदाध्ययन के सम्बन्ध मे उच्च वर्ण की नारियॉ शूद्र की श्रेणी मे आ गयी।[2] विवाह को छोडकर स्त्रिया अन्य सभी सस्कारो मे वेदमन्त्रो का उच्चारण नही कर सकती थी।

प्राचीन काल मे गुरु आश्रम मे रहकर विद्या प्राप्त करने वाले कई प्रकार के ब्रह्मचारी होते थे जिन्हे उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन श्रेणियो मे रखा जा सकता है। ब्रह्मचारी के दो वर्ग होते थे – उपकुर्वाण और नैष्ठिक। उपकुर्वाण ब्रह्मचारी विवाह के पूर्व तक गुरुकुल मे निवास करके दस–पन्द्रह वर्ष बाद गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करने के लिए गृह की ओर लौटते थे। ऐसे ब्रह्मचारी यथाशक्ति गुरुदक्षिणा प्रदान कर गुरु से आज्ञा पाकर घर लौटता था। ऐसा मनु का मन्तव्य है।[3] उपकुर्वाण ब्रह्मचारी वेद स्नातक, व्रत स्नातक और वेद–व्रत स्नातक तीन प्रकार के होते थे। याज्ञवल्क्य ने नैष्ठिक ब्रह्मचारी के विषय मे कहा है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी आठ वर्ष मे उपनीत होकर अडतालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत करते हुए छप्पन वर्ष तक अध्ययनरत रहते थे। जीवनपर्यन्त गुरु के समीप, उनके न होने पर पुत्र के समीप, पुत्र के अभाव में उनकी पत्नी के , पत्नी के न होने पर अग्निहोत्र की अग्नि के निकट निवास करता था, इस तरह की साधना करते हुए ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता था।[4] नैष्ठिक ब्रह्मचारी जीवन भर समिधा, वेदाध्ययन, भिक्षा, भूमिशयन एव आत्म सयम मे लगा रहता था। जिनका उपनयन सस्कार नहीं हुआ था गायत्री मत्र का उपदेश नहीं कराया गया है समाज से बहिष्कृत इन्हे पतित सावित्रीक की उपाधि दी गयी है। मनु तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार सोलह वर्ष ब्राह्मण की, बाईस वर्ष तक क्षत्रिय की और चौबीस वर्ष तक वैश्य के लिए उपनयन सस्कार की आखिरी अवधि होती है। इसके बाद यथा समय यज्ञोपवीत सस्कार से रहित ये तीनो वर्ण सावित्री से भ्रष्ट तथा शिष्टो से निन्दित होकर 'व्रात्य' अर्थात् सस्कारहीन हो जाते हैं।[5] ऐसे लोग वेदाध्ययन नही कर सकते, उनको यज्ञो मे जाना एव उनसे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करना मना है।

वेदो का अध्ययन जब कुछ परिस्थितियो के कारण बन्द कर दिया जाता था तो उसे अन्ध्याय कहा गया है। तैत्तिरीयारण्यक मे अनध्याय का कारण अध्ययन कर्त्ता एव स्थान की अपवित्रता को बताया गया है।[6] गौतम धर्मसूत्र के अनुसार वेदाध्ययन को ब्रह्मयज्ञ कहा जाता है, जब मेघगर्जन होता है, बिजली चमकती है, व्रजपात होता है, अन्धड तूफान चलता है तो ये सब उसके वषट्कार कहे जाते हैं।[7] मनु के अनुसार वर्षा ऋतु की रात में सामान्यत भी सुनाई पडने वाली, दिन में धूल उड़ाने वाली हवा के बहते रहने पर, बिजली

---

[1] याज्ञ0 1/120
[2] गौ0 18/1, वसि0 6/1, मनु0 9/3
[3] मनु0 2/245
[4] याज्ञ0 1/49–50
[5] मनु0 2/38–39, याज्ञ0 1/37–38
[6] तैत्ति0 आरण्यक – 2/15
[7] गौ0ध0सू0 1/4/12/3

चमकते तथा मेघ गरजते हुए पानी के बरसने, बडी–बडी उल्का के इधर–उधर गिरने पर, वर्षा ऋतु मे होम के लिए अग्नि को प्रज्वलित करते समय एक साथ बिजली चमकने लगे, मेघ गरजने लगे, आकाश मे उत्पात सूचक ध्वनि हो भूकम्प हो और ग्रहो का परस्पर सघर्ष हो, ग्राम मे मृत के रहने पर अधार्मिक के पास मे रोने का शब्द होने या बहुत लोगो के एकत्रित होने पर अनध्याय का काल माना जाता है।[1] याज्ञवल्क्य तथा मनु का मन्तव्य है कि तिथियो मे पहली, आठवी, चौदहवी, पन्द्रहवी (पौर्णमासी एव अमावस्या) तिथि मे दिन भर वेदाध्ययन बन्द रखा जाता था।[2] याज्ञवल्क्य ने सैतीस अनध्यायो की चर्चा की है – ये अनध्याय कुछ समय के लिए माने गये है – कुत्ता भूँकने या सियार, गदहा एव उल्लू के बोलते रहने पर, साम गान के समय, बॉसुरी वादन या आर्तनाद पर, किसी अपवित्र वस्तु के सन्निकट होने पर, शव, शूद्र, अन्त्यज, कब्र, पतित, घनगर्जन, विजली की लगातार चमक होने पर, भोजनोपरान्त गीले हाथो के कारण, जल मे, अर्धरात्रि मे, अन्धड तूफान मे, धूलि उत्पन्न होने पर, दिशाओ के अचानक उद्दीप्त हो जाने पर, दोनो सन्ध्याओ पर, कुहरे मे, भय उत्पन्न हो जाने पर (डाकू या चोर आने पर), दौडते समय, दुर्गन्धि उत्पन्न होने पर, किसी भद्र अतिथि के आगमन पर, गदहे, ऊँट, रथ, हाथी, घोडा, नाव, पेड पर बैठ जाने पर या रेगिस्तान मे (निर्जन स्थान में) अनध्याय होता है।[3] मनु के अनुसार एकोद्दिष्ट श्राद्ध का निमन्त्रण स्वीकार कर लेने पर, राजा की मृत्यु पर या ग्रहण पर (जब सूर्य–चन्द्र के डूब जाने पर भी ग्रहण लगा रहे) तीन दिनो का अनध्याय होता है।[4] ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि कोई व्यक्ति अनध्याय के दिनों में वेदाध्ययन करता है तो उसकी आयु अल्प हो जाती है, उसकी सन्तानो, पशुओ, बुद्धि एव ज्ञान की हानि होती है।

वेदाध्ययन की समाप्ति के पश्चात् ब्रह्मचारी स्नान करता था। यह अध्ययन के अन्त का सूचक था। तत्पश्चात् वह 'स्नातक' कहा जाता था तथा अगले आश्रम में प्रवेश के योग्य बन जाता था। ब्रह्मचर्य आश्रम से गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करते समय समावर्तन नामक सस्कार सम्पन्न होता था। इस समय तक वह पच्चीस वर्ष की आयु पूरी कर लेता था।

## 5.2. गृहस्थ आश्रम :

ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। यहाँ ब्रह्मचारी के समावर्तन समारोह के पश्चात् विवाह के साथ जीवन प्रारम्भ होता था। वह गुरु की आज्ञा प्राप्त कर गृह की ओर प्रस्थान करता था। जो ब्रह्मचारी इस व्यवस्था का पालन नहीं करता था उसे खट्वारुढ़ जैसे निन्दासूचक शब्द से सम्बोधित किया जाता था तथा उसे ब्रह्मचर्य व्रत को खण्डित करने वाला माना जाता था। पुराणों से विदित होता है कि गृहस्थ आश्रम ही अन्य आश्रमों का जनक था।[5] मनु के अनुसार तीनों आश्रमों का भारवहन करने के

---

[1] मनु0 4/102–103, 104, 105–108
[2] याज्ञ0 1/146, मनु0 4/113–114
[3] याज्ञ0 1/148–151
[4] मनु0 4/110
[5] ब्रह्माण्ड पु0 2/7/172–173, विष्णु पु0 3/9/11, वायु0पु0 8/172

कारण यह श्रेष्ठ है।[1] मनु ने गृहस्थ आश्रम की प्रशसा करते हुए कहा है कि जिस प्रकार सभी प्राणी वायु के सहारे जीवित रहते हैं उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ आश्रम के सहारे जीवन प्राप्त करते हैं अन्यत्र उन्होने कहा है कि जिस प्रकार सभी छोटी–बडी नदियॉ समुद्र मे आश्रय पाती हैं उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ मे आश्रय पाते है।[2] गौतम धर्मसूत्र के अनुसार इस आश्रम मे पति और पत्नी एक दूसरे के प्रति सहयुक्त होकर धर्मानुसार व्यवहार करते थे।[3] गृहस्थ आश्रम से ही अन्य आश्रमो का विस्तार और विकास होता था उसी के अनुग्रह और आदर पर अन्य आश्रम पूर्णत निर्भर करते थे। इसलिए इस आश्रम को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ दोनो कहा गया है। व्यास स्मृति मे यह कहा गया है कि गृहस्थ धर्म का अनुसरण करने वाले को अपने गृह मे ही कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, हरिद्वार और केदारतीर्थ की प्राप्ति हो जाती है जिनसे उसके सभी पाप धुल जाते हैं।[4] गृहस्थाश्रम मे रहकर मनुष्य त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ एव काम का एक साथ उपयोग करते हुए मोक्ष प्राप्ति के योग्य बनाता है। गृहस्थ आश्रम मनुष्य की कर्म परायणता का काल है, जिसके अन्तर्गत वह विभिन्न कर्मो को करता है। जो लोग गृहस्थाश्रम का त्याग कर सन्यास ग्रहण कर लेते थे उनकी धर्मग्रन्थ मे निन्दा की गयी है।

गृहस्थ आश्रम मे रहकर गृहपति अपने विभिन्न कर्त्तव्यो का निर्वाह करता था। व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक आदि विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्यो का वह पालन करता था। मनु ने गृहस्थों के दस धर्मो का उल्लेख किया है – धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य तथा क्रोध न करना।[5] यथाशक्ति दान देना तथा आये हुए अतिथि का सत्कार करना भी उसके कर्त्तव्य थे। महाभारत के अनुसार दूसरी स्त्री के साथ सम्पर्क न करना, अपनी पत्नी तथा घर की रक्षा करना, न दी गई वस्तु न देना, मधु का सेवन न करना तथा मास न ग्रहण करना, ये पॉच प्रकार के गृहस्थ के कर्म सुख प्रदान करने वाले थे।[6] कौटिल्य के अनुसार स्वधर्मानुसार अपनी जीविका चलाना, विहित विधि के अनुसार विवाह करना, अपनी भार्या से सम्बन्ध रखना, देवता, पितरो, अतिथियों और भृत्यों को सतुष्ट करने के उपरान्त अवशिष्ट भोजन को ग्रहण करना, गृहस्थ का प्रधान कर्म है।[7] मनु के अनुसार इस आश्रम के पालन से मनुष्य धर्म का अर्जन करता था, क्योंकि परलोक में सहायता के लिए माता, पिता, पुत्र, भार्या और सम्बन्धी नहीं होते। प्राणी अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है तथा अकेला ही अपने पाप पुण्य का फल भोगता है केवल धर्म ही उसके साथ जाता है धर्म की सहायता से ही दुस्तर नरक से उसका निस्तार होता है। अत परलोक में अपनी सहायता के लिए धर्म का उत्तरोत्तर सचय करना चाहिए।[8] याज्ञवल्क्य के अनुसार अहिंसा, सत्य, चोरी

---

[1] मनु0 6/89
[2] मनु0 3/77, 6/90
[3] गौ0ध0सू0 – 9/1
[4] व्यास स्मृति – 4/2–4, 13–14
[5] मनु0 6/92
[6] महा0अनुशासन पर्व0 13/141/25–26
[7] अर्थशास्त्र – 1/3
[8] मनु0 4/239–242

न करना, पवित्रता, इन्द्रियो का सयम, दान देना, सयम, दया और धैर्य धारण करना ये सभी व्यक्तियो के लिए गृहस्थ धर्म के साधन है।[1]

गृहस्थ को अपने परिवार के सचालन मे धार्मिक आधार पर अर्थोपार्जन करना चाहिए। स्वकर्मा गृहस्थ प्रशसनीय और आदरणीय था। दूसरे के अर्थ और सहयोग से अपनी गृहस्थी यदा् कदा चलाना निन्दनीय था। मत्स्य पुराण के अनुसार उसे धर्म के आधार पर धनार्जन करने की अनुमति दी गयी थी।[2] वसिष्ठ धर्म सूत्र मे कहा गया है कि गृहस्थ को यथासामर्थ्य दान देना चाहिए, अतिथियो का सत्कार तथा उन्हे भोजन आसन प्रदान कर प्रसन्न करना चाहिए।[3] विष्णु पुराण मे कहा गया है कि अगर कोई गृहस्थ किसी अतिथि को असन्तुष्ट कर लौटा देता था तो उसके समस्त पुण्य समाप्त हो जाता था।[4] इसलिए अतिथि सेवा वाछनीय थी। मनु के अनुसार अतिथि ब्राह्मण, स्वजातीय, भृत्य (दास, दासी आदि), देवताओ, ऋषियो, मनुष्यो, पितरो, गृहस्थित शालग्रामादि प्रतिमाओ की पूजा कर गृहस्थ शेष बचे हुए अन्न का भोजन करे। इसके साथ यह भी कहा गया कि जो गृहस्थ देवता आदि को न देकर केवल अपने लिए भोजन पाक करता है वह केवल पाप को भोगता है।[5] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि गृहस्थ प्रतिदिन पितरो और मनुष्यो को अन्न दे, अन्न के अभाव मे जल दे सतत स्वाध्याय करे, केवल अपने लिए ही भोजन न बनाये, बालक, विवाहिता, स्त्री, वृद्ध, गर्भवती, रोगी, कन्या, अतिथि और सेवको के भोजन कराने के बाद शेष भोजन को पति पत्नी को ग्रहण करना चाहिए।[6] मनु के अनुसार जिस गृहस्थ के घर में शक्ति के अनुसार आसन, भोजन, शैया, जल, फूल–फल से अतिथि की पूजा नहीं होती, वहॉ कोई अतिथि निवास न करे। इसके साथ–साथ उन्होने पाखण्डी, विरुद्धकर्मी, हठ, हेतुवादी, वकवृत्ति जैसे अतिथियो की सेवा न करने का निर्देश दिया है।[7] सदाचरण, सच्चरित्रता, पवित्रता, सत्यनिष्ठा, सदाशयता आदि गृहस्थ के स्वाभाविक आचरण माने गये हैं।

गृहस्थाश्रम मे मनुष्य को विभिन्न सस्कारों का अनुष्ठान करना पडता था जो जन्म से लेकर मृत्यु तक चलते थे। विवाह सस्कार के साथ उसका गृहस्थाश्रम में पदार्पण होता था तत्पश्चात् वह अन्य सस्कारों को सम्पन्न करता था। इसी आश्रम में व्यक्ति कई ऋणों से मुक्ति प्राप्त करता था। सभी धर्मशास्त्राकार तीन ऋण की चर्चा की है–

(1) देवऋण – व्यक्ति के जन्म के समय उसके ऊपर देवी–देवताओं की कृपा रहती है, अत उसका कर्त्तव्य है कि वह देवताओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करे। इससे मुक्ति तभी सम्भव था जब मनुष्य यथाशक्ति यज्ञों का अनुष्ठान करें।

(2) ऋषि ऋण – विधिपूर्वक वेदों का अध्ययन करने से ऋषि ऋण से मुक्ति मिल जाती थी।

---

1 याज्ञ0 1/122
2 मत्स्य पुराण – 80/3
3 वसि0 ध0सू0 8/13, 8/4–5–12
4 विष्णु पु0 3/9–15
5 मनु0 – 3/116–117–118
6 याज्ञ0 1/104–105
7 मनु0 4/29–30

(3) पितृ ऋण – धर्मानुसार सन्तानोत्पन्न करके व्यक्ति पितृ ऋण से मुक्ति पाता था।

इन तीनो ऋणो से उऋण होना व्यक्ति का परम कर्त्तव्य माना गया था। मनु ने कहा है कि उक्त तीनो ऋणो को पूरा करके मन को मोक्ष (सन्यास) मे लगाये बिना मोक्ष (सन्यास) की इच्छा रखता हुआ व्यक्ति नरक मे जाता है। मनु ने यह भी कहा है कि विधिपूर्वक वेदो को पढकर, धर्मानुसार पुत्रो को उत्पन्न कर और शक्ति के अनुसार यज्ञो का अनुष्ठान कर द्विज मोक्ष मे मन लगाये।[1] महाभारत मे कहा गया है कि विधिपूर्वक किये गये यज्ञो से पितृगणो को, यज्ञ द्वारा देवताओ को और स्वाध्याय द्वारा ऋषियो को पूजित करे, तदनन्तर अन्य आश्रमो के माध्यम से सिद्धि को प्राप्त करे।[2] मनु के अनुसार वेद का अध्ययन किये बिना, पुत्रो को बिना उत्पन्न किये तथा बिना यज्ञो का अनुष्ठान किये मोक्ष के इच्छुक द्विज नरक प्राप्त करता है।[3]

गृहस्थ के लिए यज्ञ करना आवश्यक समझा गया। यज्ञ के अनुष्ठान से व्यक्ति लौकिक और पारलौकिक दोनो जीवनो को सुखी करना चाहता था। वैदिक काल से ही पञ्च महायज्ञो के सम्पादन की व्यवस्था पायी जाती है। शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि केवल पॉच ही महायज्ञ हैं, वे महान् सत्र हैं और वे भूतयज्ञ, मनुष्यज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ एव ब्रह्मयज्ञ है।[4] तैत्तिरीयारण्यक मे आया है– वास्तव मे ये पञ्च महायज्ञ अजस्र रूप से बढते जा रहे है और ये देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ एव ब्रह्मयज्ञ हैं।[5] मनु, विष्णु तथा मत्स्य पुराण के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ अग्निकुण्ड, चक्की, झाडू, सूप, जलघट तथा अन्य घरेलू सामग्रियो से प्रतिदिन प्राणियो को आहत करता एव मारता है अत इन पापो से छुटकारा पाने के लिए पञ्च महायज्ञ की व्यवस्था की गयी है।[6] मनु ने यज्ञो को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वेद का अध्ययन और अध्यापन करना ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण करना पितृयज्ञ है, हवन करना देवयज्ञ, बलि वैश्वदेव करना भूतयज्ञ तथा अतिथियो को भोजन आदि से सत्कार करना नृयज्ञ है।[7]

### 5.2.1. ब्रह्मयज्ञ :

ब्रह्मयज्ञ के विषय में शतपथ ब्राह्मण मे वर्णन मिलता है किं ब्रह्मयज्ञ प्रतिदिन का वेदाध्ययन है। वाणी, मन, ऑख, मानसिक शक्ति, सत्य एव निष्कर्ष (जो ब्रह्मयज्ञ मे उपस्थित रहते हैं) स्वर्ग के प्रतिनिधि से हैं। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में यह भी लिखा गया है कि जो दिन प्रतिदिन स्वाध्याय करता है उसे उस लोक से तिगुना फल प्राप्त होता है जो दान देने या पुरोहित को धन–धान्य से पूर्ण सारा ससार देने से प्राप्त होता है।[8] तैत्तिरीयारण्यक में ब्रह्मयज्ञ के विषय में कहा गया है कि ब्रह्मयज्ञ करने वाले को इतनी दूर पूर्व, उत्तर या उत्तर पूर्व में चला जाना चाहिए कि गाँव के घरों के छाजन न दिखाई पड़ें, जब सूर्योदय होने लगे तो उसे

---

[1] मनु० 6/35–36
[2] महा०शान्तिपर्व – 63/20–21
[3] मनु० 6/37
[4] शत०ब्रा० 11/5/6/1
[5] तैत्ति० आ० 11/10
[6] मनु० 3/68–71, विष्णु० 59/19–20, मत्स्यपुराण 52/15–16
[7] मनु० 3/70
[8] शतपथ ब्राह्मण – 11/5/6/3–8

यज्ञोपवीत अपने दाहिने हाथ के नीचे डाल लेना चाहिए, एक पूत स्थल पर बैठ जाना चाहिए , अपने दोनो हाथो को स्वच्छ करना चाहिए, तीन बार आचमन करना चाहिए , हाथ को जल से दो बार धो लेना चाहिए , ऑखो को, नाकछिद्रो को, कानो को, हृदय को छूना चाहिए , पूर्वाभिमुख हो पद्मासन से बैठ जाना चाहिए और तब वेद का पाठ करना चाहिए।[1] तैत्तिरीयआरण्यक मे यह भी कहा गया है कि यदि व्यक्ति बाहर न जा सके तो उसे गॉव मे ही दिन या रात्रि मे ब्रह्मयज्ञ करना चाहिए , यदि बैठ न सके तो खडे होकर या लेटकर ब्रह्मयज्ञ कर सकता है।[2] ब्रह्मयज्ञ द्वारा मनुष्य अपने प्राचीन विद्वान ऋषियो के प्रति श्रद्धा और आदर व्यक्त करता था। ब्रह्मयज्ञ के द्वारा व्यक्ति अपना बौद्धिक उत्कर्ष करता था। वह वेदो का अध्ययन ही नही करता था, अपितु मौखिक स्मरण भी रखता था। वेदो का अध्ययन करना जीवन का प्रधान ऋण माना जाता था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र तथा आश्वलायन गृहसूत्र मे कहा गया है कि इस याज्ञिक समारोह के अवसर पर स्वाध्याय की व्यवस्था की गई थी।[3] याज्ञवल्क्य मे कहा गया है कि ब्रह्मयज्ञ मे व्यक्ति समय एव योग्यता के अनुसार वेद, अथर्वमन्त्रो, पुराणो एव इतिहासो का यथाशक्ति जप करे।[4]

### 5 2 2. पितृयज्ञ :

पितृयज्ञ के अन्तर्गत मनुष्य पितरो अर्थात् पूर्वजो के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता था, क्योकि ऐसा विश्वास किया जाता था कि प्रत्येक व्यक्ति पर पितरो के भी ऋण थे। यह ऋण पितृयज्ञ के सम्पादन के बाद ही समाप्त होता था। श्राद्ध के अवसर पर पितरो को पिण्ड तर्पण आदि प्रदान किया जाता था। श्राद्ध और पिण्ड करने का अधिकार पुत्र को ही था। इसलिए पितृ ऋण श्राद्ध पितृयज्ञ गृहस्थ आश्रम मे ही सम्भव था। गोभिलस्मृति मे कहा गया है कि पितरो का तर्पण, बलिहरण अथवा श्राद्ध पितृयज्ञ के अन्तर्गत सम्पन्न किया जाता था।[5]

### 5.2.3. देवयज्ञ :

इस यज्ञ मे देवताओं का पूजन अर्चन किया जाता था, तथा बलि और अग्नि की आहुति देकर देवताओ के प्रति श्रृद्धा प्रकट की जाती थी। तैत्तिरीयारण्यक के अनुसार देवयज्ञ का सम्पादन अग्नि मे समिधा डालने से होता है।[6] यह विश्वास किया जाता रहा है कि गृहस्थ के पास जो भी सुख सुविधा का साधन है, वह सब ईश्वर प्रदत्त है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य था कि वह देवताओ के प्रति आभारी रहे। आहुति प्रदान करने से मनुष्य का मगल और कल्याण होता था। मनु के अनुसार द्विज के लिए दैव हवन अनिवार्य कर्त्तव्य था, क्योंकि दैव–कर्म (हवन) करता हुआ द्विज इस चराचर जगत् को धारण (पोषण) करता

---

[1] तैत्ति०आ० 2/11
[2] तैत्ति० आ० 2/12
[3] आ०ध०सू० 1/3/11/19, आश्व०गृ०सू० 9/3/4/6
[4] याज्ञ० 1/101
[5] गोभिलस्मृति – 2/8
[6] तैत्ति० आ० 2/10

है, और निष्ठा और विधिपूर्वक अग्नि मे छोडी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है, सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा होती है।[1] इस प्रकार प्रजाओ की उत्पत्ति का मूल कारण हवन ही है इसलिए प्रतिदिन विधिपूर्वक हवन करना चाहिए। यह यज्ञ पत्नी के बिना सम्भव नही है अत विवाहित होकर गृहस्थ बनना आवश्यक है। बौधायनधर्मसूत्र तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार यज्ञ मे आहुति देते समय इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, सोम, पृथ्वी आदि देवताओ के नाम लेकर स्वाहा शब्द के उच्चारण के साथ एक समिधा डालना देवयज्ञ है।[2] मनु ने कहा है कि ब्रह्मचारी को मूर्तियो का पूजन तथा प्रात एव साय काल हवन करना चाहिए, और देव प्रतिमा की छाया को लॉघना नही चाहिए।[3] मनु ने यह भी कहा है कि साक्षियो को देव प्रतिमाओ एव ब्राह्मणो के समक्ष शपथ लेनी चाहिए।[4]

## 5 2 4. भूतयज्ञ या बलिहरण :

भूतयज्ञ के माध्यम से समस्त प्राणियो के प्रति बलि प्रदान की व्यवस्था की गई है। विघ्नकारी और अनिष्टकारी प्रेतात्माओ की तुष्टि के लिए भूतयज्ञ सम्पन्न किया जाता था। आश्वलायनगृहसूत्र मे कहा गया है कि देवताओ को बलि (या वैश्यदेव करते समय पक्वान्न का एक अश) दी जाती है – देवयज्ञ वाले देवताओ जलो, जडी–बूटियो, वृक्षो, घर, घरेलू देवताओं (कुल देवताओं) जहॉ घर बना रहता है उस स्थल के देवताओ, इन्द्र तथा उसके अनुचरो, यम तथा उसके अनुचरो, वरुण तथा सोम तथा उसके अनुचरो (कई दिशाओ में), ब्रह्मा तथा ब्रह्मा के अनुचरो (मध्य में), विश्वदेवो, दिन मे चलने वाले सभी प्राणियो एव उत्तर मे राक्षसो को बलि दी जाती है। 'पितरो को स्वधा' शब्दो के साथ शेषाश दक्षिण मे छोड दिया जाता है। बलिहरण करते समय जनेऊ को दाहिने कधे पर रखना चाहिए। जब बलिहरण रात्रि मे हो तो दिन मे चलने वाले सभी प्राणियो के स्थान पर रात्रि मे चलने वाले सभी प्राणियो को बोलकर बलि देना चाहिए।[5] आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे कहा गया है कि भूतयज्ञ मे बलि अग्नि में न देकर पृथिवी पर दी जाती है, पहले भू स्थल हाथ से स्वच्छ कर दिया जाता है, वहॉ जल छिडक दिया जाता है , तब बलि रखकर उस पर जल छोडा जाता है।[6]

याज्ञवल्क्य ने गृहस्थो से कहा है कि वे कुत्तो, चाण्डालो एव कौओ को बलि पृथिवी पर ही दे।[7] मनु के अनुसार वैश्यदेव के उपरान्त सभी दिशाओ में इन्द्र, यम, वरुण, सोम तथा उनके अनुचरों को, द्वार पर मरुतों को, जल को, वृक्षों को, वास्तु पुरुष के मस्तक प्रदेश पर उत्तरपूर्व में श्री (लक्ष्मी) को, भद्रकाली को घर के मध्य में ब्रह्मा तथा वास्तोष्पति को, गृह के ऊपर (आकाश) की ओर विश्वदेवों को, दिन में चलने वाले प्राणियो को (जब बलिहरण दिन में किया जाता है) और रात्रि में चलने वाले प्राणियों को बलि दी जाती है।

---

[1] मनु0 3/75–76
[2] बौ0ध0सू0 2/6/4, आप0ध0सू0 1/4/13/1
[3] मनु0 2/176, 4/39 – 130
[4] मनु0 8/87
[5] आश्व0 गृ0सू0 1/2/3–11
[6] आप0ध0सू0 2/2/3/15
[7] याज्ञ0 1/103

घर के ऊपरी छत पर सबकी भलाई के लिए बलि देनी चाहिए, दक्षिण मे वलिका शेषाश पितरो को देना चाहिए। गृहस्थ को चाहिए कि बहुत सावधानी तथा धीरे से (जिससे धूल भोजन मे न जा सके) कुत्तो, पतित, चाण्डाल, पापजन्य, कौवा, कीडा को बलि पृथिवी पर ही दे।[1] आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार कुत्तो एव चाण्डालो को वैश्वदेव का पक्वान्न देना चाहिए।[2] मनु ने कहा है कि स्त्रियाँ बिना मन्त्रोच्चारण के सायकाल और प्रात काल की बलि दे सकती है। किन्तु वे देवताओ का ध्यान कर सकती है।[3] इस बलि का मुख्य उद्देश्य सबके साथ मिलकर और सबको खिलाकर खाने की भावना थी।

### 5.2.5. नृयज्ञ या मनुष्ययज्ञ :

इसे अतिथि यज्ञ भी कहते हैं। अतिथि–सत्कार गृहस्थ का प्रधान कर्त्तव्य ही नहीं बल्कि धर्म भी पाया गया है। ऋग्वेद मे आया है– 'तुम उसके रक्षक एव मित्र बनो, जो तुम्हे विधिवत आतिथ्य देता है।[4] ऐतरेय ब्राह्मण मे आया है – जो अच्छा है और प्रसिद्धि पा चुका है वह वास्तविक अतिथि है, अयोग्य व्यक्ति का लोग आतिथ्य नही करते हैं।[5] तैत्तिरीय सहिता मे कहा गया है कि "अतिथि देवो भव" अर्थात् अतिथि देवता के समान होता है।[6] अतिथि चाहे किसी भी जाति का क्यो न हो, वह सत्कार के योग्य माना गया था। मनु एव पराशर ने अतिथि की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है अतिथि उसे कहा जाता है जो पूरे दिन (तिथि) नही रुकता है, या एक रात ठहरने वाला ब्राह्मण अतिथि कहा गया है क्योकि आने तथा रुकने की तिथि (समय) का निश्चय नहीं रहने से वह अतिथि कहा जाता है।[7] बौधायन गृहसूत्र तथा वसिष्ठ धर्म सूत्र मे कहा गया है कि बलिहरण के उपरान्त गृहस्थ को अपने घर के आगे अतिथि के स्वागत के लिए उतनी देर तक रास्ता देखनी चाहिए जितनी देर मे गाय दुह ली जाती है।[8] गौतम, मनु तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार वही व्यक्ति अतिथि है जो दूसरे ग्राम का है, एक ही रात्रि रहने के लिए सन्ध्याकाल मे पहुँचता है, वह जो खाने के लिए पहले से ही आमन्त्रित है अतिथि नहीं कहलाता है इसके साथ ही एक ग्राम का वासी, मित्र या सहपाठी अतिथि नही कहलाता है। अपनी सामर्थ्य के अनुसार अतिथि सत्कार करना चाहिए, अतिथि का सत्कार वर्णों के क्रम के अनुसार होना चाहिए, और ब्राह्मणों में श्रोत्रिय को या उसे जिसने कम से कम एक वेद पढ़ लिया है अपेक्षाकृत पहले सम्मान देना चाहिए।[9] मनु ने यह भी कहा है कि जो अतिथि को नहीं खिलाया जाय ऐसे घी, दूध, मिठाई आदि पदार्थ को गृहस्थ को नहीं खाना चाहिए क्योंकि अतिथि पूजन करना धन, आयु, यश तथा स्वर्ग का निमित्त होता है। बहुत से अतिथियो के एक साथ आगमन पर आसन, विश्रामस्थान, शय्या,



[1] मनु0 3/87–93
[2] आप0ध0 सूत्र 2/4/9/5–6
[3] मनु0 3/121
[4] ऋ0 – 4/4/10
[5] ऐत0ब्रा0 3/4
[6] तैत्ति0 सं0 2/11/2/2
[7] मनु0 3/102, पराशर – 1/42
[8] बौधा0गृ0सू0 2/9/1–2, वसि0 11/6
[9] गौ0ध0सू0 5/36, मनु0 3/102–103, याज्ञ0 1/107, 111

अनुगमन और सेवा ये सब सत्कार बडो का अधिक, मध्यम श्रेणी वालो का मध्यम, तथा निम्न श्रेणी वालो का कम करना चाहिए।[1] गौतम तथा मनु के मत से क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र मित्र, बान्धव और गुरु ब्राह्मण के अतिथि नही कहे जाते है, यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण के घर अतिथि के रूप मे चला जाता है (यात्री के रूप मे, पास मे जब भोजन सामग्री न हो तथा भोजन के समय आ गया हो) तो उसका सम्मान ब्राह्मण अतिथि के उपरान्त होता है तथा वैश्यो एव शूद्रो को भोजन घर के नौकरो के साथ दिया जाना चाहिए।[2] पराशर मे कहा गया है कि जब वह व्यक्ति, जिसे गृहस्थ घृणा की दृष्टि से देखता है या जो मूर्ख है, भोजन के समय उपस्थित हो तो गृहस्थ को भोजन देना चाहिए।[3] किन्तु याज्ञवल्क्य एव मनु ने इसके सम्बन्ध मे कहा है कि अतिथि आतिथ्यकर्ता का विद्वेषी है तो उसे भोजन नही कराना चाहिए और न ऐसे आतिथ्यकर्ता का भोजन करना चाहिए जो चिकित्सक, रोगी, क्रोधी, व्यभिचारिणी, अभिमानी, शत्रु, क्रूर, उद्धत, पतित, व्रात्य, धोखेबाज और जूठा भोजन करने वाला होता है।[4]

आपस्तम्ब, गौतम तथा मनु के अनुसार आगे बढकर स्वागत करना, पैर धोने के लिए जल देना, आसन देना, दीपक जलाकर रख देना, भोजन एव ठहरने का स्थान देना, व्यक्तिगत ध्यान देना, सोने के लिए शय्या देना, और जाते समय कुछ दूर तक पहुँचा देना, आतिथ्य सत्कार के नियम हैं।[5] आपस्तम्बधर्मसूत्र मे कहा गया है कि यदि वेद न जानने वाला ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य घर पर आ जाय तो उसे आसन, जल एव भोजन देना चाहिए, किन्तु उठकर स्वागत नहीं करना चाहिए, लेकिन यदि शूद्र अतिथि बनकर ब्राह्मण के घर आये तो ब्राह्मण को उससे काम लेकर ही भोजन देना चाहिए, किन्तु यदि उसके पास कुछ न हो तो उसे अपना दास बनाकर राजकुल को भेजकर सामग्री मँगानी चाहिए।[6] बौधायन धर्म सूत्र मे कहा गया है कि जो व्यक्ति अतिथि को एक रात अपने घर मे ठहराता है वह पृथ्वी के सुख को प्राप्त करता है, अगर दो रात ठहराता है तो अन्तरिक्ष लोको की विजय प्राप्त करता है, अगर तीन रात ठहरता है तो वह स्वर्गीय लोको को प्राप्त करता है, और अगर चार रात ठहरता है तो असीम आनन्द को प्राप्त करता है, यदि अतिथि को अनेक रात ठहराता है तो वह अनेक सुखों को प्राप्त करता है।[7] मनु के अनुसार यदि कुछ अतिथियों के खा लेने पर अन्य अतिथि आ जाय तो पुन भोजन बनवाना चाहिए, किन्तु इस बार वैश्यदेव एव बलिहरण आवश्यक नहीं है।[8] आपस्तम्ब, बौधायन, मनु, याज्ञवल्क्य के मतानुसार गृहस्थ तथा उसकी पत्नी को चाहिए कि वे मित्रो, सम्बन्धियो एव नौकरो को खिलाकर ही स्वय खाय, उन्हे अतिथियों आदि को खिलाने के लिए नौकरो के भोजन में कटौती नहीं करनी चाहिए। जो अन्य लोगों की परवाह न करके स्वय खाता है वह केवल अपने

---

[1] मनु0 3/106–107
[2] गौ0ध0सू0 5/39–42, मनु0 3/110–112
[3] पराशर – 1/40
[4] याज्ञ0 1/162, मनु0 4/213
[5] आप0 2/3/6/7–15, गौ0 5/29–34 मनु0 3/99–107
[6] आप0ध0सू0 2/2/4/16–21
[7] बौध0 2/3/68/21–22
[8] मनु0 3/105, 108

पापो को निगलता है, किन्तु जो देवताओ, प्राणियो, पितरो एव अतिथियो को खिलाकर खाता है, वही वास्तविक रूप से खाता है।[1]

इस प्रकार तीन ऋण तथा पॉच महायज्ञ गृहस्थ आश्रम मे व्यक्ति के सामाजिक, धार्मिक और सास्कृतिक पक्ष को विकसित करने वाला, तथा लौकिक एव पारलौकिक सुख को प्रदान करने वाला था। इनके माध्यम से व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत उन्नति तो करता ही था, साथ ही साथ वह समाज के प्रति अपने दायित्वो का भी धर्मपूर्वक निर्वाह करता था। गृहस्थाश्रम मे धर्मसगत आचरण करता हुआ मनुष्य अर्थ एव काम की प्राप्ति एव उपभोग करता था। जो व्यक्ति गृहस्थ होकर निरन्तर इन यज्ञो के पालन मे व्यस्त रहता था वे आत्मशुद्धि और मानस् परिष्कार के सही मार्ग का दिग्दर्शन कर लेता था। मनुष्य को धर्म के प्रति सचेष्ट करना इसकी प्रधान भावना थी। मानव जीवन के विविध उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए गृहस्थाश्रम ही कर्म भूमि था। यह साधना किसी अन्य आश्रम मे सम्भव नही था। इसी कारण प्राचीन धर्म ग्रन्थो मे इस आश्रम को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया।

## 5.3 वानप्रस्थ आश्रम :

गृहस्थाश्रम मे कर्त्तव्यो को भली भॉति पूराकर लेने के उपरान्त मनुष्य वानप्रस्थ मे प्रवेश करता था। यहॉ व्यक्ति गार्हस्थ्य के कर्त्तव्यो से मुक्त तथा सासारिक मोहमाया को त्याग कर रहता था। वानप्रस्थाश्रम का विधान केवल द्विजो के लिए ही था। उपनिषद् युग मे वानप्रस्थ जीवन का प्रसार हुआ। गृहस्थ जीवन के पश्चात् लोग वन मे जाकर एकान्त का जीवन व्यतीत करते थे और अपने ज्ञान तथा विचार की अभिवृद्धि करते थे। गौतम ने वानप्रस्थ के लिए वैखानस शब्द प्रयुक्त किया है।[2] बौधायन का मत है कि वैखानस के शास्त्रगत नियमो का पालन करने वाला ही वानप्रस्थी है।[3] मनु के अनुसार जब व्यक्ति के सिर के बाल श्वेत होने लगे, शरीर पर झुर्रियॉ पडने लगे और जब उसके पुत्रो के पुत्र हो जाय तो उसे वन की ओर प्रस्थान करना चाहिए।[4] वानप्रस्थी वन मे अकेला जाय या सपत्नीक यह उसके जीवन निर्लिप्तता पर निर्भर करता था। किन्तु इस विषय पर मनु एव याज्ञवल्क्य का कहना है कि वन मे वह अपनी पत्नी के साथ या उसे पुत्रों के आश्रम मे छोडकर जा सकता था।[5] किन्तु मेघातिथि ने कहा है कि यदि पत्नी युवती हो तो वह पुत्रो के अधीन रह सकती थी, और बूढी हो तो वह पति का अनुसरण कर सकती थी। साधारण यज्ञों में पत्नी का सहयोग आवश्यक माना गया था, किन्तु जब वह अपने पुत्रों के साथ रह सकती थी, तो यज्ञों में उसके सहयोग की बात नहीं उठायी जा सकती।

---

[1] आप० 2/4/9/10, बौध० 2/3/19 मनु० 3/113 116–118, याज्ञ० 1/105, 108
[2] गौ०ध०सू० 3/2
[3] बौ०ध०सू० 3/6/19
[4] मनु० 6/2
[5] मनु० 6/3, याज्ञ० 3/45

मनु एव याज्ञवल्क्य के अनुसार वन मे पहुँच जाने पर व्यक्ति को अमावस्या–पूर्णिमा के दिन श्रौत यज्ञ करने चाहिए, नक्षत्रयाग, आग्रहायणयाग, चातुर्मास्ययाग, उत्तरायणयाग और दक्षिणायन याग को श्रौतस्मार्त विधि सम्पन्न करे।[1] यज्ञ के लिए भोजन वन मे उत्पन्न होने वाले नीवार नामक अन्न से बनाना चाहिए। मनु एव याज्ञवल्क्य के मतानुसार वानप्रस्थ को अपने शरीर मे ही पवित्र अग्नियो को स्थापित कर वाह्य रूप से उनका त्याग कर देना चाहिए।[2] गौतम तथा मनु ने कहा है कि वानप्रस्थ को अपने गॉव वाला भोजन तथा गृहस्थी के सामान (गाय, अश्व) का त्याग कर देना चाहिए और फूल, फल, कन्द–मूल पर तथा वन मे या पानी मे उगने वाली वनस्पतियो या यतियो के योग्य नीवार, श्यामाक (सॉवा) आदि अनाजो पर निर्भर रहना चाहिए।[3] किन्तु वानप्रस्थ के लिए मनु ने यह भी कहा है कि उसे मधु, मास, पृथिवी पर उगने वाले कुकुरमुत्ता, भूस्तृण, शिग्रुक तथा श्लेष्मातक फल का सेवन नही करना चाहिए, लेकिन अपने द्वारा बनाये हुए नमक को खा सकता है।[4] गौतम ने कुछ नहीं मिलने पर मासभोजी पशुओ द्वारा मारे गये पशुओ के मास के सेवन की व्यवस्था दी है। याज्ञवल्क्य तथा मनु के अनुसार फल मूल के सर्वथा अभाव हो जाने पर वानप्रस्थाश्रमी जीवन निर्वाह के लिए केवल तपस्वी वानप्रस्थाश्रमियो के यहॉ भिक्षाग्रहण करे और इनका भी अभाव होने पर ग्राम से भिक्षा लाकर केवल आठ ग्रास भोजन करने की छूट दी गयी।[5] वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य तथा मनु ने कहा है कि वानप्रस्थाश्रयी को प्रात मध्यान्ह एव सायकाल तीन बार स्नान करना चाहिए, किन्तु अन्यत्र मनु ने कहा प्रात एव साय दो बार ही स्नान करे।[6] मृग आदि का चर्म या पेडो का वल्कल धारण करना चाहिए और सर्वदा जटा, दाढी–मूँछ एव नख को धारण करे (क्षौर कर्म न कराये)। ऐसा गौतम, वसिष्ठ तथा मनु का मानना है।[7] मनु तथा याज्ञवल्क्य का यह भी कथन है कि उसे वेदाध्ययन मे श्रद्धा रखनी चाहिए और वेद का मौन पाठ करना चाहिए उसे सयमी, आत्मनिग्रही, हितैषी, सचेत तथा उदार होना चाहिए, उसे हल से जोते हुए खेत के अन्न का, चाहे वह कृषक द्वारा छोड ही क्यो न दिया गया हो, उपयोग नहीं करना चाहिए, और न गॉवो मे उत्पन्न फलो एव कद–मूलो का प्रयोग करना चाहिए। वह वन मे उत्पन्न अन्न को पका सकता है या जो स्वय पक जाय (यथा फल) उसे खा सकते हैं या अन्न को पत्थरो से कुचलकर खा सकता है, अपने दॉतो से छीलकर खा सकता है, वह अपने भोजन तथा धार्मिक कृत्यों में घी का प्रयोग नही कर सकता, केवल वन मे उत्पन्न होने वाले तेल का ही प्रयोग कर सकता है।[8] विष्णुधर्म सूत्र तथा मनु के अनुसार वानप्रस्थ रात या दिन मे या एक दिन पूरा उपवास कर या दो या तीन दिनों के अन्तर पर खा सकता है।[9] मनु एव याज्ञवल्क्य ने कहा है कि केवल वन में उत्पन्न फलो, कन्दमूलों फूलों को खा सकता है

---

[1] मनु0 6/4 9–10 याज्ञ0 3/45
[2] मनु0 6/25 याज्ञ0 3/45
[3] मनु0 6/5, गौ0 3/26 एवं 28
[4] मनु0 6/14, 6/12
[5] मनु0 6/27–28, याज्ञ0 3/54
[6] वसिष्ठ0 9/9, याज्ञ0 3/48, मनु0 6/22 एवं 24, 6/6
[7] गौ0 3/34, मनु0 6/6, वसिष्ठ0 9/11
[8] मनु0 6/8, 26,16,17, याज्ञ0 3/46, 45, 49
[9] विष्णु0 95/5–6, मनु0 6/19

या अपनी सामर्थ्य के अनुसार एक पक्ष के उपरान्त खा सकता है।[1] वानप्रस्थ को केवल जल या वायु पर ही निर्भर रहना चाहिए, किसी घर मे रहना बन्द कर पेड के नीचे निवास करना चाहिए और केवल फलो एव कन्द मूलो पर निर्वाह करना चाहिए, रात्रि मे उसे खाली पृथ्वी पर शयन करना चाहिए, जागरण की दशा मे बैठकर या चलते हुए या योगाभ्यास करते हुए समय बिताना चाहिए। उसे आनन्द लेने वाली वस्तु के सेवन से दूर रहना चाहिए, ऐसा आपस्तम्ब, विष्णु, याज्ञवल्क्य तथा मनु का मन्तव्य है।[2] वानप्रस्थ को भोजन सामग्री एक दिन के लिए या एक मास या केवल एक वर्ष के लिए एकत्र करनी चाहिए और प्रति वर्ष एकत्र की हुई सामग्री आश्विन मास मे वितरित कर देनी चाहिए। यह व्यवस्था आपस्तम्ब, मनु एव याज्ञवल्क्य मे प्राप्त होती है।[3] मनु तथा याज्ञवल्क्य के मतानुसार वानप्रस्थ पचाग्नि (चारो दिशाओ मे चार अग्नि एव ऊपर सूर्य) के बीच बैठकर, वर्षा मे बाहर खडे होकर, जाडे मे भीगे वस्त्र धारण कर कठिन तपस्या करनी चाहिए और अपने शरीर को भॉति–भॉति के कष्ट देकर अपने को सब कुछ सह लेने का अभ्यासी बनाना चाहिए। यदि वानप्रस्थ किसी असाध्य रोग से पीडित है अपने कर्त्तव्य नहीं कर पाता और अपनी मृत्यु को पास में आयी हुई समझता है, तो उसे उत्तर पूर्व की ओर मुख करके महाप्रस्थान करना चाहिए और केवल जल एव वायु पर रहना चाहिए और तब तक चलते रहना चाहिए जब तक शरीर पात नही हो जाता है।[4] वानप्रस्थ अपने शरीर की पवित्रता, ज्ञानवर्धन एव मोक्ष पद प्राप्ति के लिए उपनिषदो का पाठ करना चाहिए।

वानप्रस्थ जीवन मे व्यक्ति त्याग, तप, अहिसा और ज्ञान का अर्जन करता था। उसका प्रधान उद्देश्य था आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा समस्त भौतिक स्पृहाओ से मुक्ति पाने का उपक्रम। विद्या, शरीर की शुद्धि और तपस्या की वृद्धि के लिए वानप्रस्थ का सेवन किया जाता था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह सयमित और कठोर जीवन का अनुपालन करता था। वह अपने तपशील, क्षमाशील, दानशील, आचरणशील और सत्यशील व्यक्तित्व का निर्माण करता था। वह अपने पारिवारिक कर्त्तव्यो से मुक्त होकर भी अतिथियो आदि की सेवा से सम्बन्धित सामाजिक कर्तव्यो के प्रति जागरूक था, किन्तु ये सामाजिक कर्त्तव्य उसके भावी जीवन मे बाधक नहीं थे, बल्कि उसकी साधना में सहायक ही थे।

## 5.4. संन्यास आश्रम :

यदि मनुष्य वानप्रस्थ आश्रम को सफलतापूर्वक कर लेता और जीवित रह जाता था तो वह अन्तिम आश्रम सन्यास में प्रवेश करता था। पुरुषार्थ के अन्तिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति संन्यास आश्रम के माध्यम से ही सम्भव थी। सन्यास शब्द का तात्पर्य भी पूर्ण त्याग से है। वसिष्ठ ने सन्यासी के लिए परिव्राजक शब्द

---

[1] मनु० 6/20–21 याज्ञ० 3/50
[2] आप० 2/9/23/2, 2/9/21/20 विष्णु० 95/7–12, याज्ञ० 3/54 एवं 51, मनु० 6/31, 6/25, 6/22 एवं 26
[3] आप० 2/9/22/24, मनु० 6/15, याज्ञ० 3/47
[4] मनु० 6/23, 34, 31, याज्ञ० 3/52,55

का प्रयोग किया है।[1] गौतम ने सन्यासी को भिक्षु और यति भी कहा है। यही शब्द वायु पुराण मे भी सन्यासी के लिए आया है।[2] विष्णु पुराण मे सन्यासी को परिवात् की सज्ञा दी गयी है।[3] वैदिक ग्रन्थो मे उसके लिए यति शब्द का प्रयोग हुआ है। मनु तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार सन्यास आश्रम ग्रहण करने के लिए व्यक्ति को प्रजापति के लिए यज्ञ करना पडता है, अपनी सारी सम्पत्ति पुरोहितो, दरिद्रो एव असहायो मे बॉट देनी होती है।[4]

बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार वह गृहस्थ जिसे सन्तान न हो, जिसकी पत्नी मर गई हो या जिसके लडके ठीक से धर्म–मार्ग मे लगे हो, और जो सत्तर वर्ष से अधिक अवस्था को पार कर चुका हो सन्यासी हो सकता है।[5]

मोक्ष प्राप्ति के लिए सन्यास आश्रम की सहायता आवश्यक थी। किन्तु अनुत्तरदायी व्यक्ति गृहस्थ जीवन के कर्तव्यो को पूर्ण रूप से पालन करने के कारण सन्यास आश्रम को अपनाने का अधिकारी नही था। मनु ने इस सम्बन्ध मे कहा है, कि मनुष्य तीन ऋणो (देव ऋण, पितृ ऋण और ऋषि ऋण) को सम्पन्न करने के बाद ही अपने मन को मोक्ष की ओर लगाये। बिना उन ऋणो को पूरा किये मोक्ष का सेवन (सन्यास का पालन) करने वाला व्यक्ति नरक को जाता है।[6] वसिष्ठ तथा मनु के मतानुसार सन्यासी को घर, पत्नी, पुत्रो एव सम्पत्ति का त्याग करके गॉव के बाहर रहना चाहिए उसे बेघर का होना चाहिए, जब सूर्यास्त हो जाय तो पेडो के नीचे या परित्यक्त घर मे रहना चाहिए, और सदा एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलते रहना चाहिए, वह केवल वर्षा के मौसम मे एक स्थान पर ठहर सकता है।[7] गौतम, याज्ञवल्क्य तथा मनु के अनुसार सन्यासी का बिना जीवो को कष्ट दिये घूमना–फिरना चाहिए, उसे अपमान के प्रति उदासीन रहना चाहिए, यदि कोई क्रोधी उससे क्रोध प्रकट करे तो क्रोधावेश मे नहीं आना चाहिए, यदि उसका कोई बुरा करे तो भी उसे कल्याणप्रद शब्दो का उच्चारण करना चाहिए और उसे कभी भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिए।[8] सन्यासी को ब्रह्मचारी होना चाहिए और सदा ध्यान एव आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति भक्ति रखनी चाहिए, चलते समय उसे अपनी दृष्टि इधर–उधर नहीं डालनी चाहिए बल्कि उसे अपने पैरों की ओर दृष्टि गडाकर भूमि की ओर देखना चाहिए। सासारिक आकर्षणो से विरक्त होकर उसे अविक्षिप्त दृष्टि रखना चाहिए।

मनु, याज्ञवल्क्य तथा वसिष्ठ के अनुसार सन्यासी को सध्या के समय भिक्षा मॉगनी चाहिए, जबकि रसोई घर से धूम का निकलना बन्द हो चुका हो, अग्नि बुझ चुकी हो, बरतन आदि अलग रख दिये गये हों। सन्यासी को भरपेट भोजन नहीं करना चाहिए, उसे केवल उतना ही पाना चाहिए जिससे वह अपने शरीर एव

---

[1] वसि० ध०सू० – 10/1, 10/3
[2] गौ०ध०सू० – 1/3/2, वायु०पु० 59/25, 104/12
[3] विष्णु पु० 3/18/37
[4] मनु० 6/38, याज्ञ० 3/56
[5] बौधायन – 2/10/3–6
[6] मनु० 6/35
[7] वसिष्ठ० 10/12–15, मनु० 6/41, 43–44
[8] गौ०ध०सू० 3/23, याज्ञ० 3/61, मनु० 6/40, 47–48

आत्मा को एक साथ रख सके, उसे अधिक पाने पर न तो सन्तोष या प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए और न कम मिलने पर निराशा होनी चाहिए।[1] मनु ने सन्यासी के विषय मे यह भी कहा है कि उसे न तो भविष्यवाणी करके, शकुनयशकुन बताकर, ज्योतिष का प्रयोग करके, विद्या, ज्ञान आदि के सिद्धान्तो का उद्घाटन करके और न विवेचन आदि करके भिक्षा मॉगने का प्रयत्न करना चाहिए, उसे ऐसे घर मे भी नही जाना चाहिए जहॉ पहले से ही यति लोग, ब्राह्मण, पक्षी एव कुत्ते, भिखारी या अन्य लोग आ गये हो।[2] याज्ञवल्क्य ने सत्य, अस्तेय, अक्रोध, लज्जा, विवेक, धैर्य, दम (मदत्याग) इन्द्रियो का सयम और विद्या सन्यासी का धर्म कहा है।[3] मनु तथा याज्ञवल्क्य के मतानुसार सन्यासी का भिक्षापात्र तथा जलपात्र मिट्टी, लकडी, तुम्बी या बिना छिद्रवाले बॉस का होना चाहिए, किसी भी दशा मे धातु का पात्र प्रयोग नही करना चाहिए, उसे अपना जलपात्र या भोजन पात्र जल से या गाय के बालो से घर्षण करके स्वच्छ रखना चाहिए। सन्यासी को वैराग्य की उत्पत्ति एव अपनी इन्द्रियो के निग्रह मे यह सोचना चाहिए कि यह शरीर रोगपूर्ण है और एक न एक दिन बूढा होगा, यह भॉति–भॉति के अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है। उसे इस ससार की क्षणभगुरता पर ध्यान देना चाहिए, उसे गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक की अनगिनत परेशानियो तथा जन्म मरण के अजस्र प्रवाह की कल्पना करते रहना चाहिए।[4] सन्यासी को प्राणायाम एव योगागो द्वारा अपने मन को पवित्र रखना चाहिए जिससे वह ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर अन्त मे मोक्ष पद प्राप्त कर ले।

इस प्रकार सन्यासी का जीवन अत्यन्त तपस्या और कठोरता का था। पर उद्देश्य, मोक्ष की प्राप्ति के लिए वह अपने शरीर और मन को दृढतापूर्वक तपाता था। समस्त भौतिक और सासारिक पदार्थों के प्रति अनासक्त होकर वह मनोनिवेशपूर्वक अपने उद्देश्य, मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधनारत रहता था। ब्रह्म के प्रति पूर्ण आस्थावान होकर वह निवृत्ति नियमो का अनुसरण करता था। सासारिक दुष्वृत्तियो, भौतिक बन्धनो और पारिवारिक सम्बन्धो को त्यागकर वह विशाल जगत् की प्रकृति मे अवस्थित तथा एकाग्र मन से भक्तिनिष्ठा होकर जगन्नियता का अहर्निश ध्यान करता था। समाज मे पूर्णत अलग होकर भी अपने दृढ अनुशासन, सयम, तपश्चर्या, निवृत्ति, अहिसा और विराग से समाज को सही मार्ग का निर्देशन करता था।

इस प्रकार आश्रम व्यवस्था का विधान व्यक्ति तथा समाज के सर्वांगीण विकास के लिए किया गया था। व्यक्ति के भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग इन आश्रमों द्वारा प्रशस्त होता था जहॉ प्राप्त प्रशिक्षण के आधार पर व्यक्ति अपने जीवन में आचरण करता था। इन आश्रमों के माध्यम से व्यक्ति अपने सामाजिक कर्त्तव्यो के विषय में जानकारी प्राप्त करता था तथा उसी के अनूसार जीवन में आचरण करता था।

---

[1] मनु० 6/56–57, याज्ञ० 3/59, वसि० 10/8, 10/21–22
[2] मनु० 6/50–51
[3] याज्ञ० 3/66
[4] मनु० 6/53–54, 6/76–77, याज्ञ० 3/60, 3/63–64

## 6. संस्कार

प्राचीन काल से हिन्दू समाज मे मनुष्य के व्यक्तित्व के उत्थान के निमित्त सस्कारो का सयोजन किया गया था। सस्कार का साधारणत अर्थ शुद्धि, परिष्कार अथवा स्वच्छता से है। मनुष्य का जीवन सस्कार से ही परिशुद्ध होता है। जीवात्मा जब एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर मे जन्म लेता है तो उसके पूर्वजन्म के प्रभाव उसके साथ जाते है। इन प्रभावो का वाहक सूक्ष्म शरीर होता है जो जीवात्मा के साथ एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर मे जाता है। इन प्रभावो मे कुछ अच्छे तथा कुछ बुरे होते हैं। बालक इन अच्छे और बुरे प्रभावो को लेकर नए जीवन मे प्रवेश करता है। सस्कारो का उद्देश्य पूर्व जन्म के बुरे प्रभावो का धीरे–धीरे अन्त हो जाए और अच्छे प्रभावो की उन्नति के लिए होता है। मानव का सम्पूर्ण जीवन इन्हीं सस्कारो से आवृत रहा है, जो समय–समय पर कार्यान्वित किये जाते रहे है। जन्म से लेकर मृत्यु तक सारा जीवन विभिन्न सस्कारो से शुद्ध और पवित्र होता रहा है। शरीर और आत्मा की शुद्धि और पवित्रता सस्कारो के सम्पादन से ही सम्भव था क्योकि सस्कारो को सम्पन्न किये बिना व्यक्ति का जीवन अपवित्र, अपूर्ण और अव्यवस्थित था। जीवन को विविध बाधाओ और विघ्नो से दूर रखना सस्कारो का मूल रहा है।

सस्कार शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से धञ् प्रत्यय लगने से बनता है जिसका अर्थ शुद्धता अथवा पवित्रता से है। प्राचीन भारत मे सस्कार का आधार धर्म था तथा यह विचार व्यापक रूप मे प्राप्त होता था कि सस्कार द्वारा मनुष्य जीवन को उन्नत, परिष्कृत तथा सुसस्कृत बनाया जाता है। इसी धार्मिक आधार के कारण सस्कार मे यज्ञ, हवन तथा कर्मकाण्ड की प्रधानता रही, देवताओ को प्रसन्न करके उनके आशीर्वाद तथा अनुकम्पा द्वारा जीवन को सुखमय बनाने के लिए विभिन्न सस्कारो की प्रतिष्ठा की गयी।

सस्कारो का विधान भौतिक समृद्धि यथा–पशुधन, पुत्र, शक्ति, दीर्घायु, बुद्धि, सम्पत्ति आदि की प्राप्ति के उद्देश्य से भी किया गया था ऐसी मान्यता थी कि प्रार्थनाओ के द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छाओ को देवताओ तक पहुँचाता है तथा देवता उसे भौतिक समृद्धि की वस्तुये प्रदान करते हैं। सस्कारो के माध्यम से मनुष्य अपने हर्ष एव दु ख की भावनाओ को प्रकट करता था। पुत्र जन्म, विवाह आदि के अवसर पर आनन्द एव उल्लास को व्यक्त किया जाता था। बालक को जीवन मे मिलने वाली प्रत्येक उपलब्धि पर उसके परिवार के लोग खुशियॉ मनाते थे। इसी प्रकार मृत्यु के अवसर पर शोक व्यक्त किया जाता था। मनु ने कहा है कि अध्ययन, व्रत, होम, यज्ञ, पुत्रोत्पत्ति से शरीर ब्रह्ममय हो जाता है।[1] यह भी कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति जन्मना शूद्र होता है, सस्कारों से द्विज कहा जाता है, विद्या विप्रत्व प्राप्त करता है तथा तीनों के द्वारा श्रोत्रिय कहा जाता है। जीवन के प्रत्येक चरण में सस्कार मार्ग दर्शन का काम करते हैं। उपनयादि सस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति को शिक्षित एव सुसस्कृत बनाना है। विवाह के माध्यम से वह पूर्ण गृहस्थ बन जाता था देश और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निष्ठापूर्वक निर्वाह करता है। सभी सस्कारों के साथ धार्मिक क्रियायें सम्बद्ध रहती थीं। इन्हें सम्पन्न करके मनुष्य भौतिक सुख के साथ आध्यात्मिक सुख प्राप्त करने की

---

[1] मनु० 2/28

भी कामना रखता था। उसे यह अनुभूति होती थी कि जीवन की समस्त क्रियाये आध्यात्मिक सत्य को प्राप्त करने के लिए है।

सस्कारो का प्रचलन वैदिक युग से ही रहा है, किन्तु इसका विवरण हमे वैदिक साहित्य मे नही प्राप्त होता है। मनुष्य के जीवन मे कितने सस्कार होने चाहिए, इस पर धर्मशास्त्रो मे पर्याप्त मतभेद है। गौतम ने चालीस सस्कारो एव आत्मा के आठ शील गुणो का वर्णन किया है।[1] वैखानस ने अट्ठारह सस्कारो को बताया है। मनु ने गर्भाधान, पुसवन, सीमतोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, उपनयन, केशात, समावर्तन, विवाह और श्मशान इन तेरह सस्कारों का उल्लेख किया है।[2] याज्ञवल्क्य भी इन्ही सस्कारो का वर्णन किया है किन्तु केशान्त का वर्णन नहीं प्राप्त होता है क्योकि उस काल तक वैदिक ग्रन्थो के अध्ययन का प्रचलन बद हो गया था।[3] किन्तु परवर्ती धर्मशास्त्रकार सस्कारो की सख्या सोलह मानते हैं— गर्भाधान, पुसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि। इन सस्कारो की सख्या उनकी मान्यता पर निर्भर थी। हिन्दू समाज मे जितने सस्कार स्वीकार किये गए तथा समयानुसार उनका पालन किया गया वे ही अधिक प्रचलित हुए।

## 6.1. गर्भाधान :

हिन्दू समाज मे किया जाने वाला यह पहला सस्कार है। बौधायन गृहसूत्र, याज्ञवल्क्य के मतानुसार इस सस्कार के माध्यम से विवाहोपरान्त पुरुष स्त्री मे अपना बीज स्थापित करता और सन्तान की कामना करता है।[4] पुरुष और स्त्री का शारीरिक सम्बन्ध स्थापन गर्भाधान से सम्बन्धित है। इस सस्कार का प्रचलन वैदिक काल से हुआ है।[5] मनु एव याज्ञवल्क्य के अनुसार गर्भधारण का समय मासिक प्रवाह की अभिव्यक्ति के उपरान्त सोलह रातें हैं। इसमें भी सज्जनो के द्वारा प्रथम चार रात समागम के अयोग्य हैं। इसके साथ ही यह भी व्यवस्था की गयी है कि गर्भाधान के लिए अमावस्या एव पूर्णमासी वाले दिनों तथा अष्टमी एव चतुर्दशी के दिनों को छोड देना चाहिए।[6] मनु के अनुसार सोलह रात्रियों में प्रथम चार, ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियॉ (अर्थात् छ रात्रियॉ) स्त्री सम्भोग के लिए निन्दित हैं शेष दश रात्रियाँ श्रेयस्कर मानी गयी हैं।[7] मनु तथा याज्ञवल्क्य के मतानुसार दशरात्रियो मे से लडके की उत्पत्ति के लिए मासिक धर्म के चौथे दिन के बाद सम रात्रि मे, तथा कन्या के लिए विषम (पॉचवीं, सातवीं, नवीं इत्यादि) रात्रियों में स्त्री समागम करना

---

[1] गौ०ध०सू० 8/14–24
[2] मनु० 2/16, 26–27, 29–30
[3] याज्ञ० 1/10–11–12,14
[4] बौ०गृ०सू० 14/6/1, याज्ञ० 1/11
[5] अथर्ववेद – 5/25/3,5, बृ०उप० 6/4/21
[6] मनु० 3/46–47, 4/128, याज्ञ० 1/79
[7] मनु० 3/47

चाहिए।[1] आपस्तम्बगृहसूत्र के अनुसार मासिक प्रवाह की चौथी रात से सोलहवी रात तक युग्मता वाली राते पुत्र के लिए उपयुक्त है।[2] वैखानस ने कहा है कि वह अगराग लेप करे, किसी नारी या शूद्र से बाते न करे, पति को छोडकर किसी अन्य को न देखे, क्योकि स्नानोपरान्त वह जिसे देखेगी, उसी के समान उसकी सन्तान होगी।[3]

गर्भाधान प्रत्येक विवाहित पुरुष तथा स्त्री के लिए पवित्र एव अनिवार्य सस्कार था जिसका उद्देश्य स्वस्थ्य, सुन्दर एव सुशील सन्तान प्राप्त करना था, जो पुरुष स्वस्थ्य होने पर भी ऋतुकाल मे अपनी पत्नी से समागम नही करता है वह निसन्देह भ्रूणहत्या का भागी होता है। स्त्री के लिए भी अनिवार्य था कि वह ऋतुकाल के स्नान के बाद अपने पति के पास जाये। ऐसा न करने वाली स्त्री का दूसरा जन्म शूकरी के रूप मे होता है। ऐसी मान्यता थी कि जिस पिता के जितने अधिक पुत्र होगे वह स्वर्ग मे उतना ही अधिक सुख प्राप्त करेगा। पितृऋण से मुक्ति भी सन्तानोत्पत्ति करने पर ही मिलती है।

## 6.2. पुंसवन :

गर्भाधान के तीसरे माह मे पुत्र प्राप्ति के निमित्त यह सस्कार सम्पन्न किया जाता था। पुसवन का अर्थ है वह अनुष्ठान या कर्म जिससे पुत्र की उत्पत्ति हो (पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुसवनमीरीतम्) इस सस्कार के द्वारा उन देवताओं को पूजा द्वारा प्रसन्न किया जाता था जो गर्भ मे शिशु की रक्षा करते थे। कभी–कभी यह दो मास से लेकर आठ मास तक के बीच मे सम्पन्न होता था। बौधायन गृहसूत्र तथा आश्वलायन गृहसूत्र के अनुसार जब चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र मे होता था तब यह सस्कार निष्पन्न होता था[4] क्योकि यह समय पुत्र प्राप्ति के लिए उपयुक्त माना गया था। रात्रि के समय बरगद की छाल का रस निचोडकर स्त्री की नाक के दाहिने छिद्र में डाला जाता था ताकि उसे गर्भपात न हो। वायु पुराण तथा ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति के लिए यह सस्कार होता था।[5] हिन्दू समाज मे पुत्र का बडा ही महत्व था, श्राद्ध, पिण्डदान आदि का अधिकार केवल पुत्र को ही था तथा पुत्र से ही वश और कुल की निरन्तरता रहती थी। इस प्रकार पुसवन सस्कार का उद्देश्य परिवार तथा इसके माध्यम से समाज का कल्याण करना होता था।

## 6.3. सीमन्तोन्नयन :

गर्भाधान के चौथे से आठवें मास तक यह सस्कार सम्पन्न होता था। पारस्कर गृहसूत्र, बौधायन गृहसूत्र तथा वीरमित्रोदय सस्कार में कहा गया है कि इसमें गर्भिणी स्त्री के केशों (सीमन्त) को ऊपर उठाया

---

[1] मनु० 3/48, याज्ञ० 1/79
[2] आप०गृ०सू० 9/1
[3] वैखानस – 3/9
[4] बौ०गृ०सू० 1/9/1, आश्व०गृ०सू० 1/13
[5] वायु०पु० 96/12, ब्रह्माण्ड पु० 3/71/12

जाता है।[1] ऐसा विश्वास था कि जब स्त्री गर्भिणी होती है तब उस पर अनेक विघ्न बाधाएँ आती है, जो उसे डराकर गर्भ का विनाश कर देती है। इन दुष्ट शक्तियो और बाधाओ से स्त्री की रक्षा के लिए इस सस्कार की व्यवस्था की गयी। आश्वलायन गृहसूत्र, गौतम धर्मसूत्र तथा शाखायन गृहसूत्र मे तो यहॉ तक कहा गया है कि स्त्री के गर्भ का भक्षण करने के लिए कुछ व्याधियॉ या राक्षसियॉ आती है जो उसे अनेक प्रकार की पीडा और कष्ट पहुँचाती है इसके निवारण के लिए पति को 'श्री' का आवाहन करना चाहिए जिससे राक्षसियॉ भाग जाएँ।[2] इस सस्कार के सम्पादित होने के दिन स्त्री व्रत रहती थी। पुरुष मातृपूजा करता था तथा प्रजापति देवताओ को आहुतियॉ दी जाती थी। इस समय वह अपने साथ कच्चे उदुम्बर फलो का एक गुच्छा तथा सफेद चिन्ह वाले शाही के तीन काटे रखता था। स्त्री अपने केशो मे सुगन्धित तेल डालकर यज्ञ मण्डप मे प्रवेश करती थी जहॉ वेद मन्त्रो के उच्चारण के बीच उसका पति उसके बालो को ऊपर उठाता था। इस सस्कार का उद्देश्य गर्भिणी के लिए अत्यधिक श्रम वर्जित करके उसे मानसिक तथा शारीरिक आराम देना था।

## 6.4. जातकर्म :

पुत्र जन्म के समय जातकर्म नामक सस्कार सम्पन्न किया जाता था। मनु के अनुसार यह नाभिछेदन (नार काटने) के पहले किया जाता था।[3] वृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार जातकर्म सस्कार के समय दही एव घृत का मन्त्रो के साथ होम करना, बच्चे के दाहिने कान मे 'वाक्' शब्द को तीन बार कहना, सुनहले चम्मच या शलाका से बच्चे को दही, मधु एव घृत चटाना, बच्चे को एक गुप्त नाम देना, बच्चे को मॉ के स्तन पर रखना, माता को मन्त्रो द्वारा सम्बोधित करना आदि कर्म करना चाहिए।[4] सस्कार की समाप्ति के बाद ब्राह्मणो को उपहार दिये जाते एव भिक्षा बॉटी जाती थी। सभी माता एव शिशु के दीर्घ एव स्वस्थ जीवन की कामना करते थे। इस सस्कार का प्रमुख उद्देश्य बालक को स्वस्थ और प्रखर बुद्धि वाला बनाना था।

## 6.5. नामकरण :

इस सस्कार मे समाज के सदस्यो के सामने बालक का नामकरण किया जाता है और आशीर्वाद दिया जाता है कि वह दीर्घायु तथा अमर हो। मनु के अनुसार जन्म के दसवें या बारहवें दिन ज्योतिष शास्त्रो मे कहे गये शुभ तिथि, मुहूर्त और गुणयुक्त नक्षत्र में उस बालक का नामकरण किया जाता है।[5] नामकरण शुभकर्मो और भाग्य का आधार माना गया है। व्यक्तिगत नाम से मनुष्य की ख्याति होती है और वह अपने

---

[1] पा०गृ०सू० 1/15, बौधा०गृ०सू० 1/9/1, धी०मि०सं० 1, पृ० 172
[2] आश्व०गृ०सू० 1/14/1–9, गौ०ध०सू० 8–74, शांखा०गृ०सू० 1/22
[3] मनु० 2/29
[4] वृह० उ० 6/4/24–28
[5] मनु० 2/30

नाम से ही समाज मे जाना जाता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार जन्म के ग्यारहवे दिन नामकरण करना चाहिए।[1] बौधायन गृहसूत्र मे दसवे या ग्यारहवे दिन नामकरण की व्यवस्था की गयी है।[2] मनुस्मृति के व्याख्याकार मेघातिथि ने दसवे दिन माना है तथा कुल्लूक के अनुसार ग्यारहवे दिन होना चाहिए।[3] आश्वलायन गृहसूत्र मे कहा गया है कि बालक के नाम सम सख्या के पद होना चाहिए।[4] मनु के अनुसार नाम ऐसा होना चाहिए जिससे उसका वर्ण ज्ञात हो जाए, ब्राह्मण का मगल सूचक शब्द से युक्त, क्षत्रिय का बल सूचक शब्द से, वैश्य का धन वाचक शब्द से और शूद्र का निन्दित शब्द से सूचक होना चाहिए , मनु ने आगे यह भी कहा है कि ब्राह्मण शर्मा शब्द से युक्त, क्षत्रिय का रक्षा शब्द से युक्त, वैश्य का पुष्टि शब्द से युक्त तथा शूद्र का दास शब्द से युक्त उपनाम होना चाहिए। स्त्रियो के विषय मे कहा है कि स्त्रियो का नाम सुखपूर्वक उच्चारण करने योग्य, अक्रूर तथा स्पष्ट अर्थवाला, मनोहर, मगलसूचक, अन्त मे दीर्घ स्वर वाला और आशीर्वाद से युक्त अर्थवाला होना चाहिए।[5] विष्णु पुराण मे उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण को अपने नाम के अन्त मे शर्मा, क्षत्रिय वर्मा, वैश्य गुप्त तथा शूद्र को दास लिखना चाहिए।[6] बौधायन गृहसूत्र मे कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सन्तान को अपने नाम के अन्त मे शर्म, वर्म, गुप्त तथा दास शब्द लगाने चाहिए।[7]

नामकरण सस्कार के पूर्व घर को धोकर पवित्र किया जाता था। माता तथा शिशु स्नान करते थे। तत्पश्चात् माता बच्चे का सिर जल से भिगोकर तथा साफ कपडे से उसे ढॉककर उसके पिता को देती थी। पिता बच्चे की श्वास का स्पर्श करता था तथा फिर उसका नामकरण किया जाता था।

## 6.6. निष्क्रमण :

जन्म के उपरान्त प्रथम बार सन्तान को घर से बाहर निकाला जाता था। यह सस्कार बच्चे के जन्म के तीसरे अथवा चौथे माह मे सम्पन्न होता था। मनु के अनुसार सन्तान को चौथे मास मे सूर्य के दर्शन के लिए घर से बाहर निकालना चाहिए।[8] निष्क्रमण सस्कार सम्पन्न करने के बाद ही सन्तान अपनी माता के साथ बाहर लाया जाता था। शिशु को स्नान कराकर, नवीन वस्त्र धारण कराकर, यज्ञ के सम्मुख लाकर वेद–मन्त्रो का पाठ होता था। इसके पश्चात् शिशु को मॉ की गोद में देकर सर्वप्रथम उसे सूर्य का दर्शन कराया जाता था। इस प्रकार से घर से बाहर निकलने पर बालक का पहली बार समाज के अन्य व्यक्तियों से सम्पर्क होता था।

---

[1] याज्ञ० 1/12
[2] बौधा०गृ०सू० 2/1/23
[3] मेधातिथि, कुल्लूक – मनु० 2/30
[4] आश्व०गृ०सू० 1/1/4–10
[5] मनु० 2/31–32–33
[6] विष्णुपुराण – 3/10/9
[7] बौधा०गृ०सू० 1/1/10
[8] मनु० 2/34

## 6.9. कर्णवेध या कर्णछेदन :

कर्णवेध सस्कार शिशु के शोभन और अलकरण के निमित्त किया जाने वाला धार्मिक सस्कार था जो सन्तान के जन्म के सातवे महीने आयोजित किया जाता था। कर्णवेध सस्कार की व्यवस्था वैदिक कालीन है। बौधायन गृहसूत्र के अनुसार कर्णवेध सातवे या आठवे मास मे करना चाहिए।[1] गर्ग के अनुसार कर्णवेध के लिए छठॉ, सातवॉ, आठवॉ या बारहवॉ मास उपयुक्त था किन्तु सुश्रूत ने छठा या सातवॉ वर्ष इसके लिए श्रेयस्कर माना है।[2] इस सस्कार द्वारा क्षत्रिय बालक का कान स्वर्ण की सूई से, ब्राह्मण तथा वैश्य बालक का कान चॉदी की सूई से तथा शूद्र बालक का कान लौह सूई से छेदा जाता था। तत्पश्चात् कानो सुवर्ण की बाली या कुण्डल पहनाया जाता था। वसिष्ठ तथा विष्णु धर्मसूत्र के अनुसार जो गुरु कान को सत्य के साथ छेदता है, बिना पीडा दिये जो अमृत ढालता है, वह अपने माता एव पिता के समान है।[3]

## 6.10. विद्यारम्भ :

सन्तान की अवस्था जब पॉच वर्ष की होती थी तब शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की जाती थी। यह सस्कार प्राय चौल सस्कार के बाद तथा उपनयन सस्कार के पूर्व सम्पादित किया जाता था। इस सस्कार मे बच्चे को वर्णाक्षर सीखाया और पढाया जाता था। मार्कण्डेय पुराण को उद्धृत करते हुए अपरार्क ने लिखा है कि सन्तान के विद्या आरम्भ करने की आयु पॉच वर्ष थी।[4] इस सस्कार मे शुभ मुहूर्त मे शिक्षक द्वारा पट्टी पर 'ओम्' और 'स्वास्तिक' के साथ वर्णमाला लिखकर बालक को अक्षरारम्भ कराया जाता था। इसमे गणेश एव सरस्वती के पूजन का भी आयोजन किया जाता है।

## 6.11. उपनयन :

उपनयन का अभिप्राय है 'पास या सन्निकट ले जाना'। स्वाध्याय अथवा वेद के अध्ययन के लिए बालक को आचार्य के निकट ले जाया जाता था। आपस्तम्बधर्मसूत्र में कहा गया है कि उपनयन एक सस्कार है जो उसके लिए किया जाता है जो विद्या सीखना चाहता है।[5] वैदिक युग में यह एक प्रचलित सस्कार था। अथर्ववेद तथा शतपथ ब्राह्मण मे ब्रह्मचर्य शब्द उल्लेख धार्मिक विद्यार्थी के जीवन के अर्थ में हुआ है।[6] आश्वलायनगृहसूत्र मे आया है कि ब्राह्मण कुमार का उपनयन गर्भाधान या जन्म से लेकर आठवे वर्ष मे, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष मे एव वैश्य का बारहवे वर्ष मे होना चाहिए, यही नहीं यह क्रम से सोलहवे, बाइसवे तथा चौबीसवें वर्ष तक भी उपनयन का समय बना रहता है।[7] गौतम तथा मनु के अनुसार ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में तथा वैश्य बालक का गर्भ से बारहवे वर्ष मे

---

[1] बौध०गृ०सू० 1/12
[2] गर्ग – पृष्ठ 1/30, सुश्रुत 16/1
[3] वसि०ध०सू० 2/10, विष्णु ध०सू० 30/47
[4] अपरार्क पृ० 30–31
[5] आप०ध०सू० 1/1/1/19
[6] अथर्ववेद – 11/7/1–26, शत०ब्रा० 11/3/3/2
[7] आश्व०गृ०सू० 1/19/1–6

उपवीत सस्कार करना चाहिए।[1] बौधायन गृहसूत्र के अनुसार आठ से सोलह वर्ष के बीच उपनय सस्कार सम्पन्न होना चाहिए।[2] याज्ञवल्क्य के मतानुसार गर्भकाल से आठवे अथवा जन्म से आठवे वर्ष मे ब्राह्मण का उपनयन सस्कार होता है, क्षत्रिय के लिए ग्यारहवे वर्ष और वैश्य के लिए बारहवे वर्ष मे यह सस्कार विहित है।[3] ब्राह्मण बालक का उपनयन सस्कार अपेक्षाकृत अन्य वर्णों से पहले होने का कारण यह था कि बहुधा ब्राह्मणो का परिवार शिक्षित होता था तथा उनके पिता ही प्राय आचार्य होते थे। इसके लिए कोई जातिगत भेदभाव की अवधारणा नही थी।

आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य ब्रह्मचारी के लिए वस्त्र क्रम से पटुआ के सूत का, सन के सूत का एव मृगचर्म का होता था।[4] विभिन्न धर्मसूत्र तथा स्मृतिग्रन्थ मे इन वर्णों के दण्ड के विषय मे मतभेद पाया जाता है आश्वलायन गृहसूत्र के मतानुसार ब्राह्मण के लिए पलाश, क्षत्रिय के लिए उदुम्बर एव वैश्य के लिए बिल्व का दण्ड होना चाहिए या कोई भी वर्ण इनमे से किसी एक का दण्ड बना सकता है।[5] आपस्तम्बगृहसूत्र तथा धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य के लिए क्रम से पलाश, न्यग्रोध की शाखा एव बदर या उदुम्बर का दण्ड होना चाहिए।[6] मनु के मतानुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारी को बेल या पलाश का, क्षत्रिय ब्रह्मचारी को बट या खैर का, वैश्य ब्रह्मचारी को पीलु या गूलर का दण्ड धारण करना चाहिए।[7]

यज्ञोपवीत का स्पष्ट वर्णन तैत्तिरीय सहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण मे आया है कि निवीत शब्द मनुष्यों, प्राचीनावीत पितरों एव उपवीत देवताओ के सम्बन्ध प्रयुक्त होता है। वह जो उपवीत ढग से अर्थात् बायें कधे से लटकता है वह देवताओ के लिए सकेत करता है। प्राचीनावीत ढग से होकर वह दक्षिण की ओर आहुति देता है , क्योंकि पितरो के लिए कृत्य दक्षिण की ओर ही किये जाते हैं। इसके विपरीत उपवीत ढग से उत्तर की ओर आहुति देनी चाहिए देवता और पितर इसी प्रकार पूजित होते हैं।[8] गोभिलगृहसूत्र में कहा है कि दाहिने हाथ को उठाकर सिर को (उपवीत के) बीच में डालकर वह सूत्र को बाये कधे पर इस प्रकार लटकाता है कि वह दाहिनी ओर लटकता है, इस प्रकार वह यज्ञोपवीती हो जाता है। बाये हॉथ को निकालकर (उपवीत के) बीच में सिर को डालकर वह सूत्र को दाहिने कधे पर इस प्रकार रखता है कि वह बॉयी ओर लटकता है इस प्रकार वह प्राचीनावीती हो जाता है। जब पितरों को दान किया जात है तभी प्राचीनावीती हुआ जाता है।[9] मनु के अनुसार ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास का, क्षत्रिय का सन का और वैश्य

---

[1] गौ०ध०सू० 1/6–12, मनु० 2/36
[2] बौध०गृ०सू० 2/5/2
[3] याज्ञ० 1/14
[4] आप०ध०सू० 1/1/2/39, 1/1/3/1–2
[5] आश्व०गृ०सू० 1/19/13, 1/20/1
[6] आप०गृ०सू० 11/15–16, आप०ध०सू० 1/1/2/38
[7] मनु० 2/45
[8] तैत्ति०सं० 2/5/2/1, तैत्ति०ब्रा० 1/6/8
[9] गोभिल गृ०सू० 1/2/2–4

का ऊन का बना हुआ तीन लडी का होना चाहिए।[1] आश्वलायन गृहसूत्र तथा बौधायन गृह सूत्र के अनुसार उपनयन सस्कार वाले बालक को मूँज की मेखला (कटिसूत्र) बॉधना चाहिए।[2]

उपनयन के अवसर पर ब्राह्मण को हाथ मे दण्ड और उँगली मे पवित्र धारण करना चाहिए। यज्ञोपवीत अपने से किसी भी प्रकार अलग नही करना चाहिए। उपनयन की तिथि के एक दिन पहले गणेश–लक्ष्मी, सरस्वती आदि विभिन्न देवी देवताओ की पूजा की जाती थी। रात भर बालक मौन धारण किये रहता था। उपनयन के दिन मॉ–बाप अपने बालक के साथ बैठकर भोजन करते थे। बालक स्नानादि करके कौपीन धारण करता था कमर मे मेखला पहनता था। गुरु द्वारा दिये गये उत्तरीय को वह उपयोग मे लाता था। तदनन्तर वह जनेऊ पहनता था , जिसके तीन धागे सत् रज और तम गुणो के प्रतीक थे। साथ ही ये तीनो धागे उसे ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण का भी स्मरण दिलाते थे। ब्राह्मण का सस्कार बसन्त ऋतु मे, क्षत्रिय का ग्रीष्म मे, तथा वैश्य का पतझड मे किये जाने का विधान था। वसिष्ठ एव बौधायनधर्मसूत्र के अनुसार पुरुष को सदा यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए।[3] महाभारत मे कहा गया है कि कोई ब्राह्मण बिना यज्ञोपवीत धारण किये भोजन कर ले तो उसे प्रायश्चित्त करना पडता था, उसे स्नान करना, प्रार्थना एव उपवास करना चाहिए।[4] याज्ञवल्क्य के अनुसार यज्ञोपवीत कान पर चढाकर दिन में, सन्ध्या को उत्तर की ओर मुख करके तथा रात्रि मे दक्षिण की ओर मुख करके मलमूत्र का त्याग करना चाहिए।[5]

हिन्दू समाज मे उपनयन सस्कार का सर्वाधिक महत्व था, जिसका सम्बन्ध व्यक्ति के बौद्धिक उत्कर्ष से था। इस सस्कार की सम्पन्नता से बालक वर्ण तथा जाति का सदस्य बनता था और द्विज कहा जाता था। यह सस्कार केवल शूद्र को छोडकर अन्य तीनो वर्णो के लिए विहित था यह सस्कार इस बात का प्रमाण था कि अनियमित और अनुत्तरदायी जीवन समाप्त होकर नियमित, गम्भीर और अनुशासित जीवन प्रारम्भ हुआ। इसके माध्यम से व्यक्ति गुरु, वेद, यम, नियम और देवता के निकट पहुँचता था, ताकि वह ज्ञान प्राप्त कर सके। उपनयन सस्कार हो जाने के बाद ही बालक द्विज अर्थात् दुबारा जन्म लिया हुआ कहा जाता था।

## 6.12. वेदारम्भ :

गुरु के सान्निध्य में पहुँचकर शिष्य का वेदाध्ययन प्रारम्भ करना भी एक सस्कार माना जाता था जिससे उसका बौद्धिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष होता था। वैदिक युग में वेद अध्ययन करना शिक्षा का प्रधान अग था। इस युग में वेद और वेदांगों की शिक्षा ग्रहण करना छात्र का प्रमुख कर्त्तव्य था। कालान्तर में वेदों का अध्ययन कुछ मन्द पड़ गया। इस सस्कार का सर्वप्रथम उल्लेख व्यास स्मृति में मिलता है यह सस्कार

---

[1] मनु० 2/44
[2] आश्व०गृ०सू० 1/12/11, बौधा०गृ०सू० 2/5/13
[3] वसि० ध०सू० 8/9, बौ०ध०सू० 2/2/1
[4] महा०उद्योग पर्व – 40/25
[5] याज्ञ० 1/16

उपनयन के पश्चात् एक वर्ष के अन्दर होता था। मनु ने कहा है कि वेदाध्ययन करने वाला, शास्त्रोक्त विधि से आचमन किया हुआ, ब्रह्माजलि बॉधकर, हल्के वस्त्र को धारण करता हुआ जितेन्द्रिय होना चाहिए। शिष्य को वेदारम्भ मे और अन्त मे 'ओउम्' शब्द का उच्चारण करना चाहिए। प्रारम्भ मे 'ऊॅ' शब्द का उच्चारण न करने से धीरे–धीरे अध्ययन नष्ट हो जाता है तथा अन्त मे ओउम् शब्द का उच्चारण न करने से वह नही ठहरता है।[1] गायत्री मन्त्र की दीक्षा के साथ वेदो का अध्ययन आरम्भ कराना ही इस सस्कार का उद्देश्य है।

## 6.13. केशान्त या गोदान :

गुरु के पास रहकर अध्ययन करते हुए विद्यार्थी के सोलहवे वर्ष मे यह सस्कार सम्पन्न किया जाता था। इस सस्कार मे ब्रह्मचारी के श्मश्रुओ का सर्वप्रथम क्षौरकर्म होता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार केशान्त या गोदान नामक कर्म गर्भकाल से सोलहवे वर्ष मे करना चाहिए।[2] मनु के अनुसार गर्भ से सोलहवे वर्ष का ब्राह्मण का, बाइसवे वर्ष में क्षत्रिय का और चौबीसवे वर्ष मे वैश्य का केशान्त सस्कार करना चाहिए।[3] इस अवसर पर गुरु को एक गाय दक्षिणा स्वरूप दी जाती थी। इसी कारण इसे गोदान सस्कार की भी सज्ञा प्रदान की गयी है। इस सस्कार के माध्यम से ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य जीवन के व्रतों की एक बार पुन याद दिलायी जाती थी जिन्हें पालन करने का वह पुन व्रत लेता था। अन्त मे वह मौन व्रत रहता था तथा एक वर्ष तक कठोर अनुशासन का जीवन व्यतीत करता था।

## 6.14. समावर्तन :

गुरुकुल मे शिक्षा समाप्त कर लेने के उपरान्त विद्यार्थी जब अपने घर लौटता था तब समावर्तन नामक सस्कार सम्पन्न होता था। इसका शाब्दिक अर्थ है 'गुरु के आश्रम से स्वगृह को वापस लौटना।'[4] इसे 'स्नान' भी कहा गया है क्योंकि इस अवसर पर स्नान सबसे महत्वपूर्ण कार्य था। इसी के बाद विद्यार्थी 'स्नातक' बनता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार वेद का अध्ययन या व्रतों को समाप्त कर अथवा वेदाध्ययन एव व्रत दोनों ही पूरा करके, गुरु को यथाशक्ति दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा से (समावर्तन) स्नान करना चाहिए। गौतम तथा आपस्तम्ब ने समावर्तन के लिए स्नान शब्द प्रयुक्त किया है।[5] मनु के अनुसार गुरु से आज्ञा पाये हुए द्विज को गृह्योक्त विधि से (व्रत–समाप्ति सूचक) स्नान कर शुभ लक्षणों से युक्त कन्या से विवाह करना चाहिए।[6] इस सस्कार को सम्पन्न करने के लिए कोई निश्चित आयु निर्धारित नहीं थी। इसकी अवधि तभी

---

[1] मनु0 2/70, 2/74
[2] याज्ञ0 1/36
[3] मनु0 2/65
[4] याज्ञ0 1/51
[5] गौ0ध0सू0 8/16, आप0ध0सू0 12/1
[6] मनु0 3/4

मानी जाती थी जब ब्रह्मचारी वेद का अध्ययन पूर्ण कर लेता था। स्नान सस्कार विद्यार्थी की शिक्षा की पूर्णता और गृह की ओर प्रत्यावर्तित होने की भावना का प्रतीक था।

समावर्तन सस्कार किसी शुभ दिन को सम्पन्न होता था। इस दिन प्रातकाल ही उठकर ब्रह्मचारी गुरु का चरण स्पर्श करता था तथा वैदिक अग्नि म समिधा डालकर उसके प्रति अपनी अन्तिम श्रद्धा प्रकट करता था। ब्रह्मचारी को शीतोष्ण जल से विधिपूर्वक स्नान कराया जाता था। ब्रह्मचर्याश्रम के वस्त्रो को त्याग सुन्दर वस्त्र पहनता था। तत्पश्चात् स्नातक हवन करता था, आचार्य उसे जीवन सम्बन्धी कुछ अन्य उपदेश देकर विदा करता था। इस प्रकार स्नातक आचार्य का आशीर्वाद प्राप्तकर अपने घर को जाता था।

## 6.15. विवाह :

सभी सस्कारो मे विवाह सस्कार का विशेष महत्व था, जिससे व्यक्ति की नई सामाजिक और सास्कृतिक स्थिति प्रारम्भ होती है। व्यक्ति का गृहस्थाश्रम मे प्रवेश विवाह सस्कार से ही होता है। इस सस्कार के द्वारा व्यक्ति व्यक्तिगत धरातल से उठकर सामाजिक हो जाता है। विवाह के अन्तर्गत वर–वधू की विभिन्न योग्यताएँ और गुण गोत्र और वर्ण आदि का विचार किया जाता था। विवाह क्रिया की सम्पन्नता के समय वाग्दान, वर–वरण, कन्यादान, विवाह–होम, पाणिग्रहण, हृदयस्पर्श, सप्तपदी, अश्मारोहण, सूर्यावलोकन, ध्रुवदर्शन, त्रिरात्र–यज्ञ और चतुर्थी कर्म का आदि विधान पारस्कर गृहसूत्र मे कहा गया है।[1]

विवाह के उद्देश्यो मे वश वृद्धि प्रधान उद्देश्य था। सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यो का निर्वाह विवाह के माध्यम से ही सम्भव था। समस्त ऋणो से व्यक्ति उऋण होता था। विवाह पुरुषार्थ का मूल था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इसी पर निर्भर था। मनुष्य की सारी उपलब्धियाँ गृहस्थ बनने के बाद ही एकत्र होती थी। अत विवाह गृहस्थ जीवन का प्रथम मूल था।

## 6.16. अन्त्येष्टि :

मानव जीवन का अन्तिम सस्कार अन्त्येष्टि हे जो मृत्यु के समय सम्पादित किया जाता है इसका उद्देश्य मृतात्मा को स्वर्गलोक मे सुख शान्ति प्रदान करना है। बौधायन गृहसूत्र के अनुसार जन्म के बाद के सस्कारो द्वारा मनुष्य इस लोक को विजित करता है जबकि मृत्यु के उपरान्त सस्कारों द्वारा परलोक को विजित करता है।[2] मृत व्यक्ति के पार्थिव शरीर का दाह सस्कार होता है। दाहक्रिया करने के पहले अनेक धार्मिक कृत्य किये जाते हैं आश्वलायन गृहसूत्र के अनुसार शव ले जाने के लिए बॉस की अर्थी अथवा बैलगाडी प्रयोग मे लायी जाती है।[3] पारस्कर गृहसूत्र के अनुसार शव यात्रा में सगे सम्बन्धियो के साथ मित्रादि होते हैं, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र सबके आगे रहता है। शव जल जाने के बाद अवशेष की दाह क्रिया होती

[1] पा०गृ०सू० 1/8/1
[2] बौधा० गृ०सू० 1/43
[3] आश्व०गृ०सू० 4/1

है। तदनन्तर लोग नदी या तालाब मे स्नान करके घर लौटते है कुछ काल तक मृतक के सम्बन्धी अशौच मे रहते है। शुद्धि के बाद शान्ति और श्राद्ध क्रिया की जाती है।[1] विष्णु पुराण मे कहा गया है कि मृत शरीर को स्नान कराकर पुष्प माला से विभूषित कर गॉव के बाहर जाकर, जलाशय मे सवस्त्र स्नान कर जलाजलि अर्पित करनी चाहिए। अशौच के अन्त मे विषम सख्या मे ब्राह्मणो को भोजन कराना चाहिए।[2] मत्स्य पुराण के अनुसार शव को जलाना, शव को गाडना और शव को फेकना तीन प्रकार की अन्त्येष्टि क्रिया करनी चाहिए।[3]

मनु और याज्ञवल्कय के अनुसार ब्रह्मचारी को किसी व्यक्ति या अपनी जाति के किसी व्यक्ति के शव को ढोना नही चाहिए किन्तु अपने माता–पिता, गुरु, आचार्य एव उपाध्याय के शव को वह ढो सकता है और ऐसा करने पर उसे कोई पाप नही लगता है।[4] जो ब्रह्मचारी पॉच व्यक्तियो के अतिरिक्त किसी अन्य का शव ढोता है उसका ब्रह्मचर्य व्रत खण्डित माना जाता है और उसे व्रतलोप का प्रायश्चित्त करना पडता है। मनु तथा याज्ञवल्क्य का कथन है कि जो लोग स्वाजातीय व्यक्ति का शव ढोते है उन्हे वस्त्र सहित स्नान करना चाहिए, घर के द्वार पर खडे होकर नीम की पत्तियॉ कूॅचना चाहिए, आचमन करना चाहिए, अग्नि, जल, गोबर, पीले सरसो का स्पर्श करना चाहिए, धीरे से पत्थर पर पैर रखकर घर मे प्रवेश करना चाहिए।[5] गौतम, याज्ञवल्क्य, मनु तथा पराशर के अनुसार ब्राह्मण अपनी जाति वाले या भिन्न जाति वाले शव के पीछे यदि स्नेहवश जाता है तो वस्त्र सहित स्नान करना चाहिए तथा अग्नि का स्पर्श करने , घृत पीने पर वह शुद्ध हो जाता है।[6] मनु का कथन है कि शूद्र का मृत शरीर ग्राम या बस्ती के दक्षिण, वैश्य का पश्चिम, क्षत्रिय का उत्तर तथा ब्राह्मण का पूर्व ले जाना चाहिए।[7]

मनु, याज्ञवल्कय, पराशर तथा विष्णु ने यह कहा है कि गर्भ से पतित बच्चे, भ्रूण, मृतोत्पन्न शिशु तथा दन्तहीन शिशु को वस्त्र से ढॅककर गाड देना चाहिए, छोटी अवस्था के बच्चो को जलाना नही चाहिए।[8] किन्तु इस विषय मे स्मृतियो मे अवस्था सम्बन्धी विभेद पाया जाता है पारस्कर याज्ञवल्क्य तथा मनु के अनुसार वर्ष के भीतर के बच्चो को ग्राम के बाहर किसी स्वच्छ स्थान पर गाड देना चाहिए, ऐसे बच्चो के शवो पर घृत का लेप करना चाहिए, उन पर चन्दन लेप, पुष्प आदि रखने चाहिए और न तो उन्हे जलाना चाहिए न तो जल तर्पण करना चाहिए और न उनका अस्थि सचय करना चाहिए।[9] विष्णु पुराण के अनुसार ब्राह्मणो का दस दिन तक, क्षत्रिय को बारह दिन तक, वैश्यो को पन्द्रह दिन तक और शूद्र को तीस दिन

---

1 पा0गृ0सू0 3/19, 3/10, 16/23, 27/28
2 विष्णु पु0 3/13/7–18
3 मत्स्य पु0 39/17
4 मनु0 5/91 याज्ञ0 3/15
5 मनु0 5/103, याज्ञ0 3/12–13
6 गौ0ध0सू0 14/29 मनु0 5/103, याज्ञ0 3/26, परा0 3/42
7 मनु0 5/92
8 मनु0 5/68, याज्ञ0 3/1, पराशर 3/14, विष्णु0 22/27–28
9 पा0गृ0सू0 3/10, याज्ञ0 3/1, मनु0 5/68–6

तक अशौच रहता है। पिण्डदान, श्राद्ध कार्य और ब्राह्मण भोजन के बाद मृतक का परिवार शुद्ध माना जाता है।[1]

हिन्दु धर्म मे मानव जीवन को इन सोलह सस्कारो से बॉधा गया है व्यक्ति को समाज का सदस्य बनाना, अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना, परिवार या कुटुम्ब के माध्यम से समाज का उत्थान करना, अपना नैतिक और शैक्षणिक विकास करना इन्ही सस्कारो के माध्यम से सम्भव रहा है। सामाजिक और सास्कृतिक उन्नयन के साथ–साथ व्यक्ति अपना आध्यात्मिक उन्नयन भी करता है। सस्कारो से उसका आचरण, चरित्र, कर्त्तव्य और आध्यात्मिक–सामाजिक कर्म प्रभावित होते है। सभी सस्कार मनुष्य की पवित्र भावनाओ के प्रतीक है इनके द्वारा मनुष्य के जीवन को गति प्राप्त होती है। ये सस्कार मनुष्य के विभिन्न कर्मो को जीवन्त और प्राणवान् करते है।

## 7. विवाह

पारिवारिक जीवन के विकास एव स्थायित्व के लिए प्रत्येक समाज मे विवाह एक महत्वपूर्ण सस्था है। परिवार और वश वृद्धि के लिए, व्यक्तिगत एव सामाजिक विकास के लिए तथा धार्मिक एव आध्यात्मिक अभिव्यजना के लिए विवाह अनिवार्य माना गया है। यज्ञ, होम, मत्रपाठ, देवताओ का आवाहन तथा वेदमत्रो के साथ वैवाहिक क्रिया सम्पन्न करना हिन्दू विवाह सस्कार के प्रधान अग है। इस धार्मिक आधार ने विवाह को अत्यन्त पवित्र और उदात्त स्वरूप प्रदान किया। हिन्दू समाज मे कोई भी धार्मिक कार्य बिना पत्नी के नही सम्पन्न होता इसलिए वह धर्मपत्नी अथवा सहधर्मिणी भी कही जाती है। मनु के अनुसार केवल पुरुष कोई वस्तु नही, वह अपूर्ण है। स्त्री, स्वदेह तथा सन्तान, ये तीनो मिलकर ही पुरुष (पूर्णरूप) होता है। ऐसा (वेदज्ञाता) ब्राह्मण कहते है और जो पति है, वही स्त्री है।[2] गृह की शोभा और सम्पन्नता स्त्री से मानी गई है यह भी मनु ने कहा है।[3]

विवाह शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'वह्' धातु से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है "वधू को वर के घर ले जाना अथवा विशिष्ट ढग से कन्या को ले जाना या अपनी स्त्री बनाने को ले जाना। विवाह सस्कार के लिए बहुत से शब्द प्रयुक्त हुए है किन्तु अर्थो मे भिन्नता होते हुए भी वे विवाह के ही अर्थ को ही व्यक्त करते है यथा – उद्वाह – कन्या को उसके पितृ गृह से उच्चता के साथ ले जाना, परिणय या परिणयन–अग्नि की प्रदक्षिणा करना, उपयम – सन्निकट ले जाना और अपना बना लेना, पाणिग्रहण – कन्या का हाथ पकडना। ऋग्वेद के मतानुसार विवाह का उद्देश्य गृहस्थ होकर देवो के लिए यज्ञ करना तथा सन्तानोत्पत्ति करना था।[4] शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि पत्नी पति की अर्धांगिनी है, जब तक व्यक्ति विवाह नहीं करता, जब तक

[1] विष्णु पु0 3/13/19–20
[2] मनु0 9/45
[3] मनु0 9/26
[4] ऋ0 10/85/36, 5/3/2 5/28/3

सन्तानोत्पत्ति नही करता, तब तक वह पूर्ण नही है।[1] आपस्तम्ब धर्मसूत्र के मतानुसार प्रथम पत्नी के गर्भवती होने के कारण दूसरी पत्नी ग्रहण करने तथा धार्मिक कृत्य नही करना चाहिए।[2] मनु ने कहा है कि सन्तान को उत्पन्न करना, धार्मिक कृत्य, शुश्रूषा, सर्वोत्तम आनन्द, अपना तथा अपने पितरो के लिए स्वर्ग की प्राप्ति पत्नी पर निर्भर रहता है।[3] याज्ञवल्क्य के अनुसार पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र से इस लोक मे वश अविच्छिन्न बना रहता है और स्वर्ग की प्राप्ति होती है, ये दोनो कार्य स्त्रियो से सिद्ध होते है अत वे उपभोग्य होती है और उनकी रक्षा करनी चाहिए।[4] अच्छे वर के लक्षण के बारे मे आपस्तम्ब गृहसूत्र मे कहा गया कि अच्छा कुल, सत् चरित्र, शुभ गुण, ज्ञान एव सुन्दर एव स्वस्थ्य होना चाहिए।[5] मनु के अनुसार उत्तम व्यक्ति उत्तम के साथ ही नित्य सम्बन्ध का आचरण करे, कुल को उत्कर्ष के मार्ग पर ले चलने की इच्छा रखने वाला अधम कुलो का परित्याग करे।[6] याज्ञवल्क्य के अनुसार जिस कुल मे दस पीढियो तक निरन्तर वेदाध्ययन हो, सवर्ण और विद्वान हो, पुरुषत्व की यत्नपूर्वक परीक्षा की गई हो, विवेकशील और प्रिय हो वह उत्तम वर कहलाता है।[7] मनु ने कहा है कि कुल तथा आचार मे श्रेष्ठ, सुन्दर और योग्य वर मिल जाय तो कन्या की अवस्था विवाह योग्य न होने पर भी उसका विवाह कर देना चाहिए।[8] कुल (वश), शील (उत्तम चरित्र) सुन्दरता, यश, विद्या, मॉ–बाप तथा अन्य बन्धु बान्धवो की विद्यमानता, वित्त यह सात गुण वर के लिए आवश्यक माने गये है। वर के लिए उसका अखण्ड ब्रह्मचारी होना भी एक गुण स्वीकार किया गया है। बौधायन गृहसूत्र तथा याज्ञवल्कय ने भी ब्रह्मचर्य से च्युत न होना वर के गुण के रूप मे माना है।[9] मनु ने श्रेष्ठ वर के लिए कहा है कि वह सभी वेदो या दो अथवा कम से कम एक वेद क्रमश अध्ययन कर अविलुप्त ब्रह्मचर्य होकर गृहस्थ आश्रम मे प्रवेश करे।[10] धर्मशास्त्रकार तथा स्मृतिकार पुरुष के पुसत्व पर काफी बल दिया है इस सम्बन्ध मे मनु ने कहा है कि स्त्री क्षेत्र तुल्य है और पुरुष बीज तुल्य है क्षेत्र तथा वीज के ससर्ग से सभी प्राणियो की उत्पत्ति होती है कही पर बीज प्रधान है और कही पर क्षेत्र प्रधान है जहॉ पर बीज तथा क्षेत्र दोनो समान है वह सन्तान श्रेष्ठ मानी जाती है। बीज तथा क्षेत्र मे बीज ही श्रेष्ठ कहा जाता है अत सब जीवो की सन्तान बीज के लक्षणो से युक्त होती है।[11] चरित्र, विद्या और शील से सम्पन्न व्यक्ति पुसत्व के अभाव मे व्यर्थ था। पुसत्व सम्पन्न व्यक्ति अन्य गुणो के अभाव मे भी सार्थक और उपयोगी था।

कन्या के विषय मे आश्वलायन गृहसूत्र मे कहा गया है कि जो बुद्धिमती हो, सुन्दर हो, सच्चरित हो, स्वस्थ हो तथा शुभ लक्षणो वाली हो वह विवाह करने के योग्य होती है।[12] मनु ने ऐसे कुलो की कन्या से

[1] शत0ब्रा0 5/2/1/10
[2] आप0ध0सू0 2/5/11/12
[3] मनु0 9/28
[4] याज्ञ0 1/78
[5] आप0गृ0सू0 3/20
[6] मनु0 4/244
[7] याज्ञ0 1/54–55
[8] मनु0 9/88
[9] बौधा0गृ0सू0 4/1/1 याज्ञ0 1/52
[10] मनु0 3/2
[11] मनु0 9/33–34–35
[12] आश्व0गृ0सू0 1/5/3

विवाह करना अनुचित माना है जो जातकर्म आदि से सस्कार से हीन हो, जो वेदो के पठन–पाठन से हीन हो, जिस कुल के पुरुषो के शरीर मे अधिक रोम हो, जिस कुल मे राजयक्ष्मा, मन्दाग्नि, मूर्छा (मृगी), श्वेत कुष्ठ, गलित कुष्ठ रोग हो। इसके साथ उन कन्याओ से विवाह वर्जित किया है जो कपिल (भूरे) वर्णवाली, अधिक या कम अगोवाली (यथा – छ अगुलियो या चार या तीन अगुलियो वाली), बातूनी, नित्य रोगिणी रहने वाली, बिलकुल रोम से रहित या बहुत अधिक रोमवाली और भूरी–भूरी ऑखोवाली हो। किन्तु निर्दोष अग वाली, हस तथा गज के समान चलने वाली, सूक्ष्म रोमो वाली, पतले–पतले दॉतो वाली, कोमल शरीर वाली कन्या से विवाह करना चाहिए।[1] याज्ञवल्क्य के अनुसार शुभ लक्षणो से युक्त, पहले किसी अन्य को प्रदत्त या भुक्त न हो, सुन्दर हो, असपिण्ड हो तथा आयु मे अपने से छोटी हो, असाध्य रोग से अछूती हो, भाई वाली हो समान गोत्र या प्रवर की न हो ऐसी कन्या से विवाह करना चाहिए।[2] मनु एव आपस्तम्ब गृहसूत्र मे कहा गया है कि विवाहिता होने वाली कन्या का नाम नक्षत्र वाला – आर्द्रा, रेवती आदि, वृक्षो या नदियो वाला नही होना चाहिए, उसका मलेच्छ नाम, पर्वत, पक्षी, सर्प, दासी आदि का नाम नही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त मनु ने यह भी कहा है कि बहुत मोटी, बहुत दुबली–पतली, बहुत लम्बी, बहुत छोटी अर्थात् नाटी, अवस्था मे अधिक, किसी अग से हीन और झगडा करने वाली कन्या से विवाह न करना चाहिए।[3] मनु ने यह भी कहा है कि जिस कन्या के भाई न हो और जिस कन्या के माता–पिता का ज्ञान न हो उस कन्या के साथ पुत्रिका धर्म की शका से विद्वान पुरुष को विवाह नही करना चाहिए।[4]

विवाह की अवस्था के विषय मे ऋग्वेद मे आया है कि जब कन्या सुन्दर है और आभूषित है तो वह स्वय पुरुषो के झुण्ड मे से अपना मित्र ढूँढ लेती है।[5] इससे स्पष्ट है कि लडकियॉ इतनी प्रौढ होने पर विवाह करती थी। जबकि वे स्वय अपना पति चुन सके। मनु के मतानुसार तीस वर्ष की अवस्था वाला पुरुष बारह वर्ष की लडकी से या शीघ्रता करने वाला चौबीस वर्ष की अवस्था वाला पति आठ वर्ष की कन्या के साथ विवाह करे।[6]

धर्मशास्त्रकारो ने एक ही गोत्र, प्रवर और पिण्ड मे परस्पर विवाह करना अप्रशस्त माना है गोत्र, प्रवर और पिण्ड के बाहर तो हिन्दू समाज मे अवश्य विवाह किया जाता रहा है किन्तु अपनी जाति के बाहर जाकर यह विवाह नहीं किया जाता था। अपनी जाति के भीतर ही भिन्न गोत्र, प्रवर और पिण्ड मे विवाह होता रहा है। प्रत्येक जाति मे विभिन्न गोत्र, पिण्ड और प्रवर हैं, जिनमें विवाह सम्बन्ध स्थिर होता है। गोत्र का अर्थ साधारणत पूर्व पुरुष को व्यक्त करता है। मनु के अनुसार जो कन्या माता के या पिता के सपिण्ड (सात पीढी तक) की न हो और पिता के गोत्र की न हो, ऐसी कन्या द्विजातियों के स्त्रीकर्म के लिए श्रेष्ठ

---

[1] मनु0 3/7–8–10
[2] याज्ञ0 1/52
[3] आप0गृ0सू0 3/13 मनु0 3/9, 3/9/1
[4] मनु0 3/11
[5] ऋ0 10/27/12
[6] मनु0 9/94

होती है।[1] गोत्र शब्द गोशाला (गायो का समूह) और व्यक्तियो के समूह के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है ऐसा ऋग्वेद तथा अथर्ववेद मे कहा गया था।[2] मनुस्मृति के व्याख्याकार मेघातिथि ने कहा है कि गोत्र उस आदि पुरुष के लिए प्रयुक्त किया गया जिन्हे 'कुल' या 'वश' की सज्ञा दी गई, जो विद्या, धन, शौर्य, औदार्य आदि गुणो के लिए विख्यात हुआ और कालान्तर मे जिसके नाम से वश अथवा कुल का विकास हुआ।[3] वृहदारण्यकोपनिषद तथा छान्दोग्योपनिषद के अनुसार अनेक स्थलो पर भारद्वाज, गार्ग्य, आश्वलायन, भार्गव, कात्यायन, गौतम, काश्यप आदि ऋषियो के नाम पर गोत्रो की चर्चा की गयी है।[4] पराशर के अनुसार सगोत्र कन्या से मातृवत् व्यवहार करना चाहिए।[5] अगर कोई व्यक्ति सगोत्र कन्या से विवाह करता था तो उसे अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त, व्रत आदि करने पडते थे तथा ऐसा व्यक्ति समाज से निन्द्य माना जाता था। अपरार्क तथा आपस्तम्ब के मतानुसार सगोत्र कन्या से विवाह करने पर चान्द्रायण व्रत करने की व्यवस्था की गई है तथा समान गोत्र–प्रवरा कन्या से विवाह करने पर वाले ब्राह्मण को चाण्डाल उत्पन्न करने वाला कहा गया है।[6] मनु के अनुसार फूआ की, मौसी की और मामा की पुत्री को विद्वान पुरुष भार्या के रूप मे स्वीकार नही करना चाहिए क्योकि बान्धव होने से विवाह के अयोग्य उनके साथ विवाह करता हुआ मनुष्य नरक को जाता है।[7] इससे यह स्पष्ट है कि हिन्दू समाज मे सगोत्र विवाह समाज मे निन्द्य माना जाता रहा है। इसके साथ ही सपिण्ड विवाह भी वर्जित था। सपिण्ड का तात्पर्य समान रक्त कणो से अथवा एक ही पिण्ड से अथवा एक से शरीर से है। व्यक्तियो से सपण्डिता का सम्बन्ध इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि दोनो मे एक ही शरीर के अश है। पुत्र का माता के साथ सपिण्ड सम्बन्ध इसलिए है कि उसमे माता के शरीर के अश विद्यमान है। मिताक्षरा के अनुसार सपिण्ड का अर्थ समान रक्त कण से है। जिसमे अपने पूर्वज का रक्त है , वह सपिण्ड है। ऐसे एक ही पिण्ड के लोगो का एक ही पिण्ड मे विवाह नहीं हो सकता। पिता से सात पीढी और माता से पॉच पीढी के भीतर के लोग सपिण्ड कहे जाते है। विवाह निश्चित करते समय इसका ध्यान रखना अनिवार्य था कि घर से सात पीढी और कन्या से पॉच पीढी का अन्तर अपेक्षित होना चाहिए। इस नियम से चचेरे, ममेरे, फुफेरे और मौसेरे भाई बहन के विवाह का प्रतिबन्ध लगाया गया। किन्तु वैदिक काल मे सपिण्डता पर कोई विशेष विचार नहीं किया गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार माता के कुल मे पॉच पीढी से ऊपर एव पिता के कुल मे सात पीढी से ऊपर के हो तो विवाह होना चाहिए।[8] गौतम गृहसूत्र तथा आपस्तम्ब धर्म सूत्र मे सपिण्ड विवाह का निषेध किया गया है।[9] गौतम धर्मसूत्र के अनुसार पिता के पक्ष मे सात पीढी तथा माता के पक्ष मे पॉच पीढी तक विवाह नहीं हो सकता। गौतम के  ही अनुसार सपिण्डता के

---

[1] मनु0 3/5
[2] ऋ0 2/23/18 6/65/5 अथर्ववेद 5/21/3
[3] मेघातिथि – मनु0 3/5 3/194
[4] वृह0उप0 2/2/4 छा0उप0 5/14/1 5/16/1
[5] परा0 स्मृ0 2/2
[6] अपरार्क पृ0 80, आप0ध0सू0 पृ0 116
[7] मनु0 11/171–172
[8] याज्ञ0 1/53
[9] गौ0गृ0सू0 3/4/5 आप0ध0सू0 2/5/11/16

नियमो का उल्लघन करने वाला व्यक्ति जाति भ्रष्ट एव पतित हो जाता है।[1] नारद तथा विष्णु के अनुसार पिता की सात और माता की पॉच पीढी तक का विवाह निषेध है।[2] मनु के व्याख्याकार मेघातिथि तथा याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार विश्वरूप ने भी सपिण्डता का प्रबल प्रतिरोध किया है तथा ऐसे विवाह करने वालो को घोर निकृष्ट बताया है।[3] •

कन्या का विवाह कौन तय करता है और उसका दान कौन करता है इस विषय पर विष्णुधर्मसूत्र मे कहा गया है कि क्रम से पिता, पितामह, भाई, कुटुम्बी, नाना, नानी कन्या को विवाह मे दे सकते है।[4] याज्ञवल्क्य के मतानुसार पिता, पितामह, भाई, कुल का कोई पुरुष और माता को कन्यादान करना चाहिए किन्तु इनमे क्रम से पहले वाले के अभाव मे आगे कन्यादान नही करता तो कन्या के प्रत्येक ऋतुकाल मे उसे भ्रूणहत्या का पाप लगता है। यदि कन्यादान देने वाला कोई भी न हो तो कन्या को योग्य वर का स्वय वरण कर लेना चाहिए।[5] मनु के अनुसार कन्या ऋतुमती होने पर तीन वर्ष तक पिता आदि के द्वारा योग्यतर पति के लिए दान करने की प्रतीक्षा करे, इसके बाद योग्यतर पति नहीं मिलने पर समान योग्यता वाले भी पति को स्वय वरण कर लेना चाहिए। इस तरह पति का स्वय वरण कर लेनी वाली कन्या तथा पति थोडा भी दोष के भागी नही होते है।[6] विष्णु धर्मसूत्र मे कहा गया है कि युवावस्था प्राप्त कर लेने पर तीन बार मासिक धर्म हो लेने के उपरान्त कन्या को अपना विवाह कर लेने का पूर्ण अधिकार है।[7]

बच्चो पर किसका अधिकार होता है इस विषय पर वसिष्ठ धर्मसूत्र तथा मनु ने कहा है कि माता–पिता (दोनों) या माता या पिता (किसी एक) द्वारा त्यक्त जिस पुत्र को मनुष्य स्वीकार कर लेता है वह 'अपविद्ध पुत्र' कहा जाता है।[8] वसिष्ठ ने कहा है कि बच्चो पर माता–पिता का सम्पूर्ण अधिकार है वे उन्हे दे सकते है, बेच सकते है या छोड सकते है, क्योकि उन्ही के शुक–शोणित से बच्चो की उत्पत्ति होती है।[9] मनु के अनुसार स्त्री, पुत्र और दास निर्धन होते है ये जो कुछ उपार्जन करते है वह उसका होता है जिसके वे होते है।[10] याज्ञवल्क्य ने पुत्र और स्त्री को दान मे देने का निषेध किया है।[11] मनु ने कहा है कि स्त्री, पुत्र, दास, प्रेष्य (बाहर भेजा जाने वाला नौकर) सहोदर भाई यदि अपराध करे तो उसे रस्सी से या पतली बॉस की छडी से ताडन करना चाहिए। तथा अभिभावक को उन्हे रस्सी या पतली बॉस की छडी से पीठ पर मारना चाहिए।[12] मनु ने यह भी कहा है कि माता, पिता, स्त्री और पुत्र त्याग के योग्य नहीं हैं।[13]

---

1 गौ0ध0सू0 1/4/3 3/2/1
2 नारद स्मृ0 12/37–75 विष्णु0 36/4–7
3 मेघा0मनु0 9/116 विश्वरूप – याज्ञ0 1/53
4 विष्णु ध0सू0 24/38–39
5 याज्ञ0 1/63–64
6 मनु0 9/90–91
7 विष्णु ध0सू0 24/40
8 वसि0ध0सू0 17/36–37, मनु0 9/171
9 वसि0ध0सू0 15/1–3
10 मनु0 8/416
11 याज्ञ0 2/175
12 मनु0 8/299–300
13 मनु0 8/389

## विवाह के प्रकार :

धर्मशास्त्रो तथा स्मृति ग्रन्थो मे विवाह के आठ प्रकारो का वर्णन किया गया है जो किसी न किसी रूप मे समाज मे प्रचलित थे। मनु के अनुसार ब्राह्मण, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये आठ प्रकार है। इसमे भी प्रत्येक वर्ण के कुछ धर्मयुक्त विवाह है ब्राह्मण के लिए प्रथम छ प्रकार के विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर और गन्धर्व), क्षत्रिय के लिए चार प्रकार के विवाह (आसुर, गान्धर्व, पैशाच और राक्षस) और वैश्य तथा शूद्र के लिए राक्षस रहित तीन प्रकार के विवाह (आसुर, गान्धर्व और पैशाच) का विधान किया गया है। इसके साथ ही मनु ने यह भी कहा है कि ब्राह्मण के लिए प्रथम चार विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य) क्षत्रिय के लिए एक राक्षस विवाह और वैश्य तथा शूद्र के लिए एक आसुर विवाह को विद्वानो ने प्रशस्त बताया है।[1] विष्णु स्मृति मे तथा आश्वलायन गृहसूत्र मे भी विवाह के आठो प्रकारो का यही क्रम प्राप्त होता है।[2] इन विवाहो मे धर्म युक्त तथा अधर्म युक्त विवाहो के विषय मे मनु ने कहा है कि अन्तवाले पॉच प्रकार के विवाहो (प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच) मे से तीन प्रकार के विवाह (प्राजापत्य, गान्धर्व और राक्षस) धर्मयुक्त है। दो (आसुर और पिशाच) अधर्मयुक्त है। अत आसुर और पैशाच विवाहो को कभी भी नही करना चाहिए।[3]

### 7.1. ब्राह्म :

विवाह का यह सर्वोत्तम प्रकार है। यह ब्राह्मणो के योग्य था तथा इस विवाह का उद्देश्य शारीरिक तथा मानसिक कर्त्तव्यो के पालन द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करना था। इसके अन्तर्गत मनु ने यह कहा है कि पिता सच्चरित्र और वेदज्ञ वर को अपने यहॉ आमत्रित करके वर तथा कन्या को वस्त्र आभूषण से अलकृत कर कन्या को उसे प्रदान करता था।[4] याज्ञवल्क्य ने भी यही विचार व्यक्त किया है।[5] यह विवाह का सबसे अधिक सम्मानित रूप था क्योकि इनमे धनलिप्सा, कामुकता, शारीरिक–बल प्रयोग आदि अनैतिक कार्यों की आवश्यकता नही थी। पति–पत्नी का सम्बन्ध परलोक तक चलता था क्योकि दोनो का उद्देश्य ब्रह्म या मोक्ष की प्राप्ति होती थी।

### 7.2. दैव :

इस विवाह के अन्तर्गत कन्या का पिता एक यज्ञ का आयोजन कराता था जिसमे बहुत से ऋत्विक् को आमन्त्रित किया जाता था। जो ऋत्विक् यज्ञ का अनुष्ठान विधिपूर्वक करा लेता था उसी के साथ कन्या

---

[1] मनु० 3/21–23–24
[2] विष्णु स्मृ० 24/17–18, आश्व०गृ०सू० 1/6
[3] मनु० 3/25
[4] मनु० 3/27
[5] याज्ञ० 1/58

का पिता कन्या को वस्त्राभूषण से अलकृत कर दे देता था। यह विवाह देवताओ के लिए यज्ञ किये जाते समय सम्पन्न होता था अत 'दैव' की सज्ञा प्रदान की गयी। मनु तथा याज्ञवल्क्य ने यही विचार प्रकट किया था।[1] वैदिक युग मे ब्राह्मण यज्ञ किया करते थे इसीलिए कन्या पक्ष के ब्राह्मण, ऐसे यज्ञीय ब्राह्मण की अपेक्षा करते थे तथा दक्षिणा के रूप मे कन्या प्रदान किया करते थे।

## 7.3. आर्ष :

मनु तथा याज्ञवल्क्य के मतानुसार इस विवाह मे कन्या का पिता गोमिथुन या गाय अथवा बैल यज्ञादि धर्म कार्य करने या कन्या को देने के लिए वर से लेकर विधिपूर्वक कन्या प्रदान करता था।[2] इस प्रकार का विवाह ऋषि परम्परा के पुरोहितो अथवा ब्राह्मण मे अधिक प्रचलित था।

## 7.4. प्राजापत्य :

मनु के अनुसार कन्या का पिता वर से कहता था कि तुम दोनो साथ मे धर्माचरण करो, तथा विवाह के प्रार्थी वर से वचन प्राप्त कर वस्त्र अलकार से रहित उनका पूजन कर कन्या प्रदान करता था।[3] याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि कन्या का पिता जब साथ रहकर धर्म का आचरण करो ऐसा कहकर विवाहेच्छु पुरुष को प्रदान की जाती है तब उसे काय विवाह कहा जाता है।[4] प्रजापति नाम से भी यही अर्थ प्राप्त होता है कि प्रजापति के प्रति अपना ऋण चुकाने अर्थात् सन्तानोत्पादन के लिए वर एव कन्या का सम्बन्ध हो। इसका एक अन्य नाम पर्जन्य भी है।

## 7.5. आसुर :

मनु ने इस विवाह के बारे मे कहा है कि कन्या के पिता तथा उसके सम्बन्धियो को यथाशक्ति धन देकर स्वेच्छापूर्वक वर कन्या को स्वीकार करता है[5] इस विवाह मे मुख्य विचार धन का ही किया जाता था। याज्ञवल्क्य के मतानुसार आसुर विवाह अधिक धन लेकर कन्या प्रदान करता है।[6] इस विवाह को निन्दित माना गया है मनु के अनुसार कन्या के विद्वान पिता को थोडा भी धनादि स्वीकार नहीं करना चाहिए।

---

[1] मनु० 3/28, याज्ञ० 1/59
[2] मनु० 3/29 याज्ञ० 1/59
[3] मनु० 3/30
[4] याज्ञ० 1/60
[5] मनु० 3/31
[6] याज्ञ० 1/61

लोभवश शुल्क ग्रहण करने वाला पुरुष सन्तान को बेचने वाला होता है।[1] बौधायन ने क्रय द्वारा बनायी गयी पत्नी को अवैध माना है।[2] यह विवाह समाज मे अधिक उन्नत नही माना जाता था।

## 7.6. गान्धर्व :

गौतम, बौधायन के अनुसार जब कन्या और पुरुष परस्पर प्रेमवश काम के वशीभूत होकर अपने माता पिता की इच्छा के बिना विवाह कर लेता था तब यह प्रथा गान्धर्व विवाह कहलाती थी।[3] मनु के मतानुसार कन्या और पुरुष के इच्छानुसार परस्पर स्नेह से सयोग वा मैथुन होना गान्धर्व विवाह कहा गया है।[4] याज्ञवल्क्य ने भी इसी प्रकार का विचार स्पष्ट किया है।[5] वस्तुत यह प्रेम विवाह या प्रणय विवाह का सूचक है। वैदिक साहित्य मे इसका विवरण प्राप्त होता है।

## 7 7. राक्षस :

शक्ति या बल प्रयोग द्वारा युद्ध और सघर्ष के माध्यम से किसी कन्या का अपहरण करके विवाह करना राक्षस विवाह था। इसमे क्रूरता के साथ कपट और बलपूर्वक कन्या का अपहरण किया जाता था। मनु के अनुसार कन्या पक्ष वालो को मारकर या उनको घायल करके, गृह या द्वारादि को तोडकर चिल्लाती तथा रोती हुई कन्या का बलात् हरण करके लाना राक्षस विवाह है।[6] याज्ञवल्क्य के मतानुसार युद्ध मे हरी गयी कन्या राक्षस विवाह है।[7] यह विवाह क्रूरता और निर्दयता पर आधारित था।

## 7.8. पैशाच :

हिन्दू समाज मे यह विवाह अत्यन्त निन्दनीय और गर्हित माना जाता रहा है। मनु ने कहा है कि सोती हुई, मदहोश, उन्मत्त, कन्या के साथ विवाह करना अत्यन्त निन्दित पैशाच विवाह कहा जाता है।[8] याज्ञवल्क्य ने भी इसे छल और कपट पर आधारित बताया है।[9] महाभारत मे भी इस विवाह को जघन्य,

---

[1] मनु० 3/51
[2] बौध०गृ०सू० 1/1/1/20–21
[3] गौ०ध०सू० 1/4/8, बौ०ध०सू० 1/11/6
[4] मनु० 3/32
[5] याज्ञ० 1/61
[6] मनु० 3/33
[7] याज्ञ० 1/61
[8] मनु० 3/34
[9] याज्ञ० 1/61

अग्रस्त, अधर्म, निन्दित और अधम बताया गया है।[1] माता–पिता को समाज मे उचित स्थान दिलाने की इच्छा से ही सम्भवत धर्मशास्त्र कारो ने इसे विवाह का एक प्रकार माना है।

## अन्तर्विवाह :

अपने ही वर्ण, जाति, समूह, प्रजाति और धर्म मे विवाह करना अन्तर्विवाह कहलाता है ऐसा माना जाता था कि अपने कुल और रक्त की रक्षा के लिए अन्तर्विवाह करना चाहिए। धीरे–धीरे यह भावना भी प्रबल होती गई कि अपने ही वर्ण अथवा जाति मे विवाह करना चाहिए। अनेकानेक जातियॉ और उपजातियो के हो जाने पर अन्तर्विवाह का स्वरूप भी विस्तृत होता गया तथा सभी लोग अपनी–अपनी जातियो और उपजातियो मे विवाह करने लगे। वैदिक युग मे इसका प्रचलन नही था इस युग मे असवर्ण विवाह होते थे। स्मृतियो तथा सूत्रो मे इस विवाह पर अधिक बल दिया जाने लगा। गौतम के अनुसार असवर्ण विवाह निम्न था।[2] मनु के मतानुसार द्विजातियो के वास्ते प्रथम विवाह के लिए सवर्णा (अपने वर्ण की) स्त्री श्रेष्ठ मानी जाती है। काम के वशीभूत होकर (दूसरे विवाह के लिए) प्रवृत्त पुरुषो की ये स्त्रियॉ श्रेष्ठ (अनुलोम क्रम से) मानी जाती है।[3] याज्ञवल्क्य और नारद ने भी सवर्ण स्त्री से विवाह करने पर श्रेष्ठता की बात कही है।[4] अपनी जाति के बाहर विवाह करने वाला व्यक्ति निन्दनीय माना जाने लगा। स्वजाति मे विवाह करना सामाजिक प्रतिष्ठा और कुल गौरव की बात कही गई।

## अन्तर्जातीय विवाह :

प्राचीन काल से ही अन्तर्वर्णीय या अन्तर्जातीय विवाह होते रहे। यह अनुलोम तथा प्रतिलोम दो रूपो मे विभक्त था जब एक उच्च वर्ण या जाति का व्यक्ति अपने से निम्न जाति की स्त्री से विवाह करता है तो इसे अनुलोम विवाह कहा जाता है तथा जब किसी उच्च जाति की स्त्री का विवाह किसी निम्न जाति या वर्ण के पुरुष से होता है तो इसे प्रतिलोम विवाह कहा जाता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र ने अनुलोम विवाह को भी अस्वीकृत किया है उन्होने अनुलोम एव प्रतिलोम जातियो की चर्चा तक नही की है।[5] किन्तु गौतम, वसिष्ठ, मनु एव याज्ञवल्क्य ने स्वजाति विवाह के साथ ही साथ अनुलोम विवाह को वर्जित नही किया है।[6] याज्ञवल्क्य के मतानुसार मूर्धावसिक्त, अम्बष्ठ, निषाद, माहिष्य, उग्र एव करण, ये छ अनुलोम जातियॉ हैं।[7] मनु ने कहा है कि अनुलोम जातियॉ द्विजो के सारे क्रिया सस्कारो को कर सकती हैं किन्तु प्रतिलोम जातियॉ शूद्र के समान हैं, वे द्विजो के सस्कार आदि नहीं कर सकतीं, चाहे वे ब्राह्मण स्त्री एव क्षत्रिय पति या वैश्य पति से

---

[1] महा0 13/44
[2] गौ0ध0सू0 4/1
[3] मनु0 3/12
[4] याज्ञ0 1/55 नारद0 स्त्री पुंस 4
[5] आप0ध0सू0 2/6/13/1, 3–4
[6] गौ0ध0सू0 4/1, वसि0 1/24, मनु0 3/12–13 याज्ञ0 1/55 एव 57
[7] याज्ञ0 1/91–92

क्यो न उत्पन्न हुई हो।[1] गौतम ने प्रतिलोम विवाह को धर्महीन कहा है[2] याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार मिताक्षरा ने कहा है कि प्रतिलोम लोग उपनयन आदि सस्कार नही कर सकते, हॉ वे व्रत, प्रायश्चित्त आदि कर सकते है।

अनुलोम विवाह के परिणाम स्वरूप हिन्दू समाज मे अनेक समस्याये उत्पन्न हुईं, उच्च वर्णों और जातियो का महत्व समाज मे बहुत अधिक बढ गया तथा उनकी सन्ताने विशिष्ट स्थान ग्रहण करने लगी। सभी लोग ऊँचे वर्ण अथवा जाति के लडको से अपनी लडकियो का विवाह करने के लिए इच्छुक हुए। इससे बहुपत्नी प्रथा का प्रारम्भ हुआ, क्योकि उच्च जातियो और वर्णों मे लडको की मॉग बढ गई तथा सभी लोग ऊँची जाति के लडको के साथ अपनी कन्या का विवाह करना चाहते थे। इस प्रकार नैतिक स्तर का ह्रास होने लगा। अनुलोम विवाह के फलस्वरूप बेमेल विवाह का भी प्रारम्भ हुआ। ऊँची जाति मे विवाह करने की लालसा ने लोगो को यहॉ तक बाध्य किया गया कि लोग ऊँची जाति के वृद्ध व्यक्ति से भी अपनी कन्या का विवाह करने लगे जिससे समाज मे बाल विवाह जैसी नयी समस्या का प्रारम्भ हो गया।

हिन्दू समाज मे अन्तर्जातीय विवाह–प्रणाली अल्परूप मे स्वीकार की गई थी। प्राय लोग अपने ही वर्ण और जाति मे विवाह करते थे। अन्तर्जातीय विवाह पर कडा नियन्त्रण था।

## 8. मधुपर्क तथा अन्य आचार

किसी विशिष्ट अतिथि के आगमन पर उसके सम्मान मे जो मधु आदि का प्रदान होता है उसे मधुपर्क विधि कहते है। इसका शाब्दिक अर्थ – वह कृत्य जिसमे मधु का (किसी व्यक्ति के हाथ पर) गिराया या मोचन होता है। आश्वलायन गृहसूत्र के अनुसार यज्ञ कराने वाले ऋत्विक्, घर मे आये हुए स्नातक एव राजा को, आचार्य, श्वशुर, चाचा एव मामा के आगमन पर इन्हे मधुपर्क दिया जाता है।[3] याज्ञवल्क्य के अनुसार स्नातक, आचार्य, राजा, प्रियमित्र, वर, का प्रतिवर्ष अपने घर बुलाकर अर्घ्य (मधुपर्क) द्वारा सत्कार करना चाहिए तथा ऋत्विक् की प्रत्येक यज्ञ के समय मधुपर्क से पूजा करनी चाहिए।[4] किन्तु जब यज्ञ मे राजा एव स्नातक आये तभी उनका मधुपर्क से सम्मान करना चाहिए। मनु ने भी कहा है कि राजा, ऋत्विज् (यज्ञ कराने वाले वेदपाठी), स्नातक, गुरु, जामाता, श्वशुर और मामा इन्हें एक वर्ष के बाद अपने (गृहस्थ के) घर जाने पर मधुपर्क–विधि से पूजन करना चाहिए।[5] याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार विश्वरूप के अनुसार केवल राजा को ही मधुपर्क देना चाहिए किसी अन्य क्षत्रिय को नहीं।[6] किन्तु मेघातिथि ने कहा है कि शूद्र को छोडकर सभी जाति के राजा को मधुपर्क देना चाहिए।[7]

---

[1] मनु० – 10/41
[2] गौ०ध०सू० 4/20
[3] आश्व०गृ०सू० 1/24/1–4
[4] याज्ञ० 1/110
[5] मनु० 3/119
[6] विश्वरूप याज्ञ० 1/109
[7] मेघातिथि मनु० 3/119

आश्वलायनगृहसूत्र मे मधुपर्क विधि के बारे मे वर्णन प्राप्त होता है आतिथ्यकर्ता सबसे पहले मधु को दही मे मिलाता है यदि मधु न हो तो घृत से काम लिया जाता है। आसन, पैर धोने के लिए जल, गन्ध पुष्प आदि से सुगन्धित अर्ध्य जल, आचमन जल, मधुपर्क तथा एक गाय को अतिथि व्यक्ति के आ जाने पर इनका तीन बार उच्चारण करता हुआ उत्तर की ओर मुडे हुए कुश के आसन पर सम्मानार्ह को बैठाना चाहिए तब आतिथ्यकर्त्ता को उस अतिथि का सबसे पहले दायॉ पैर फिर बायॉ पैर को धोना चाहिए। इसके उपरान्त उसे अपने हाथो से अर्ध जल, आचमन जल से आचमन करना चाहिए, जब मधुपर्क लाया जाय तो वह उसे देखकर मन्त्र का पाठ करना चाहिए उस मधुपर्क को देवताओ तथा दिशाओ को देकर या पूरा खा लेना चाहिए या तो ब्राह्मण के लिए छोड देना चाहिए। यदि ब्राह्मण न हो तो शेष को जल मे छोड देना चाहिए।[1] कुछ गृहस्थो मे मधुपर्क को विवाह कृत्य का एक अग माना गया है बरातियो को लेकर जब वर वधु के घर जाता है तब कन्या के घर जो सत्कार सम्मान किया जाता है उसे मधुपर्क कहा जाता है। मधुपर्क मे डाले जाने वाले पदार्थ मे भी मतभेद प्राप्त होता है आपस्तम्ब के अनुसार मधु एव दही या घृत एव दही का मिश्रण ही मधुपर्क है।[2] कौशिक सूत्र मे कहा गया है कि ब्राह्म (मधु एव दही), ऐन्द्र (पापस का), सौम्य (दही एव घृत), पौष्ण (घृत एव मट्ठा), सारस्वत (दूध एव घृत), मौसल (आसव एव घृत), वारूण (जल एव घृत), श्रावण (तिल का तेल एव घृत), परिव्राजक (तिल तेल एव खली) इन नौ प्रकार को बताया है अतिथियो के लिए वर्णित यह मधुपर्क अब केवल विवाह के अवसरो को छोडकर अन्य किसी अवसर पर नहीं दिया जाता है।

## ९. भोजन

भारत मे प्राचीन काल से विविध प्रकार के भोजन और पेय प्रचलित थे। आहार शुद्धि पर प्राचीन काल से ही बल दिया जाता था। भोजन सम्बन्धी नियम एव प्रतिबन्ध के विषय मे धर्मसूत्रो तथा स्मृतियों मे वर्णन प्राप्त होता है। मनु ने कहा है कि हितकर अन्न को आयु के लिए पूर्व की ओर, यश के लिए दक्षिण की ओर, धन के लिए पश्चिम की ओर, सत्य के लिए उत्तर की ओर मुख करके भोजन करना चाहिए।[3] विष्णु तथा आपस्तम्ब के अनुसार माता के जीवित रहते दक्षिण की ओर मुख करके खाया जा सकता है।[4] मनु के मतानुसार वेदाध्ययन का अभाव, सम्यक् कर्त्तव्यो एव कार्यो का त्याग, प्रमाद एव भोजन सम्बन्धी दोष ब्राह्मण की मृत्यु के कारण है।[5] आपस्तम्ब ने कहा है कि जहॉ भोजन किया जाता है, वह स्थल गोबर से लिपा रहना चाहिए। नाव या लकडी से बने उच्चस्थल पर भोजन नहीं करना चाहिए, पवित्र फर्श पर खाना चाहिए।[6] मनु तथा महाभारत मे कहा गया है कि भोजन के पहले तत्काल पैर धोकर भोजन करना चाहिए क्योकि पैर को

---

[1] आश्व०गृसू० 1/24/5–26
[2] आप०गृ०सू० 13/10
[3] मनु० 2/52
[4] वि०ध०सू० 68/41 आप०ध०सू० 1/8/19/1–2
[5] मनु० 5/4
[6] आप०ध०सू० 1/5/17, 6–8

धोकर भोजन करने वाला लम्बी आयु को प्राप्त करता है।[1] बौधायन के अनुसार भोजन करते समय मौन रहना चाहिए।[2]

गौतम, बौधायन तथा मनु के मतानुसार द्विज को साय–प्रात भोजन करना चाहिए बीच मे भोजन नही करना चाहिए। यह विधि अग्निहोत्र के समान पुण्य प्रदान करने वाला है। मनु ने यहॉ तक कहा है कि न तो बहुत प्रात न अर्धरात्रि मे और न सन्धिकाल मे भोजन करना चाहिए।[3] मनु ने भोजन पात्र के विषय मे कहा है कि तॉबा, चॉदी और सोने के बर्तनो को छोडकर अन्य किसी धातु के बने फूटे बर्तनो मे तथा जो बर्तन अपने को अच्छा न लगे उसमे भोजन नही करना चाहिए, किन्तु आपस्तम्ब ने कहा है कि जिसमे भोजन न पका हो या जो भोजन पका लेने के उपरान्त अग्नि मे गर्म कर लिया गया हो, उस मिट्टी के पात्र को हम भोजन पात्र के रूप मे ग्रहण कर सकते है। इसी प्रकार भस्म से मॉजकर लोहे के पात्र को भोजन के लिए शुद्ध किया जा सकता है। उस लकडी के पात्र को, जो भीतर से भलीभॉति खरादा गया हो, हम भोजन पात्र के रूप मे काम मे ला सकते है।[4]

आपस्तम्ब तथा मनु के अनुसार द्विज को नित्य तीन बार आचमन कर भोजन करना आरम्भ करे तथा भोजन करने के बाद भी तीन बार आचमन करना चाहिए।[5] मनु ने कहा है कि एक वस्त्र (केवल धोती, गमछा आदि) पहनकर, शिर पर पगडी बॉधकर, दक्षिणामुख होकर और जूता आदि पहनकर ब्राह्मण को भोजन नही करना चाहिए क्योकि उस अन्न को राक्षस भोजन करता है।[6] मनु के मतानुसार उच्छिष्ट (जूठा) न तो किसी को दे तथा न स्वय भी खाये, प्रात साय भोजन के बीच अर्थात् तीन बार न खाये, बहुत अधिक भी नहीं खाना चाहिए, अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्य के लिए अहितकर तथा लोक निन्दित है इस कारण अधिक भोजन नहीं करना चाहिए।[7] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि भोजन करते समय द्विज को प्रतिदिन ऊपर और नीचे आपोशन (मन्त्र पढकर आचमन) करके अन्न को अनग्न और अमृत करना चाहिए।[8] गौतम वसिष्ठ तथा मनु के अनुसार भोजन के सामने आने पर उसकी निन्दा न करते हुए सब अन्न को खाना चाहिए मन को प्रसन्न रखे और 'मुझे यह अन्न सर्वदा प्राप्त हो' इस प्रकार उसका प्रतिनन्दन करना चाहिए क्योकि पूजित अन्न सामर्थ्य और वीर्य को देता है तथा निन्दित अन्न उन दोनों को नष्ट कर देता है।[9] मनु, विष्णु एव वसिष्ठ के मतानुसार पत्नी के साथ बैठकर नहीं खाना चाहिए। यात्रा मे पत्नी और पति एक साथ एक ही थाली मे खा सकते हैं।[10] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि पत्नी के सामने एक वस्त्र

---

[1] महा० अनुशासन पर्व – 104/61–62, मनु० 4/76
[2] बौध०ध०सू० 2/7/2
[3] गौ०ध०सू० 9/59, बौध०ध०सू० 2/7/36, मनु० 2/52/6, 4/55
[4] मनु० 4/65, आप०ध०सू० 1/5/17/9–12
[5] आप०ध०सू० 1/5/16/9, मनु० 2/52
[6] मनु० 3/238, 4/45
[7] मनु० 2/56–57
[8] याज्ञ० 1/106
[9] गौ०ध०सू० 9/59, वसि०ध०सू० 3/69, मनु० 2/54–55
[10] मनु० 4/4/3, विष्णु ध०सू० 68/46, वसि०ध०सू० 12/31

पहनकर और खडा होकर भोजन नही करना चाहिए।[1] मनु के अनुसार अत्युष्ण भोजन करना अच्छा माना जाता है तथा खाते समय खिलाने वाले के पूछने पर भी उसकी प्रशसा नही की जानी चाहिए क्योकि गरम–गरम भोजन मौन होकर ग्रहण किया जाता है उसके गुणो की प्रशसा इसलिए नही किया जाता क्योकि तब पितर लोग भोजन करते है।[2] आपस्तम्ब तथा मनु के अनुसार द्विजातियो के लिए प्याज, लहसुन, सलगम, गाजर, छत्राक, परारीक और अपवित्र स्थान मे उत्पन्न शाक नही खाना चाहिए।[3]

मास–भक्षण को हिन्दू समाज मे निन्द्य माना गया है फिर भी आपत्तिकाल मे मास खाने का विधान किया गया है। मनु ने कहा है कि मधुपर्क मे, श्राद्ध मे और प्राण सकट मे पडने पर मास खाने की व्यवस्था है ब्रह्मा ने भी स्थावर और जगम को खाद्य पदार्थ के रूप मे कहा है। चर तथा अचर जीव, दॉत वाले, बिना दॉत वाले जीव, हाथ वाले, बिना हाथ वाले जीव, शूरवीर (व्याघ्र, सिह आदि) और भीरु (हाथी, मृग आदि) जीव भक्ष्य माने गये हैं। प्रतिदिन भक्ष्य जीवो को खाने वाला भी भक्षक दोषी नहीं होता है, क्योकि ब्रह्मा ने ही भक्ष्य तथा भक्षक दोनो जीवो को बनाया है।[4] याज्ञवल्क्य के अनुसार जब (अन्न के अभाव मे या रोग में) मास के बिना प्राण बचना कठिन हो, श्राद्ध मे, प्रोक्षण नाम के (श्रौत सस्कार में) देवताओ की आहुति से अवशिष्ट, ब्राह्मण के भोजन या देवता या पितर के लिए बनाये गये मास को देवता और पितरो की अर्चना करके खाने वाला दोष का भागी नहीं होता है।[5] विष्णुधर्म सूत्र तथा मनु ने कहा है कि पौधे, पशु, वृक्ष (जिनसे यज्ञ के लिए स्तम्भ आदि बनते हैं) छोटे जीव, पक्षी आदि जो यज्ञ करने के सिलसिले मे आहत होते हैं उत्तम योनि को प्राप्त करते है वैदिक हिसा, हिसा नही होती है क्योकि वेद से ही धर्म का प्रकाश निकला है।[6] किन्तु मनु ने यह भी कहा है कि जो अहिसक जीवो का अपने सुख की इच्छा से वध करता है वह जीता हुआ तथा मरकर भी कहीं पर सुखपूर्वक उन्नति नहीं करता लेकिन जो जीवो का वध तथा बन्धन नहीं करता है वह सबका हिताभिलाषी अत्यन्त सुख प्राप्त करता है।[7] मनु ने मास भक्षण न करने के फल के बारे में कहा है कि जीवो की बिना हिसा किये कहीं भी मास नहीं उत्पन्न होता है और जीवों की हिंसा स्वर्गसाधन नहीं है अत मास का भक्षण नहीं करना चाहिए जो प्रतिवर्ष अश्वमेघ यज्ञ सौ वर्ष तक करे तथा मास नहीं खाये उन दोनो का पुण्यफल (स्वार्गादि लाभ) बराबर है।[8] श्राद्ध के अवसरों पर याज्ञवल्क्य ने कहा है कि पितरगण को विभिन्न पशुओं के मांस यथा–पाठीन आदि मछली, ताम्रमृग, उरभ्र (भेंडा), तित्तिर, बकरा, चित्रमृग, कृष्मृग, जगली सुअर, खरगोश, खड्ग (गैंडा), लाल बकरे का मास, श्वेतवर्ण के वृद्ध बकरे का मास प्रदान करता है वह सम्पूर्ण अनन्तफल को प्राप्त करता है।[9] मनु ने भी कहा है कि श्राद्ध के समय विभिन्न प्रकार के मास के

---

[1] याज्ञ0 1/131
[2] मनु0 3/236–237
[3] आप0 1/1/17, 25–27, मनु0 5/5
[4] मनु0 5/27–28–29–30
[5] याज्ञ0 1/171
[6] वि0ध0सू0 2/63,67, मनु0 5/40 एव 44
[7] मनु0 5/45–46
[8] मनु0 5/48, 53
[9] याज्ञ0 1/258–261

साथ अनेक प्रकार व्यञ्जन को श्राद्धकर्ता ब्राह्मण के पास लाकर धीरे से भूमि पर रख दे।[1] किन्तु विशेष स्थल को छोडकर मनु ने मास खाने का निषेध किया है उन्होने कहा है कि जो व्यक्ति पशु को मारने की सम्मति देता है, जो पशु हनन करता है, जीव के अग का टुकडे–टुकडे करता है जो मास को बेचता या खरीदता, पकाता है, जो परोसनेवाला और खाने वाला होता है इनमे सभी मारने के अपराधी होते है। किन्तु मास खाना, मद्य पीना और मैथुन करना, ये भले ही जीवो का स्वाभाविक धर्म है लेकिन इनसे निवृत्ति महानफल (स्वर्गादि देने) वाला होता है।[2]

गौतम, आपस्तम्ब, वसिष्ठ तथा मनु ने कहा है कि कच्चा मास खाने वाले (गीध, बाज, चील आदि) चातक, तोता, हस, ग्रामीण पक्षी (कबूतर आदि), गौरैया, प्लव (एक प्रकार का पक्षी या परेवा), ग्राम्य मुर्गा, सारस, रज्जुवाल (डोम कौआ), दात्यूह (जल कौआ) बक, गोहडउर या बिल खोदकर अपना भोजन ढूँढने वाले पक्षी का मास नही खाना चाहिए।[3] याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि शव का मास खाने वाले गृध्रु आदि पक्षी, चातक, तोता, वाज, सारस, एक खुरवाले पशु (घोडे आदि) हस और ग्राम मे रहने वाले सभी पक्षी, कौंच, जल कुक्कुट, चक्रवाक, वलाका, बगुला, कलविक (ग्राम चटक), काकोल, कुरर, रज्जुदालक और अज्ञात जाति वाले पशु पक्षियो का भक्षण नही करना चाहिए।[4] मछली के मास भक्षण के विषय मे आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे कहा गया है कि कुछ मछलियॉ जो सर्प की भॉति सिर वाली, मकर, शव खाने वाली तथा विचित्र आकृत्ति वाली होती है उन्हे नही खाना चाहिए।[5] मनु ने भी सभी प्रकार की मछलियो के भक्षण की निकृष्ट मास भक्षण माना है।[6] याज्ञवल्क्य ने भी मछली के भक्षण का निषेध किया है किन्तु सिही, रोहित (रोहू), पाठीन, राजीव और सशल्क (शुक्ति के आकार वाली) द्विजातियो के लिए खाने की छूट दी है।[7]

दूध के विषय मे गौतम, आपस्तम्ब, वसिष्ठ तथा मनु के अनुसार प्रसव करने के दिन से जिसको दस दिन न बीते हो ऐसी गाय, भैंस, बकरी, ऊँटिनी, एक खुरवाली (घोडी, गधी आदि), पशु, भेड, जिसका बच्चा मर गया हो ऐसी गाय, जगली पशु (नीलगाय, हरिण आदि) इनका दूध वर्जित माना गया है।[8] याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि सधिनी (एक जून दूध देने वाली, दूसरी गाय के बछडे से दुही जाने वाली) दस दिन से कम पहले की ब्याई हुई गाय का तथा जिसका बच्चा मर गया हो, ऊँटनी, एक खुरवाली पशुमादा (घोडी आदि) जगली पशु और भेंड का दूध नही पीना चाहिए।[9]

भक्ष्य पदार्थो के विषय मे मनु ने कहा है कि दही और दही के बने पदार्थ (छाछ, मट्ठा, तक्र आदि) और जो शुभ (नशा नहीं करने वाले) फूल, जड एव फल, मोदक आदि तथा विकारहीन अन्य भोज्य पदार्थ

---

[1] मनु0 3/227–228
[2] मनु0 5/51 , 56
[3] गौ0ध0सू0 17/29 एवं 34–35, आप0ध0सू0 1/5/17/32–34, वसि0ध0सू0 14/48, मनु0 5/11–14
[4] याज्ञ0 1/172–173–174
[5] आप0ध0सू0 1/5/17/36–37
[6] मनु0 5/14–15
[7] याज्ञ0 1/175, 177
[8] गौ0ध0सू0 17/22–26, आप0ध0सू0 1/5/17/22–24 वसि0ध0सू0 14/34–35, मनु0 5/8–9,
[9] याज्ञ0 1/170

पर्युषित (वासी) है लेकिन उन्हे भी घृत तैल से सस्कार युक्त किये गये हो, अनेक रात्रियो से रक्खे गए यव तथा गेहूँ के बने बिना घृत–तैल के सस्कार किये सब पदार्थ तथा दूध के बने पदार्थ (खीर, खोआ, मलाई, रबडी आदि) को द्विजो को खाना चाहिए।[1] याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि घृत आदि चिकनाई से युक्त देर से भी रखा भोजन, गेहूँ, जौ और दूध से बनाया गया भोजन आदि चिकनाई से युक्त न भी हो तो भी ग्रहण करना चाहिए।[2]

किस प्रकार का अन्न वर्जित या त्याज होता है इसके विषय मे मनु ने कहा है कि गर्भ हत्या (गोहत्या, ब्रह्महत्या) करने वाले से देखे गये या स्पर्श किये गये, कौआ आदि से आस्वादित, कुत्ते से छुए गये, गौ के सूघे हुए, अमुक के लिए यह अन्न है इस रूप घोषित अन्न को, वेश्या के अन्न को, विद्वान से निन्दित अन्न को, चोर, गायक, बढई, व्याजखोर, कृपण और निगड (हथकडी आदि) से बधे हुए, महापातक आदि दोषो से लाछित, नपुसक, व्यभिचारिणी, दम्भी, शुक्त, बासी अन्न, शूद्र के, किसी के जूठे अन्न को, वैद्य, शिकारी, क्रर, जूठा खाने वाला, उग्र स्वभाव वाला, सूतिका के उद्देश्य से पकाये हुए अन्न को, सूतक के अन्न को, बिना सत्कार पूर्वक दिया गया अन्न, देवतादि के उद्देश्य के बिना बना हुआ मास, पति पुत्रहीन स्त्री, शत्रु, चुगलखोर, असत्यभाषी, यज्ञ बेचनेवाला, नट, दर्जी, लोहार, मल्लाह, रगसाज, सोनार, बॉस के वर्तन बनाकर जीविका करने वाला, शस्त्र बेचने वाला, शिकार के लिए कुत्ते पालने वाला, मद्य बेचनेवाला, धोबी, रगरेज, निर्दय, जानकारी मे स्त्री के जारकर्म को सहन करने वाला, स्त्री के वश मे रहने वाला, दश दिन बीते सूतक के, अतुष्टिकारक के अन्न को नहीं खाना चाहिए।[3] याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि दूसरे की शय्या, आसन, उद्यान, घर और सवारी का बिना अनुमति के उपयोग करने वाला, श्रौतस्मार्त अग्नि के अधिकार से वचित, अग्नि का आधान न करने वाला, लोभी, वद्ध, चोर, नपुसक, नट, चारण, मल्ल, वैण, पातक कर्मो से युक्त मनुष्य, व्याज लेने वाले, वेश्या, बहुयाजक, चिकित्सक, रोगी, क्रोधी, व्यभिचारिणी, अभिमानी, शत्रु, क्रूर, उद्धत, पतित, व्रात्य, धोखेबाज, जूठा भोजन करने वाले व्यक्ति का, कुलटा, स्वर्णकार, स्त्री के वश मे रहने वाला, गॉव भर के लिए यज्ञ करने वाला, शस्त्र बेचने वाला, लोहार, तन्तुवाय, कुत्तों के सहारे वृत्ति चलाने वाला, निर्दयी, राजा, रगरेज, कृतघ्न, बधिक, धोबी, मद्य बेचने वाला, कुलाल, दूसरे का दोष फैलाने वाला, झूठ बोलने वाला, तेली या गाडीवान, बन्दीजन, जिसके घर मे जार निवास कर रहा हो, सोमलता के विक्रेता, अवज्ञा के साथ दिया गया अन्न, बेकार मास, जिस अन्न में बाल या कीडे पडे हो, खट्टा हो गया हो, बासी, जूठा, कुत्ते द्वारा छुआ गया, पतित व्यक्ति द्वारा देखा गया, रजस्वला स्त्री द्वारा छुआ गया, कौन खायेगा ? ऐसा कहकर पुकारा गया हो, गाय द्वारा सूँघा गया, जानबूझकर पैर से छुआ गया हो इस प्रकार के अन्न को नहीं खाना चाहिए।[4] किन्तु याज्ञवल्क्य ने भक्ष्य अन्न के बारे में कहा है कि शूद्रों में दास, अहीर या ग्वाला, कुल के मित्र, साझे पर खेती करने वाले का, नाई का तथा वाणी, मन, शरीर एवं कर्म से आत्मनिवेदन करने

---

[1] मनु० 5/10, 24–25
[2] याज्ञ० 1/169
[3] मनु० 4/208–217
[4] याज्ञ० 1/161–165, 167–68

वाले व्यक्ति का तथा कुम्भकार का अन्न खाने योग्य होता है।[1] गौतम तथा आपस्तम्ब के काल मे ब्राह्मण लोग क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्रो के यहॉ भोजन कर सकते थे किन्तु यह छूट बाद मे नियन्त्रित हो गयी और केवल उन्ही शूद्रो के यहॉ ब्राह्मण खा सकते थे जो ब्राह्मण की कृषि साझे मे करते हो, कुटुम्ब या परिवार के मित्र हो, अपने चरवाहे या दास हो। मनु ने भी कहा है शूद्र के पक्वान्न को ब्राह्मण न खाये, किन्तु खाने के लिए दूसरा अन्न नही रहने पर शूद्र से एक रात भोजन करने योग्य कच्चे अन्न को ले सकता है।[2] गौतम ने भी कहा है कि ईंधन, जल, भूसा, कन्दमूल, फल, मधु, रक्षा, बिना मागे जो मिले, शय्या, आसन, आश्रय, गाडी, दूध, भुना अन्न, शफरी (छोटी मछली) हिरन का मास, शाक आदि जब अचानक दिये जाय तो अस्वीकार नही करना चाहिए।[3] मनु के मतानुसार खेती करने वाले, वश का मित्र, गोपाल, दास, नाई और जिसने अपने को समर्पण कर दिया है ब्राह्मण आपत्काल मे भोजन इन शूद्रो के यहॉ कर सकता है।[4]

मद्यपान का प्रचलन समाज मे अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है गौतम, आपस्तम्ब तथा मनु ने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन उच्च वर्णों को सुरा पान से वचित किया है।[5] मनु, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, विष्णु के अनुसार सुरा या मद्य का पान करने वाले महापातकी होते है, और इनके साथ निवास करने वाला भी महापातकी होते है।[6] मनु ने अन्यत्र कहा है कि सुरा भोजन (खाद्य पदार्थों) का मल है और पाप भी मल कहा जाता है इस कारण से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को सुरापान नही करना चाहिए। गुड, आटे और महुए के फूल से बनी हुई तीन प्रकार की मदिरा को श्रेष्ठ द्विजो ब्राह्मणादि वर्णत्रय को उसका पान नहीं करना चाहिए।[7] मनु एव याज्ञवल्क्य के मतानुसार मद्यपान करने वाली पत्नी (चाहे वह शूद्र ही क्यो न हो और ब्राह्मण को ही क्यो न व्याही गयी हो) त्याज्य है।[8] वसिष्ठ धर्मसूत्र मे कहा गया है कि यदि ब्राह्मण पत्नी सुरापान करती है तो वह अपने पति के लोक को नहीं प्राप्त कर सकती, वह इसी लोक में जोंक, एव सीपी–घोघा बनकर जल मे घूमती रहती है।[9] याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि जो ब्राह्मण स्त्री सुरापान करती है वह पतिलोक नहीं प्राप्त करती है वह इसी लोक मे कुतिया, गिद्धनी और सूकरी होकर जन्म लेती है।[10]

इस प्रकार वैदिक साहित्य तथा धर्म सूत्रो एव स्मृतियों मे भक्ष्य तथा अभक्ष्य का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। आहार शुद्धि पर अधिक बल दिया गया है विवाह सस्कार के उपरान्त भोजन सम्बन्धी नियमो एव प्रतिबन्धो को सर्वाधिक प्रमुखता दी गयी है।

---

[1] याज्ञ0 1/166
[2] मनु0 4/223
[3] गौ0ध0सू0 17/1
[4] मनु0 4/253
[5] गौत0ध0सू0 2/25, आप0ध0सू0 1/5/17/21, मनु0 11/94
[6] मनु0 11/54, याज्ञ0 3/227, वसि0ध0सू0 1/20, वि0ध0सू0 15/1
[7] मनु0 11/93–94
[8] मनु0 9/80, याज्ञ0 1/73
[9] वसि0ध0सू0 21/1
[10] याज्ञ0 3/256

## 10. दान :

प्रत्येक युगो का अपना अलग–अलग धर्म था क्योकि एक युग के धर्म का दूसरे युग मे क्रमश ह्रास होता चला गया। मनु के अनुसार सत्य युग मे तप, त्रेता मे ज्ञान, द्वापर मे यज्ञ और कलि मे केवल दान प्रधान धर्म था।[1] प्रत्येक व्यक्तियो के लिए चार आश्रमो की व्यवस्था की गयी थी, जिसमे गृहस्थ आश्रम को सभी आश्रमो से श्रेष्ठ कहा गया था। क्योकि इसी के द्वारा अन्य आश्रमो के लोगो का परिपालन होता था। यम ने इन चारो आश्रमो का विशेष लक्षण कहा है कि यतियो का धर्म है शम, वानप्रस्थो का साधारण भोजन का त्याग, गृहस्थो का दान एव ब्रह्मचारियो का शुश्रूषा प्रधान धर्म है। वैदिक काल मे दानो एव दाताओ की अनेक प्रशस्ति कही गयी है। दानो मे गायो, रथो, अश्वो, ऊँटो, नारियो (दासियों) भोजन आदि का विशेष उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद मे आया है कि जो गायो का दान करता है वह स्वर्ग मे उच्च स्थान पर जाता है, जो अश्व दान करता है वह सूर्यलोक मे निवास करता है, जो स्वर्ण का दानी है वह देवता होता है और जो परिधान का दान करता है वह दीर्घ जीवन का लाभ प्राप्त करता है।[2] याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि गाय, भूमि, तिल, सोना आदि पात्र व्यक्ति को विधिपूर्वक अर्चना के साथ दानस्वरूप देना चाहिए। और अपने सम्पूर्ण फल की इच्छा करने वाले विद्वान को अपात्र (क्षत्रियादि एव पतित ब्राह्मण) को अल्प दान भी नही देना चाहिए।[3]

प्राचीन काल मे दान का अर्थ स्पष्ट किया गया है और याग, होम एव दान मे अन्तर प्राप्त होता है। याग मे देवता के लिए वैदिक मन्त्रो के कुछ वस्तुओ का त्याग होता है, होम मे अपनी किसी वस्तु की आहुति किसी देवता के लिए अग्नि मे दी जाती है, दान मे किसी दूसरे को अपनी वस्तु का स्वामी बना दिया जाता है। दान लेने की स्वीकृति मानसिक या वाचिक या शारीरिक रूप से हो सकती है। मनु के व्याख्याकार मेघातिथि ने कहा है कि ग्रहण मात्र कोई प्रतिग्रह नहीं है। उसी को प्रतिग्रह कहते हैं जो विशिष्ट स्वीकृति का परिचायक हो, अर्थात् जब उसे स्वीकार किया जाय तो दाता को अदृष्ट आध्यात्मिक पुण्य प्राप्त हो और जिसे देते समय वैदिक मन्त्रो का उच्चारण किया जाय। जब कोई भिक्षा देता है तब कोई मन्त्रोच्चारण नही करता, अत वह शास्त्रविहित दान नहीं है और स्नेह से मित्र या नौकर को दिया गया पदार्थ ही प्रतिग्रह है।[4] इसी प्रकार जब विद्यादान शब्द का प्रयोग किया जाता है तो यहाँ दान शब्द मात्र आलकारिक है नहीं तो गुरु को ही शिष्य के लिए दक्षिणा देनी पडेगी जबकि शिष्य गुरु को दक्षिणा प्रदान करता है। जब किसी उचित व्यक्ति को केवल अपना कर्तव्य समझ कर कुछ दिया जाता है तो उसे धर्मदान कहा जाता है।

दाता, प्रतिग्रहीता, श्रद्धा, धर्मयुक्त देय, उचित काल एव उचित देश (स्थान) दान के छ अंग का वर्णन किया है मनु ने कहा है कि आलस्य छोडकर श्रद्धा से इष्ट (मण्डप के भीतर यज्ञादि कार्य) तथा पूर्त

---

[1] मनु0 1/86
[2] ऋ0 10/107/2,7
[3] याज्ञ0 1/201
[4] मेघातिथि, मनु0 4/5

(बावली, कूप, तालाब, प्याऊ आदि) को सदैव करना (बनवाना) चाहिए। न्यायोपार्जित धन से श्रद्धा के साथ किये गये वे दोनो (इष्ट तथा पूर्त) अक्षय (अक्षय मोहरूप फल देने वाले) होते हैं तथा सर्वदा सन्तुष्ट होकर इष्ट तथा पूर्त कर्म करना चाहिए और याचित (किसी के द्वारा याचना किया गया) मनुष्य तथा शक्ति सत्पात्र को प्राप्तकर दानधर्म अवश्य करना चाहिए।[1] दक्ष ने कहा है कि माता–पिता, गुरु, मित्र, चरित्तवान व्यक्ति, उपकारी, दरिद्र (दीन), असहाय, विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति को दान देने से पुण्य प्राप्त होता है, किन्तु धूर्तो, बन्दियो, मल्लो, कुवैद्यो, जुआरियो, वञ्चको, चाटो, चारणो एव चोरो को दिया गया दान निष्फल होता है।[2] याज्ञवल्क्य के मतानुसार केवल (श्रुताध्ययन) विद्या से अथवा केवल शमदमादि तपस्या से कोई सुपात्र नही होता। जिस पुरुष के आचरण मे विद्या और तपस्या दोनो है। वह श्रेष्ठ पात्र होता है।[3] जो व्यक्ति विद्या सम्पन्न और तपस्वी न हो उसे दान नही लेना चाहिए यदि विद्या और तपस्या से हीन व्यक्ति दान लेता है तो वह अपने को और दाता को भी नरक मे डालता है। मनु ने भी कहा है कि वैडाल व्रतिक (धर्मरूपी ध्वजा के पीछे पाप करने वाला), बकव्रतिक (अपनी साधुता प्रसिद्धि के लिए सर्वदा नीच कर्म करने वाला) और वेदज्ञानहीन के लिए दिया गया विधिपूर्वक भी उपार्जित धन दानकर्ता तथा दानग्रहीता के लिए परलोक मे नरक प्राप्ति के लिए होता है। इसके साथ ही जो ब्रह्मचारी या सन्यासी आदि नहीं होता हुआ भी उनके चिन्ह को धारण कर वृत्ति (उन चिन्हो से लोगो मे विश्वास पैदा कर भिक्षादि लेता हुआ अपनी जीविका) चलाता है वह ब्रह्मचारी या सन्यासी मनुष्यो के पाप को प्राप्त करता हुआ मरकर तिर्यग्योनि मे उत्पन्न होता है।[4] विष्णु धर्मसूत्र मे भी यही बात कही गयी है।[5] विष्णु धर्मोत्तर ने भी कहा है कि भोजन एव वस्त्र के दान मे मनुष्य की आवश्यकता देखनी चाहिए उसकी जाति को नहीं देखना चाहिए। मनु ने कहा है कि जो सत्कार सहित दान लेता है और जो सत्कार सहित दान देता है वे दोनो स्वर्ग को प्राप्त करते हैं इसके विरुद्ध असत्कार पूर्वक दान लेने या देने से वे नरक को प्राप्त करते हैं।[6]

ससार के सर्वश्रेष्ठ प्रिय पदार्थ तथा जिसे व्यक्ति बहुत मूल्यवान समझता है उसका गुणवान् व्यक्ति को दिया जाना अक्षय गुण एव पुण्य देने वाला दान कहा जाता है। श्रद्धा से जो कुछ सुपात्र को दिया जाय वह सफल देय है किन्तु अश्रद्धा से या कुपात्र को दिया गया धन निष्फल होता है। अपनी समर्थता के अनुसार देना चाहिए। याज्ञवल्क्य के मतानुसार उर्वरा भूमि, दीपक, अन्न, वस्त्र, जल, तिल, घी, परदेशी को आश्रयस्थान, कन्या, सोना , भार ढोने वाले बैल, घर, धान्य का दान, अभयदान, जूता, छाता, कुकुमचन्दन आदि लेपन, रथ इत्यादि सवारी, आम्रादि फल वाले वृक्ष, अभीष्ट वस्तु तथा शय्या का दान देकर दाता अत्यन्त सुख और स्वर्ग में सम्माननीय स्थान पाता है।[7] वसिष्ठ तथा वृहस्पति के अनुसार गाय, भूमि एव विद्या

---

[1] मनु0 4/226–227
[2] दक्ष – 3/17–18
[3] याज्ञ0 1/200, 202
[4] मनु0 4/193–200
[5] वि0ध0सू0 93/7–13
[6] मनु0 4/235
[7] याज्ञ0 1/210–11

ये तीन प्रकार के देय सर्वोत्तम कहे जाते है।[1] मनु ने कहा है कि जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृत इन सब दानो से वेद का पढाना या ब्रह्मदान श्रेष्ठ फल देने वाला होता है।[2] अत्रि एव याज्ञवल्क्य का कहना है कि सब धर्मों के ज्ञान से युक्त होने के कारण वेद का दान सभी दानो से बढकर होता है इसका दान करने वाला ब्रह्मलोक मे अचल होकर सतत निवास करता है।[3] बिना मागे दान के विषय मे मनु, विष्णु तथा आपस्तम्ब के अनुसार शय्या, घर, कुशा, गन्ध (चन्दन, कर्पूर, कस्तूरी आदि) जल, फूल, मणि, दही, भूने हुए जौ या चावल, मछली, दूध, मास और शाक ये यदि बिना मागे गृह पर दाता लावे तब इनको मना नही करना चाहिए , किन्तु वैद्य, कृतघ्न, शिल्पी, सूदखोर, नपुसक और कुलटा स्त्री की भिक्षा बिना मागे सामने आये तो भी नही लेना चाहिए।[4] याज्ञवल्क्य के मतानुसार कुश, शाक, दूध, मछली, सुगन्धि, फूल, दही, भूमि, मास, शय्या, आसन, भूने हुए धान और जल ये सब बिना मागे ही मिले तो अस्वीकार नही करना चाहिए, और बिना मागे ही दुराचारी व्यक्ति द्वारा भी लाई हुई (कुशादि) वस्तुऍ ग्रहण करने योग्य होती हैं किन्तु कुलटा स्त्री, नपुसक एव पतित व्यक्ति द्वारा स्वय लाई गयी वस्तुऍ भी ग्रहण नही करना चाहिए।[5]

कुछ वस्तुऍ ऐसी होती हैं जो दान मे नही दी जा सकती हैं नारद ने इसे कहा है कि ऋण चुकाने के लिए ऋणी द्वारा ऋणदाता को देने के लिए तीसरे व्यक्ति को दिया गया धन, प्रयोग मे लाने के लिए उधार ली गयी सामग्री, न्यास (ट्रस्ट), सयुक्त या कई लोगो को साझे वाली सम्पत्ति, किसी का जमा किया धन, पुत्र एव पत्नी, सन्तानो के रहने पर अपनी पूरी सम्पत्ति, दूसरे को पहले से ही दिया हुआ पदार्थ दान के लिए वर्जित है।[6] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि दान इतना ही देना चाहिए जिससे अपने कुटुम्ब के भरण–पोषण मे कठिनाई न हो, पुत्र और स्त्री दान मे नही देना चाहिए और यदि पुत्र और पौत्र आदि हो तो सब कुछ दान नही करना चाहिए।[7] आपस्तम्ब तथा वौधायन ने कहा है कि अपने आश्रितों (जिनका भरण पोषण करना अपना विशिष्ट उत्तरदायित्व है), नौकरो एव दासो की चिन्ता न करके अतिथियो एव अन्य को भोजन बॉट देना अनुचित है।[8] मनु ने भी कहा है कि दान देने मे समर्थ जो मनुष्य अपने परिवार वालो के दु खित रहने पर (अपने यश तथा प्रसिद्धि के लिए) दान देता है वह (समाज मे यश एव प्रसिद्धि होने पर) पहले मधु के समान मीठा और बाद मे (परिवार वालो के दुखित होने के कारण नरक पाने से ) विष के समान कटु धर्म का पाखण्डी है अतएव ऐसे दान नहीं करना चाहिए, तथा जो मनुष्य स्त्री–पुत्रादि पालनीय परिवार को पीडित कर पारलौकिक सुख की इच्छा से श्राद्धादि दान करता है , उस मनुष्य का वह दान जीते हुए तथा मरने पर दु खदायी होता है।[9] कुछ पदार्थ को भी दान के रूप मे स्वीकार नहीं करना चाहिए वसिष्ठ के अनुसार

---

[1] वसि0ध0सू0 29/19, वृहस्पति – 18
[2] मनु0 4/233
[3] अत्रि 340, याज्ञ0 1/212
[4] मनु0 4/247–250, आप0ध0सू0 1/6/19/13–14, वि0ध0सू0 57/11
[5] याज्ञ0 1/214–215
[6] नारद – दत्ताप्रदानिक 4–5
[7] याज्ञ0 2/175
[8] आप0ध0सू0 2/4/9/10–12, बौध0ध0सू0 2/3/19
[9] मनु0 11/9–10

ब्राह्मणो के लिए अस्त्र–शस्त्र, विषैले पदार्थ एव उन्मत्तकारी पदार्थों को ग्रहण नही करना चाहिए।[1] मनु ने कहा है कि अविद्वान ब्राह्मण को सुवर्ण, भूमि, अश्वो, गाय, भोजन, वस्त्र, तिल और घृत का दान नही लेना चाहिए यदि वह लेगा तो काष्ठ के समान भस्म हो जायेगा।[2]

दान करने के लिए भी उचित कालो का विधान किया गया है क्योकि प्रतिदिन के दान कर्म से विशिष्ट अवसरो के दान कर्म अधिक सफल एव पुण्यपद माने जाते हैं याज्ञवल्क्य के मतानुसार शक्ति के अनुसार प्रतिदिन गौ आदि पात्र को दान देना चाहिए, चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण जैसे अवसर पर विशेष रूप से दान देना चाहिए।[3] रात्रि मे दान नही करना चाहिए यह एक सामान्य नियम है किन्तु अत्रि ने कहा है कि ग्रहणो, विवाहो, सक्रान्तियो एव पुत्ररत्न लाभ के अवसर पर रात्रि मे दान दिये तथा लिये जा सकते हैं।[4] सभी प्रकार के दानो मे दक्षिणा देना भी अनिवार्य माना गया है यह दक्षिणा व्यक्ति की सामर्थ्यता के अनुसार होना चाहिए। अग्निपुराण मे कहा गया है कि सोने–चॉदी, ताम्र, चावल, अन्न के दान मे तथा आह्निक श्राद्ध एव आह्निक देवपूजा के समय दक्षिणा देना अनिवार्य नही माना है। दक्षिणा सोने के रूप मे ही दी जाती थी, किन्तु सोने के दान मे चॉदी की दक्षिणा दी जा सकती थी।[5]

भूमिदान को प्राचीन काल से ही सर्वोच्च पुण्यकारी कृत्य माना गया है। वसिष्ठ के अनुसार सभी दानो मे भूदान की महत्ता अत्यधिक है।[6] अनुशासन पर्व मे कहा गया है कि परिस्थिति वश व्यक्ति जो कुछ पाप कर बैठता है वह गोचर्म मात्र भूदान से मिट सकता है।[7] याज्ञवल्क्य के मतानुसार राजा भूमि देकर या उसका निर्धारण करके भविष्य के साधु वृति वाले राजाओ के लिए लिखित आदेश छोडने चाहिए। राजा को वस्त्र या ताम्रपट्ट पर अपनी मुद्रा (मुहर) अकित करके अपने वश के पूर्वजों के नाम तथा अपना नाम दान के वस्तु को परिमाण एव उन स्मृतियो की उक्तियॉ लिखवा दे और तब अपने हाथ से पितृनाम सहित अपना नाम एव तिथि लिखकर उस राजाज्ञा को प्रामाणिक बनवाना चाहिए।[8] याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार मिताक्षरा ने कहा है कि छह परिस्थितियो में अपने आप, ग्राम, ज्ञातियो (जाति भाई लोगों), सामन्तो, दायादों की अनुमति, तथा सकल्प जल से भूमि दी जाती है।[9] प्राचीन काल मे ब्राह्मणो को दान दिये जाने वाले ग्राम या भूमिखण्ड को अग्रहार कहा जाता था।

गोदान की भी स्मृतियो तथा धर्मसूत्रों मे बडी प्रशसा की गयी है। मनु के अनुसार जो व्यक्ति गाय का दान करता है वह सूर्यलोक को प्राप्त करता है।[10] याज्ञवल्क्य के अनुसार सोने से सींग और चांदी से खुर मढाकर, वस्त्र ओढाकर दूध देने वाली सीधी गाय, कासे के दुग्ध पात्र एव दक्षिणा के साथ दान देने पर गाय

---

[1] वसि०ध०सू० 13/55
[2] मनु० 4/188
[3] याज्ञ० 1/203
[4] अत्रि – 327
[5] अग्नि पुराण – 211/31
[6] वसि०ध०सू० 29/16
[7] महा०अनु०पर्व० 62/19
[8] याज्ञ० 1/318–320
[9] मिताक्षरा, याज्ञ० 2/114
[10] मनु० 4/231

के शरीर मे जितने रोए होते है दाता उतने वर्ष तक स्वर्ग को प्राप्त करता है और यदि वह गाय कपिला हो तो दाता को ही नही अपितु उसकी सातवी पीढी तक को तार देती है।[1] अनुशासन पर्व मे भी कहा गया है कि गाय यज्ञ का मूलभूत साधन है क्योकि यह मनुष्य का दूध से पालन करती है एव इसकी सन्तानो (बैलों) से कृषि का कार्य होता है इसलिए इसकी प्रशसा होनी चाहिए।[2] याज्ञवल्क्य ने अन्यत्र यह भी कहा है कि सोने से सीग और चॉदी से खुर मढाये बिना भी दूध देने वाली या अवन्ध्या, रोगहीन और दुर्बल गाय का दान करने वाला व्यक्ति स्वर्ग मे पूजा जाता है।[3] किन्तु ब्राह्मण को कृश, बिना बछडे की, बॉझ, रोगी, जिसका कोई अग भग हो गया हो, एव थकी हुई गाय दान नहीं देना चाहिए।

इस प्रकार प्राचीन काल से लेकर स्मृतियो के काल मे दान की महत्ता स्थापित की गयी थी क्योकि कलियुग मे दान के द्वारा व्यक्ति स्वर्गलोक को प्राप्त करता है। अत इस युग मे दान देने योग्य वस्तुओ का दान देना व्यक्ति का परम धर्म है।

************

[1] याज्ञ0 1/204–205
[2] महा0 अनु0पर्व0 83/17–1
[3] याज्ञ0 1/208

# तृतीय अध्याय

# स्त्री धर्म

# स्त्री धर्म

भारतीय सामाजिक व्यवस्था मे स्त्रियो का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। हिन्दू समाज मे उनका सम्मान और आदर प्राचीन काल से आदर्शात्मक और मर्यादा युक्त था। उन्हे विवाह, शिक्षा, सम्पत्ति आदि मे अधिकार प्राप्त थे। कन्या के रूप मे, पत्नी के रूप मे तथा मॉ के रूप मे वे हिन्दू परिवार और समाज मे आदृत थी। उनके प्रति समाज की स्वाभाविक निष्ठा और श्रद्धा रही है। परिवार और समुदाय मे उनके द्वारा कन्या, पत्नी, बधू और मॉ के रूप मे किये जाने वाले योगदान का सर्वदा महत्त्व और गौरव रहा है। भारतीय धर्मशास्त्र मे नारी सर्वशक्ति सम्पन तथा विद्या, शील, ममता, यश और सम्पत्ति की प्रतीक समझी गयी। अथर्ववेद मे कहा गया है कि स्त्रीगृह की सामग्री होती है। तथा घर के अन्य सदस्य उसके शासन से निर्देशित होते है।[1] शतपथ ब्राह्मण तथा मनु के मतानुसार स्त्री के बिना अकेला पुरुष अपूर्ण और अधूरा है, स्त्री, सन्तान और स्वदेह ये तीनो मिलकर ही पुरुष को पूर्ण बनाते हैं।[2] व्यास स्मृति के मतानुसार स्त्री पुरुष की शरीरार्द्ध और अर्द्धांगिनी है तथा श्री और लक्ष्मी के रूप मे वह मनुष्य के जीवन को सुख और समृद्धि से दीप्ति और पुजित करने वाली कही गयी।[3] उसका आगमन पुरुष के लिए शुभ, सौभाग्य और सम्मान का प्रतीक है ।

वैदिक युग मे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे नारी समान रूप से आदृत थी। शिक्षाा, धर्म व्यक्तित्त्व और सामाजिक विकास मे उसका महान योगदान था। ऋग्वेद के अनुसार वह पति के साथ मिलकर गृह के याज्ञिक कार्य सम्पन्न करती थी।[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार स्त्री और पुरूष दोनो यज्ञ रूपी रथ के जुडे हुए दो बैल थे।[5] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ मे उसकी उपस्थिति की अनिवार्यता उसकी 'पत्नी' सज्ञा चरितार्थ करती तथा उसके दाम्पत्य का 'जाया' स्वरूप मूर्त्त करती है।[6] वैदिक युग मे स्त्री स्वतत्र और मुक्त थी । वह सभी दृष्टियो पुरुषो के समान थी। किन्तु परवर्ती कालो मे उसकी स्वतत्रता का धीरे–धीरे ह्रास होने लगा ।

धर्मसूत्रो और स्मृतियो के काल मे स्त्री की स्वतत्रता का अधिकार समाप्त हो गया। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार स्त्री के साथ भोजन करने वाले पुरुष को गर्हित आचरण करने वाला व्यक्ति होता है ।[7] तथा उस स्त्री की प्रशसा की गई जो प्रतिवाद न करने वाली थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उसका स्वतत्र अस्तित्व समाप्त हो गया उसके शरीर पर उसके पति का स्वत्व हो गया।[8] याज्ञवल्क्य के अनुसार पति के अनुकूल एवं श्रेयस्कर कार्य मे तत्पर, सुन्दर आचरण करने वाली तथा यत्नपूर्वक इन्द्रियो को वश मे रखने वाली स्त्री इस ससार मे कीर्ति को

---

[1] अथर्ववेद – 14/14
[2] शत0ब्रा0 5/2/110, मनु0/9/45
[3] व्यास स्मृति 2/14
[4] ऋ0 1/72/5
[5] तैत्ति0 ब्रा0 3/75
[6] शत0 ब्रा0 1/19/2/14
[7] बौ0ध0सू0 1/1/19
[8] शत0 ब्रा0 4/1/2/13

प्राप्त करती है और परलोक मे उत्तम गति को पाती है।[1] मनु ने कहा है कि स्त्री कभी भी स्वतत्र रहने के योग्य नही है जब तक वह कन्या रहे उस पर पिता का सरक्षण रहे, जब विवाह हो जाय तब उस पर पति का सरक्षण रहे और जब वह वृद्धावस्था मे हो तब पुत्र का उस पर सरक्षण रहे, स्त्री को अपने घर मे भी अपनी इच्छा से कोई काम नही करना चाहिए। पिता, पति तथा पुत्र की आज्ञा तथा सम्मति के अनुसार ही उसे कार्य करना चाहिए।[2] याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार विज्ञानेश्वर ने शख का उद्धरण देकर टिप्पणी की है कि वह घर से बिना कहे और बिना चादर ओढे बाहर न जाये, शीघ्रता पूर्वक न चले, बनिये, सन्यासी वृद्ध, वैद्य के अतिरिक्त किसी पर पुरूष से बात न करे, अपनी नाभि खुली न रखे, एडी तक कपडा पहने, स्तनो पर से कपडा न हटाये, मुँह ढॅके बिना न हॅसे, पति या सम्बन्धियो से घृणा न करे। वह धूर्त, वेश्या, अभिसारिणी, सन्यासिनी, भाग्य बताने वाली, जादू–टोना या गुप्त विधियॉ करने वाली दु श्लील स्त्रियो के साथ न रहे। इनकी सगति से कुलगत स्त्रियो का चरित्र निम्न होता है।[3]

मनु ने कहा है कि अपने कल्याण के लिए पिता, भाई, पति और देवर को चाहिए कि वे सदा (विवाह के बाद भी) कन्या का पूजन तथा वस्त्राभूषणो से उसे अलकृत करना चाहिए, जिस कुल मे स्त्रियो की पूजा होती है उस कुल पर देवता प्रसन्न होते है और जिस कुल मे स्त्रियो की पूजा नही होती उस कुल मे सब कर्म निष्फल होते है इसलिए स्त्रियो का अनादर नही करना चाहिए, तथा जिस कुल मे स्त्री, पुत्रवधू, बहन, भानजी, कन्या आदि शोक करती है वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और जिस कुल मे शोक नहीं करती अपितु प्रसन्न रहती हैं कुल सर्वदा उन्नति करता है इसके साथ ही यदि ये (स्त्री, पुत्रवधू, बहन, भानजी, कन्या आदि) अनादर पाकर शाप देती है तो वह गृहकृत्या (अभिचारकर्म–मारण, मोहन, उच्चाटनादि ) से हत के समान सब ओर से ( धन, धान्य, परिवार आदि के सहित) नष्ट हो जाता है, इस कारण उन्नति चाहने वाले मनुष्य को सत्कार तथा यज्ञोपवीत आदि उत्सवो के अवसरो पर इन स्त्रियो का वस्त्र, भूषण और भोजनादि से विशेष आदर सत्कार करना चाहिए और जिस कुल मे स्त्री में पति तथा पति से स्त्री सन्तुष्ट रहती है, उस कुल मे अवश्य ही सर्वदा कल्याण होता है। यदि स्त्री वस्त्राभूषण आदि से रुचिकर नहीं होती है तो वह पति को आनन्दित नहीं करती और हर्षित नही होने पर वह पति गर्भाधान करने मे प्रवृत्त नहीं होता है इसलिए वस्त्र आभूषणादि के द्वारा स्त्री के प्रसन्न रहने पर वह सम्पूर्ण कुल सुशोभित होता है तथा उस स्त्री के प्रसन्न नही रहने पर वह सम्पूर्ण कुल मलिन हो जाता है ।[4] याज्ञवल्क्य के मतानुसार नारी को सोमदेवता ने पवित्रता दी, गन्धर्व ने मधुर वाणी, अग्नि ने सभी प्रकार से पवित्र होने की शक्ति दी है जहॉ स्त्री पुरुष दोनो परस्पर अनुकूल आचरण करते है वहाँ धर्म, अर्थ और

---

[1] याज्ञ0 1/87
[2] मनु0 5/147–148
[3] विज्ञानेश्वर – याज्ञ0 1/87
[4] मनु0 3/55–62

काम की प्रतिदिन वृद्धि होती है । स्त्रियाँ उपभोग्य के योग्य होती है क्योकि पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र तथा स्वर्ग की प्राप्ति स्त्रियो से सिद्ध होते हैं इसलिए धर्मपूर्वक उनकी रक्षा करनी चाहिए। स्त्रियाँ पति, भाई, पिता, जाति के लोग, सास, श्वसुर, देवर और बन्धुवर्ग द्वारा वस्त्र, आभूषण एव भोजनादि से सम्मान करने के योग्य होती है।[1] गौतम तथा मनु ने कहा है कि यदि स्त्री अपने से नीच जाति के पुरुष से अवैध रूप से सभोग करे तो उसे कुत्तो द्वारा नुचवाकर मार डालना चाहिए।[2] वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य तथा देवल का मत है कि यदि कोई स्त्री पर जाति के पुरुष से सभोग कर ले और उसे गर्भ रह जाय तो वह जाति च्युत नही होती, केवल बच्चा जनने या मासिक धर्म के प्रकट होने तक अपवित्र रहती है। पवित्र हो जाने पर उससे पुन सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है और उत्पन्न बच्चा किसी अन्य को पालने के लिए दे दिया जाता है।[3]

वैदिक तथा स्मृतियो के काल मे स्त्रियो के विरोध मे भी अनेक उक्तियो का अवलोकन होता है मैत्रायणी सहिता मे स्त्री को 'अनृत' अर्थात् झूँठ का अवतार कहा गया है।[4] ऋग्वेद तथा शतपथब्राह्मण का कहना है कि स्त्रियो के साथ कोई मित्रता नही है, उनके हृदय भेडियो के हृदय हैं।[5] तैत्तिरीय सहिता का कथन है कि स्त्रियाँ बिना शक्ति की है, उन्हे दाय नहीं मिलता, वे दुष्ट से भी बढकर दुर्बल ढग से बोलती हैं।[6] शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया कि स्त्री, शूद्र, कुत्ता एव कौआ मे असत्य, पाप एव अधकार विराजमान रहता है तथा पत्नियाँ घृत या व्रज से हत होने पर और बिना पुरुष के होने पर न तो दाय भाग पर, न ही अपने पर राज्य करती हैं।[7] बौधायन तथा मनु ने कहा कि स्त्रियो को दाय मे भाग नही मिलता और न उन्हे वैदिक मन्त्रो का अधिकार ही है।[8]

समाज को आदर्श और सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए यह अपेक्षित था कि स्त्री का चरित्र और आचरण उज्ज्वल और सुसस्कृत हो। स्त्री के चरित्र और व्यवहार से परिवार और समाज का उत्कर्ष होता है। उसकी नैतिकता, चारित्रिक सौष्ठव और निष्ठा से कुटुम्ब की गरिमा बनती है। अत दुश्चरित्र , अनैतिक और आचरणहीन स्त्री समाज और परिवार के लिए कलक मानी गयी है। याज्ञवल्क्य ने ऐसी दुश्चरित्र स्त्री के सभी अधिकार छीन लेने तथा जीवन निर्वाह के लिए उसे केवल भोजन देने तथा अनादर पूर्वक गन्दे वस्त्र पहनाकर भूमि पर शयन करने की व्यवस्था दी है ।[9] मनु ने कहा है कि अपुत्रवती व्यभिचारिणी स्त्री कृच्छ्र तथा चान्द्रायण व्रत से शुद्धि होती है।[10] मनु ने अन्यत्र कहा है कि सुरापान, दुष्टो का ससर्ग, पति के साथ विरह, इधर–उधर

---

[1] याज्ञ० 1/71 74,78 82
[2] गौ०ध०सू० 23/14, मनु० 8/371
[3] वसि०ध०सू० 21/10 याज्ञ० 1/72, देवल० 50/51
[4] मैत्रा० स० 1/10/11
[5] ऋ० 10/95/15, शत०ब्रा० 11/5/1/9
[6] तैत्ति० स० 6/5/8/2
[7] शत०ब्रा० 14/1/1/31, 4/4/2/13
[8] बौध०ध०सू० 2/2/53, मनु० 9/18
[9] याज्ञ० 1/70
[10] मनु० 11/177

घूमना, असमय मे सोना और दूसरे के घर मे निवास करना ये स्त्रियो के छह दोष है स्त्रियॉ पुरुष के सुन्दर रूप की परीक्षा नही करती, युवावस्था आदि मे आदर नही करती, केवल पुरुष है इसी विचार से सुन्दर या कुरूप पुरुष के साथ ससर्ग करती हैं। व्यभिचारिता से, चित्त की चचलता से और स्नेह के अभाव होने से यत्नपूर्वक सुरक्षित करने पर भी ये पतियो के विपरीत प्रकृतिवाली हो जाती है। मनु ने यह भी कहा है कि शय्या, आसन, आभूषण, काम, क्रोध, कुटिलता, द्रोहभाव और दुराचरण इनको सृष्टि के प्रारम्भ मे स्त्रियो के लिए ही बनाया गया है।[1] रामायण मे भी स्त्रियो की भरपूर निन्दा की गयी है उन्हे धर्मभ्रष्ट, चचल, क्रूर और विरक्ति को उत्पन्न करने वाली कही गयी है।[2] मनु तथा अनुशासन पर्व मे कहा गया है कि पुरुषो को अपनी ओर श्रृगार चेष्टाओ के द्वारा आकृष्ट करना स्त्रियो का स्वभाव सा है अतएव विद्वान लोग नवयुवतियो से सावधानी से बातचीत करते हैं, क्योकि काम तथा क्रोध के वशीभूत मूर्ख या विद्वान पुरुष को नवयुवतियॉ पथभ्रष्ट कराने मे समर्थ होती हैं ।[3] आधुनिक काल मे कुछ लोग अनृत (झूठ बोलना), साहस (विवेक शून्य कार्य), माया (धूर्तता), मूर्खत्व, अति लोभ, अशौच (अपवित्रता), निर्दयता ये स्त्रियो के स्वाभाविक दोष मानते हैं ।

स्त्रियो के बारे मे विरोध उक्तियो के साथ ही साथ स्मृतियो मे माता के विषय मे प्रशसा एव सम्मान के बहुत से वक्तव्य प्राप्त होते है। गौतम ने कहा है कि आचार्य गुरुओ मे श्रेष्ठ हैं, किन्तु माता सर्वश्रेष्ठ है।[4] आपस्तम्ब तथा बौधायन का कहना है कि पुत्र को चाहिए कि वह अपनी माता की सदा सेवा करे, भले ही वह जातिच्युत हो चुकी हो, क्योकि वह उसके लिए महान् कष्टो को सहन करती हैं।[5] वसिष्ठ के मतानुसार पतित पिता का त्याग हो सकता है, किन्तु पतित माता का नही, क्योकि पुत्र के लिए वह कभी भी पतित नहीं है।[6] मनु ने कहा है कि दस उपाध्यायो की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता और सहस्र पिताओ की अपेक्षा माता गौरव मे अधिक है।[7] शख ने कहा है कि पुत्र को पिता एव माता के युद्ध मे किसी का पक्ष नहीं लेना चाहिए, किन्तु यदि वह चाहे तो माता के पक्ष मे बोल सकता है, क्योकि माता ने उसे गर्भ में धारण किया एव उसका पालन–पोषण किया, पुत्र जब तक वह जीवित है अपनी माता के ऋण से छुटकारा नहीं पा सकता, केवल सौत्रामणि यज्ञ करने से ही उऋण हो सकता है। याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि माता का स्थान गुरु, आचार्य, उपाध्याय और ऋत्विज् से अधिक पूजनीय है।[8]

---

[1] मनु0 9/13–15 एव 17
[2] राम0अर0 45/29–30
[3] मनु0 2/213–214, अनु0पर्व – 48/37–38
[4] गौ0ध0सू0 2/56
[5] आप0ध0सू0 1/10/28/9, बौ0ध0सू0 2/2/48
[6] वसि0ध0सू0 13/47
[7] मनु0 2/145
[8] याज्ञ0 1/35

## 1. बहुपत्नीकता :

हिन्दू जीवन पद्धति मे सामान्यत एक विवाह ही आदर्श रहा है जिसमे स्त्री के लिए एक ही पति और पुरुष के लिए एक ही पत्नी का विधान किया गया है आदर्श पुरुष और स्त्री वही कही जा सकती थी जिससे स्थायित्व होता था और जिसका एक ही विवाह होता था । आपस्तम्ब के अनुसार धर्म तथा प्रजा से सम्पन्न पत्नी के रहते हुए पुरुष को अपना दूसरा विवाह नही करना चाहिए।[1] नारद का मत है कि अनुकूल, मधुभाषिणी, गृहकार्य मे दक्ष, पतिव्रता एव सन्तानवाली पत्नी को छोडकर दूसूरी पत्नी से विवाह करने वाले पुरुष के लिए राजा कठोर दड से उचित मार्ग पर रखे ।[2] किन्तु इस सिद्धान्त के बावजूद समाज मे बहुविवाह का प्रचलन था । बहु विवाह का अभिप्राय है पति एव पत्नी अपने जीवन काल मे ही एक से अधिक पत्नी एव पति को जीवन साथी के रूप मे रखना। इसके दो रूप है एक बहुपत्नी विवाह और दूसरा बहुपति विवाह। हिन्दू समाज मे प्राचीन काल से ही बहुपत्नीत्व एव बहुभर्तृकता की प्रथा रही है धर्मसूत्रो मे भी कहा गया है कि पुरुष एक से अधिक पत्नियॉ रख सकता है किन्तु एक से अधिक पत्नी रखने की अनुमति व्यक्ति को किन्ही विशेष परिस्थितियो मे ही प्रदान की जाती थी।

वैदिक काल से ही बहुपत्नीकता के अनेक उदाहरण प्राप्त होते है। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि पत्नी द्वारा सौत के प्रति पति प्रेम घटाने के लिए मन्त्र का उच्चारण किया गया है । ऋग्वेद मे यह भी कहा गया है कि इन्द्र की कई रानियॉ थी क्योकि उसकी रानी शची ने अपनी बहुत सी सौतो को हरा दिया था या मार डाला था तथा इन्द्र एव अन्य पुरुषो पर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया था।[3] तैत्तिरीय सहिता मे कहा गया है कि एक यूप मे दो रशनाएँ बॉधी जा सकती है अत एक पुरुष दो पत्नियॉ रख सकता है। एक रशना दो यूपो से नही बॉधी जा सकती, इसलिए एक पत्नी दो पति नहीं रख सकती है।[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण मे अश्वमेघ के विषय मे कहा गया है कि पत्नियॉ घोडे को उबटन लगाती थी, पत्नियॉ सचमुच सम्पत्ति के समान थी ।[5] बहुपत्नीकता की प्रथा राजाओ और धनिक वर्गों मे अधिक थी। शतपथ ब्राह्मण मे आया है कि राजाओ की साधारणत चार प्रकार की पत्नियॉ सेवा करती थी–महिषी (अभिषिक्त रानी), वावाता (व्यक्तिगत रूप से प्रिय), परिवृक्ता (त्यागी हुई), एव पालागली (सबसे निम्न व्यक्ति की कन्या)।[6] तैत्तिरीय सहिता मे भी परिवृक्ता एवं महिषी पत्नियों का विवरण प्राप्त होता है।[7] वाजसनेयी सहिता मे भी ब्रह्मा के लिए महिषी, उद्‌गाता के लिए वावाता एव होता के लिए परिवृक्ता

---

[1] आप0ध0सू0 2/5/12
[2] नारद (स्त्री पुंस0) 95
3 ऋ0 10/145, 159
[4] तैत्ति0 स0 6/6/4/3
[5] तैत्ति0 ब्रा0 3/8/4
[6] श0ब्रा0 13/4/1/9
[7] तैत्ति0सं0 1/8/9

सम्बोधन के लिए प्रयुक्त किया गया है।[1] मैत्रायणी सहिता एव बृहदारण्यकोपनिषद् से ज्ञात होता है कि मनु की दस पत्नियॉ थी और याज्ञवल्क्य की मैत्रयी और कात्यायनी नामक दो विदुषी पत्नियॉ थी।[2]

आपस्तम्ब के अनुसार धर्म एव सन्तान से युक्त अगर पत्नी हो तो पुरुष को दूसरी शादी नही करना चाहिए, किन्तु धर्म एव सन्तान मे एक के अभाव मे उसकी पूर्ति के लिए श्रौत कर्म के पूर्व दूसरी स्त्री से विवाह कर लेना चाहिए। यह भी कहा गया है यदि कोई अपनी निर्दोष पत्नी का त्याग करता है तो उसे गधे की खाल ओढकर छह महीनो तक सात घरो मे भिक्षा मॉगनी चाहिए।[3] इससे यह ज्ञात होता है कि पुरुष द्वारा दूसरी पत्नी से विवाह धर्म निमित्त तथा सन्तान के कारण करता था। पारस्कर गृहसूत्र के अनुसार ब्राह्मण के तीन पत्नियॉ (ब्राह्मणी, क्षत्रिया, और वैश्या), क्षत्रिय की दो पत्नियॉ (क्षत्रिय एव वैश्या) और वैश्या की एक पत्नी हो सकती है।[4] मनु के मतानुसार मद्यपान करने वाली, दुराचार वाली, पति के प्रतिकूल रहने वाली, रोगवाली, मारने या फटकारने वाली और अधिक धन व्यय करने वाली स्त्री हो तो पति उसके जीवित रहने पर भी दूसरा विवाह कर सकता है।[5] याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि सुरापान करने वाली, दीर्घ रोग से ग्रस्त, धूर्त, बॉझ, धन का नाश करने वाली, कठोर वचन बोलने वाली, पुत्रियो को जन्म देने वाली और पति का अहित करने वाली पत्नी के रहते हुए भी दूसरा विवाह कर लेना चाहिए।[6] मनु के मतानुसार सन्तान हीन आठवे वर्ष मे, मृत सन्तान स्त्री की दसवे वर्ष मे, कन्या को उत्पन्न करने वाली स्त्री की ग्यारहवे वर्ष मे और अप्रिय वचन बोलने वाली स्त्री की तत्काल उपेक्षा करके उसके जीवित रहने पर भी पति दूसरा विवाह कर सकता है।[7] कौटिल्य ने भी कहा है कि पति को प्रथम सन्तानोत्पत्ति के उपरान्त यदि सन्तान न हो तो आठ वर्ष इतजार करके पुनर्विवाह करना चाहिए ।[8] नारद ने भी कह है कि यदि पत्नी अनुकूल, मधुरभाषी दक्ष, साध्वी एव पुत्र वाली हो और उसका पति यदि त्याग दे तो राजा को ऐसे दुष्ट पति को दण्डित करना चाहिए।[9]

बहुपत्नीत्व प्रथा के अनेक सामाजिक कारण थे– पुत्रो की अत्यधिक आध्यात्मिक महत्ता, बाल–विवाह एव उसके फलस्वरूप, स्त्रियो की अशिक्षा, स्त्रियो को अपवित्र मानने की प्रथा का क्रमशः विकास, स्त्रियों को शूद्रों के समान मानना, स्त्रियो की पुरुषो पर पूर्ण आश्रितता। समाज मे रहने वाले कुछ लोग अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान एक से अधिक पत्नी रखने पर मानते थे, जिस व्यक्ति की आर्थिक स्थिति जितनी सुदृढ और अच्छी होती थी। वह अपनी इच्छानुसार जितनी चाहे उतनी पत्नियॉ रख सकता था।

---

[1] वाज०स० 23/24,26,28
[2] मै०स० 1/58, बृह०उ० 4/5/1–2
[3] आप०ध०सू० 2/5/11/12–13, 1/10/28/19
[4] पा०गृ० 1/4/8–11
[5] मनु० 9/80
[6] याज्ञ० 1/73
[7] मनु० 9/81
[8] अर्थशास्त्र 3/2
[9] नारद – स्त्रीपुंस – 95

## 2. बहुभर्तृकता :

बहुभर्तृकता विवाह मे एक स्त्री एक से अधिक पति के साथ विवाह करती है हिन्दू समाज मे बहुभर्तृकता का प्रचलन नही था, जितना बहुपत्नीत्व का था। अनेक पतियो वाली स्त्री समाज मे बहुत अधिक आदर की पात्र नही मानी जाती थी। प्राय स्त्रियो की कमी के कारण भी एक स्त्री के कई पति हुआ करते थे अथर्ववेद मे कहा गया है कि पचौदन के माध्यम से पत्नी और उसके द्वितीय पति के बीच अविच्छेद्यता की आशा की गई थी।[1] अथर्ववेद मे अन्यत्र कहा गया है कि स्त्री के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पतियो मे ब्राह्मण पति को अत्यन्त माननीय है।[2] महाभारत के अनुसार जटिला गौतमी के सात ऋषि पति थे । वार्क्षी से प्रचेता नाम के दस भाइयो ने विवाह किया था ।[3] विष्णु पुराण के अनुसार मारिषा के दस पति थे।[4] धर्म शास्त्रो मे ऐसे विवाह का उल्लेख कम किया गया है धर्म, लोकाचार, सच्चरित्रता और नैतिकता का हिन्दू समाज मे इतना अधिक प्रभाव रहा है कि इसका कोइ स्थान नही हो सका। विवहिता स्त्री के लिए एक पति के अतिरिक्त दूसरे को मन मे सोचना घोर पाप और धर्म विरूद्ध समझा जाता रहा है। हिन्दू स्त्री के जीवन का आदर्श और गौरव उसके एक पतित्व मे निहित था।

## 3. विवाह के अधिकार एवं कर्त्तव्य :

प्राचीन काल से हिन्दू समाज मे पति–पत्नी का सम्बन्ध अत्यन्त सुखद, पावन और पवित्र माना जाता रहा है उनका दाम्पत्य जीवन अत्यधिक प्रगाढ और सम्मान युक्त था। उनमे एक दूसरे के प्रति अगाध प्रेम और उत्कट आकर्षण था। पत्नी अपने पति को सर्वदा देवता के रूप मे, और पति अपनी पत्नी को पूज्या के रूप मे पूजता रहा है। मनु ने कहा है कि उन्हे ( धर्म, अर्थ एव काम के विषय में) एक दूसरे के प्रति सत्य रहना चाहिए और सदा यही प्रयत्न करना चाहिए कि वे कभी भी अलग न हो सके।[5] स्त्री के बिना केवल पुरुष द्वारा देवताओ, पितरो और अतिथियो की पूजा नही की जा सकती थी । इसी प्रकार स्त्री भी बिना पति के त्रिवर्ग और सन्तान नहीं प्राप्त कर सकती थी। इसलिए त्रिवर्ग की प्राप्ति पति पत्नी दोनो पर अवलम्बित थी।

पति का प्रथम कर्त्तव्य तथा पत्नी का प्रथम अधिकार धार्मिक कृत्यों मे सम्मिलित होने देना तथा होना है। ऋग्वेद मे आया है कि अपनी पत्नियों के साथ उन्होनें पूजा के योग्य अग्नि की पूजा की, तथा अन्यत्र कहा गया है कि यदि तुम पति एव पत्नी को एक मन के बना दो तो वे अच्छे मित्र की भाँति तुम्हें घृत का लेप

---

[1] अथर्व0 14/2/1 9/5/27–29
[2] अथर्व0 5/17/8–9
[3] महा0 1/198/21–30
[4] विष्णु पु0 1/15/68
[5] मनु0 9/101–102

करेगे।[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण मे कहा गया है सत्कर्मों द्वारा पति एव पत्नी एक दूसरे से युक्त हो जाये, हल मे बैलो की भॉति उन्हे यश मे जुट जाना चाहिये वे दोनो एक मन के हो और शत्रुओ का नाश करे, वे स्वर्ग मे न घटने वाली ज्योति को प्राप्त करे।[2] आपस्तम्ब के अनुसार विवाहोपरान्त पति एव पत्नी धार्मिक कृत्य साथ करते है , पुण्यफल मे समान भाग पाते है , धन सम्पत्ति मे समान भाग रखते है तथा पत्नी पति की अनुपस्थिति मे अवसर पडने पर भेट आदि दे सकती है।[3] गौतम, आपस्तम्ब गृहसूत्र एव मनु के मतानुसार सन्ध्याकाल के पके हुए भोजन की आहुतियॉ पत्नी द्वारा बिना मन्त्रो के दी जानी चाहिए।[4] मनु तथा याज्ञवल्क्य ने कहा है कि स्त्रियो का यज्ञो से सन्निकट साहचर्य होने के कारण ही यदि वे पति के पूर्व मर जाती थी तो उनका शरीर पवित्र अग्नि से यज्ञ के सारे उपकरणो एव बरतनो (पात्रो) के साथ अन्त्येष्टि किया जाना चाहिए।[5] मनु ने आगे कहा है कि स्त्री के लिए पति के बिना यज्ञ नही करना चाहिए और पति की आज्ञा के बिना व्रत तथा उपवास नही करना चाहिए पति की सेवा से ही स्वर्ग लोक मे पूजित होती है।[6] यदि किसी की कई पत्नियॉ होती थी तो उसमे सबको समान अधिकार नही थे। विष्णुधर्मसूत्र के मतानुसार यदि सभी पत्नियॉ एक ही वर्ण की हो तो उनमे सबसे पहले जिससे विवाह हुआ हो उसी के साथ धार्मिक कृत्य किये जाते है यदि कई वर्णों की पत्नियॉ हो तो पति के वर्ण वाली पत्नी को प्रधानता दी जाती थी, भले ही उसका विवाह बाद मे हुआ हो। यदि अपने वर्ण की पत्नी न हो तो अपने के बाद वाली जाति की पत्नी को अधिकार प्राप्त थे, किन्तु द्विजाति को शूद्र पत्नी के साथ कभी भी धार्मिक कृत्य नही करना चाहिए।[7] इसी बात को याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि सवर्णा (अपनी जाति की) पत्नी के जीवित रहते दूसरी पत्नी से धर्म कार्य नही कराना चाहिए । यदि सवर्णा पत्नियॉ अनेक हो तों ज्येष्ठा पत्नी को छोडकर दूसरी पत्नी से धर्म कार्य नही कराना चाहिए।[8]

प्राचीन काल से ही यह विश्वास किया जातां है कि व्यक्ति देवऋण, ऋषि ऋण एव पितृऋण के साथ जन्म लेता है पति–पत्नी का सर्वप्रमुख धर्म और आदर्श एक निष्ठ होकर देवतओं, ऋषियो, पितरों का ऋण चुकाना और निर्वाध रूप से पचमहायज्ञ सम्पन्न करना था। मनु ने कहा है कि बिना तीनों ऋणों से मुक्त हुए किसी को मोक्ष की अभिलाषा नही करना चाहिए।[9] पुत्र के जन्म लेने से ही पितृ ऋण से छुटकारा मिल जाता है। मनु ने कहा है कि पिता पुत्र से स्वर्ग आदि उत्तम लोको को प्राप्त करता है।[10] प्रत्येक नारी का ध्येय विवाह

---

[1] ऋ0 1/72/5, 5/3/2
[2] तैत्ति0ब्रा0 3/7/5
[3] आप0ध0सू0 2/6/13/16–18
[4] गौ0ध0सू0 5/6–8, आप0गृ0सू0 8/3–4, मनु0 3/121
[5] मनु0 5/167–168 याज्ञ0 1/89
[6] मनु0 5/155
[7] विष्णु ध0सू0 26/1–4
[8] याज्ञ0 1/88
[9] मनु0 6/35
[10] मनु0 9/137

करके सन्तानोत्पत्ति करना परमकर्त्तव्य है शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि पुत्रहीन स्त्री निर्ऋति वाली (अभागी) होती है।[1]

पत्नी के कर्त्तव्य के विषय मे धर्मशास्त्रकारो का कहना है कि पत्नी का सर्वप्रथम कर्त्तव्य पति की आज्ञा मानना एव उसे देवता की भॉति सम्मान देना है। शख ने कहा है कि पत्नी को चाहिए कि वह अपने नपुसक, कोषवृद्धि ग्रस्त, पतित, अग के अधूरे, रोगी पति को न छोडे, क्योकि पति ही पत्नी का देवता है। मनु के अनुसार पत्नी को सदा हॅसमुख, जागरूक, दक्ष, कुशल गृहिणी, बरतनो, पात्रो आदि को स्वच्छ रखने वाली एव मितव्ययी होना चाहिए पिता या पिता की अनुमति से भाई स्त्री का जिसके साथ विवाह कर दे स्त्री उसकी सेवा करे और मरने पर भी व्यभिचार तथा श्राद्ध आदि का त्याग का उल्लघन नही करना चाहिए। स्त्रियो के विवाह मे प्रजापति के उद्देश्य जो हवन आदि किया जाता है तथा वाग्दान स्वामित्व कारण है क्योकि वाग्दान के बाद से स्त्री पति के अधीन हो जाती है। विवाहोपरान्त पति स्त्री को ऋतुकाल तथा ऋतुभिन्न काल मे भी इस लोक मे तथा परलोक मे सुख देनेवाला होता है। यदि पति सदाचार से हीन, परस्त्री मे अनुरक्त और विद्या आदि गुणो से हीन भी हो तो पतिव्रता स्त्रियो का देवता के समान पूज्य होता है। जो स्त्री पति के जीवित रहने पर भी उसकी अनुमति के बिना व्रत या उपवास करती है, वह पति की आयु का हरण करती है तथा स्वय नरक को जाती है तथा पति लोक को चाहने वाली पतिव्रता स्त्री जीवित या मृत पति का अप्रिय कोई कार्य न करे।[2] याज्ञवल्क्य के मतानुसार पत्नी को घर की वस्तुओ को यथास्थान सभालकर रखने मे कुशल होना चाहिए, सदैव प्रसन्न रहने वाली, अधिक व्यय न करने वाली, सास–श्वसुर का चरण छूकर प्रणाम करने वाली, पति के वश मे रहने वाली, विदेश गये पति की पत्नी को खेलना, श्रृगार करना, जनसमूह और उत्सव मे जाना, हॅसी–मजाक करना, दूसरे के घर नहीं जाना चाहिए। स्त्री को पति के न होने पर पिता, माता, पुत्र, भाई, सास, ससुर से दूर नहीं रहना चाहिए अन्यथा वह निन्दनीय होती है जो स्त्री पति के अनुकूल एव श्रेयस्कर कार्य मे तत्पर, सुन्दर आचरण करने वाली तथा यत्नपूर्वक इन्द्रियो को वश मे रखने वाली होती है वह इस ससार मे कीर्ति तथा परलोक मे उत्तम गति को प्राप्त करती है।[3] परिवार के सभी कार्यो मे उसका सक्रिय सहयोग होता है। वह पुरुष का आधा भाग मानी गयी है। वह पुरुष की सर्वोत्तम सखा होती है। प्रियवादिनी पत्नियॉ एकान्त मे पति की मित्र तथा निर्जन वन मे पथिक का विश्रामस्थल होती है। पुरुष की गति भार्या से ही बनती है वह गृह की शोभा और कान्ति है। मनु के अनुसार सन्तान उत्पन्न करना, धर्म, सेवा, उत्तम सुख (रति) पितरो का और अपना स्वर्ग भार्या के ही अधीन होता है।[4] शख के मतानुसार पत्नी वही कहीं गयी जो घर की रक्षा करती है, जो पति को प्राण के समान समझती है और

---

[1] शत0ब्रा0 5/3/2/2
[2] मनु0 5/150–156
[3] याज्ञ0 1/83,84,86,87
[4] मनु0 9/28

सौ पण और इसी प्रकार का निषेध किये जाने पर भी किसी स्त्री से बोलने या सम्बन्ध रखने वाले पुरुष को दौ सौ दण्ड का भागी होता है।[1] मनु ने कहा है कि जो व्यक्ति अपने माता–पिता, पत्नी एव पुत्र को जातिच्युत न होने पर भी छोड देता है तथा उसका भरण–पोषण नही करता है वह राजा द्वारा 600 पण का दण्ड पाता है।[2] याज्ञवल्क्य के मतानुसार पत्नी के भरण–पोषण पर ध्यान न देने वाला पति पाप का भागी होता है तथा जो आज्ञाकारी, परिश्रमी, पुत्रवती एव मधुरभाषिणी पत्नी को छोड देता है उसे अपनी सम्पत्ति का 1/3 भाग देना चाहिए तथा सम्पत्ति न रहने पर उसके भरण–पोषण का प्रबन्ध करना चाहिए।[3] स्त्री की रक्षा के विषय मे मनु का मन्तव्य है कि स्त्री को बन्दी तथा शक्ति के द्वारा नियन्त्रित नही किया जा सकता है अपितु इसे आय–व्यय का ब्यौरा रखने, कुर्सी–मेज को ठीक करने, घर को सुन्दर एव पवित्र रखने तथा भोजन बनाने के कार्यों मे सलग्न कर देना चाहिए। पत्नी को सदैव पतिव्रताधर्म के बारे मे बताना चाहिए।[4] अत स्त्री की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए, स्त्री की रक्षा करने पर सन्तान सुरक्षित होती है तथा सन्तान के सुरक्षित होने पर आत्मा सुरक्षित होता है। याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि पति को पत्नीपरायण होना चाहिए क्योकि पत्नी को गर्त मे गिरने से रक्षा करनी चाहिए।[5] स्त्री के दण्ड के बारे मे मनु ने कहा है कि पति को गुरु या पिता की भॉति शारीरिक दण्ड देने का अधिकार है उसे रस्सी या बॉस की पतली छडी से पीठ पर मारना चाहिए किन्तु सिर पर नही मारना चाहिए।[6] पत्नी की रक्षा करना पति का नैतिक दायित्व था। पत्नी की रक्षा न कर सकने वाला पुरुष पातकी और नरकगामी कहा जाता है। पुरुष प्रत्येक स्थिति मे अपनी पत्नी का ध्यान रखता था तथा कठिन परिस्थितियो मे अपने कर्त्तव्यो के प्रति सजग रहता था।

## 4. नियोगप्रथा :

प्राचीन समाज मे नियोग प्रथा का प्रचलन था जिसके अन्तर्गत पति विहीन स्त्रियॉ पुत्र–प्राप्ति की इच्छा से पर पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित करती थीं। नियोग के लिए स्त्री का देवर या अन्य कोई सपिण्ड अथवा सगोत्र व्यक्ति अधिकारी होता है कभी–कभी पति के रुग्ण अथवा नपुसक होने की दशा में भी इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जाता था। इस प्रकार जो पुत्र उत्पन्न होता था उसे मृतक पिता का 'क्षेत्रज पुत्र' कहा जाता था तथा वह अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी था। वसिष्ठ ने कहा है कि विधवा का पति या भाई (या मृत पति का भाई) गुरुओं को तथा सम्बन्धियों को एकत्र करे और उसे (विधवा को) मृत के लिए पुत्रोत्पत्ति के

[1] याज्ञ0 2/285
[2] मनु0 8/389
[3] याज्ञ0 1/74, 76
[4] मनु0 9/5–9, 9/10–12
[5] याज्ञ0 1/81
[6] मनु0 8/299–300

लिए नियोजित करे। उन्मादिनी विधवा, अपने को न सभाल सकने वाली, रोगी या बूढी विधवा को इस कार्य के लिए नियोजित नही करना चाहिए। युवावस्था के ऊपर सोलह वर्ष तक ही नियोग होना चाहिए। बीमार पुरुष को नही नियुक्त करना चाहिए। नियुक्त व्यक्ति को पति की भॉति प्रजापति वाले मुगल मुहूर्त्त मे विधवा के पास जाना चाहिए और उसके साथ न तो रति क्रीडा करनी चाहिए, न अश्लील भाषण करना चाहिए और न दुर्व्यवहार करना चाहिए। धन सम्पत्ति की प्राप्ति की अभिलाषा से नियोग नही करना चाहिए।[1]

मनु ने कहा है कि पुत्रहीन विधवा अपने देवर या पति के सपिण्ड से पुत्र उत्पन्न कर सकती है नियुक्त पुरुष को अधेरे मे तथा मौन होकर ही विधवा के पास जाना चाहिए, उसके शरीर पर घृत का लेप होना चाहिए और उसे एक ही पुत्र उत्पन्न करना चाहिए द्वितीय पुत्र को कदापि उत्पन्न नही करना चाहिए किन्तु आचार्य की अनुमति को प्राप्त करके दूसरे पुत्र को उत्पन्न कर सकता है।[2] बौधायन तथा याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि जिस स्त्री के अपने पति से पुत्र न हुआ हो उसके पास पिता इत्यादि गुरुजनो की आज्ञा से ऋतुकाल मे सभी अगो मे घृत का लेप करके देवर, सपिण्ड या समान गोत्र का पुरुष पुत्र प्राप्ति की इच्छा से गर्भस्थिति के समय तक ही जाय अन्यथा वह पतित हो जाता है। इस विधि से उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज कहलाता है।[3] मनु के मतानुसार बडा भाई छोटी भाई की स्त्री के साथ तथा छोटा भाई बडे भाई की स्त्री के साथ आपत्तिकाल के बिना नियुक्त होने पर भी सम्भोग करके पतित हो जाते है जो नियुक्त छोटा या बडा भाई परस्पर की स्त्री के साथ विधि को छोडकर काम के वशीभूत होकर सम्बन्ध करते है वे दोनो (बडा भाई तथा छोटा भाई क्रमश) स्नुषासम्भोग तथा गुरुपत्नी सम्भोग के पापभागी होकर पतित हो जाते है। अनियोग से उत्पन्न अथवा पुत्रवती स्त्री मे नियोग (गुरु आदि की आज्ञा से देवरादि) उत्पन्न पुत्र क्रमश जार तथा कामवासना से उत्पन्न होने से पितृधन के भागी नही होते हैं तथा नियुक्त (गुरु आदि की आज्ञा प्राप्त की हुई) स्त्री मे भी विधिहीन उत्पन्न किया गया पुत्र पितृ धन का भागी नही होता है, क्योकि वह पतित से उत्पन्न हुआ है।[4]

गौतम ने नियोगप्रथा को उचित माना है किन्तु आपस्तम्ब एव बौधायन ने नियोग की भर्त्सना की है।[5] मनु ने भी नियोग का तो वर्णन किया लेकिन उन्होने इसकी निन्दा भी की है मनु ने इसे नियमविरुद्ध एव अनैतिक माना है क्योकि विवाह पद्धति मे विधवा को किसी दूसरे को देने की बात नहीं कही गयी है राजा वेन को इसका प्रथम प्रचालक माना गया है और इस पशुधर्म की विद्वान द्विजो ने निन्दा की है इससे समाज मे वर्ण सकरता उत्पन्न होती है। किन्तु कुछ लोग अज्ञानवश इसे अपनाते हैं।[6] मनु ने अन्यत्र नियोग का अर्थ यह

---

[1] वसि0ध0सू0 17/56–65
[2] मनु0 9/59–61
[3] याज्ञ0 1/68–69, बौध0ध0सू0 2/2/68–70
[4] मनु0 9/58, 63, 143, 144
[5] आप0ध0सू0 2/10/27/5–7, बौध0ध0सू0 2/2/38
[6] मनु0 9/64–68

कहकर समझाया है कि नियोग के विषय मे नियम केवल उसी कन्या के लिए है जो वधूरूप मे प्रतिश्रुत हो चुकी थी किन्तु भावी पति मर गया, ऐसी स्थिति मे मृत पति के भाई को उस कन्या से विवाह करके केवल ऋतुकाल मे एक बार सम्भोग तब तक करना पडता था जब तक कि एक पुत्र उत्पन्न न हो जाय, और वह पुत्र मृत व्यक्ति का पुत्र माना जाता था।[1] नियोग से उत्पन्न पुत्र के विषय मे वसिष्ठ, गौतम, मनु तथा आपस्तम्ब ने माना है कि यह पुत्र जनक का ही होता है।[2] याज्ञवल्क्य के मतानुसार पुत्रहीन देवर आदि दूसरे की पत्नी से नियोग विधि से उत्पन्न पुत्र दोनो की सम्पत्ति का अधिकारी है। यही बात मनु और गौतम ने भी स्वीकार की है।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि नियोग प्रथा की आज्ञा केवल वश चलाने के लिए ही दी जाती थी।

## 5. विधवा विवाह :

भारतीय समाज मे स्त्री के पुनर्विवाह को उत्तम नही माना जाता रहा है। दूसरा विवाह करने वाली स्त्री को 'पुनर्भू' कहा जाता था जिसका अर्थ पहले किसी के साथ पत्नी के रूप मे रह चुकने वाली स्त्री था। पति के मर जाने पर या बहुत दिनो तक पति के प्रवास मे रहने पर अथवा किसी विशेष बात पर पति के साथ वाद–विवाद होने के कारण सम्बन्ध विच्छेद हो जाने पर पुनर्विवाह की व्यवस्था हिन्दू समाज में की गयी थी। याज्ञवल्क्य ने पुनर्भू के बार मे कहा है कि वह कन्या जिसका पति से शरीर सम्बन्ध हुआ हो चाहे न हुआ हो दूसरी बार विवाह होने पर वह पुनर्भू कहलाती है किन्तु जो स्त्री पति को छोडकर अपनी इच्छा से अपनी जाति के किसी दूसरे पुरुष को स्वीकार करती है वह 'स्वैरिणी' कहलाती है।[4] द्वितीय पति या द्वितीय विवाह से उत्पन्न पुत्र को 'पौनर्भव' की सज्ञा दी जाती है। वैदिक काल से समाज मे पुनर्विवाह प्रचलित था। ऋग्वेद के अनुसार पति की मृत्यु पर स्त्री को दूसरा विवाह करने का पूर्ण अधिकार था।[5] अथर्ववेद से भी ज्ञात होता है कि स्त्री पुनर्विवाह करती थी।[6] वसिष्ठ तथा बौधायन के मतानुसार स्त्री को विवाह के लिए अपने देवर को ही अपने पति के रूप मे चुनना चाहिए। वसिष्ठ दूसरी बार विवाह करने वाली ऐसी स्त्री को पुनर्भू कहा है।[7] बौधायन ने पौनर्भव पुत्र को उस स्त्री का पुत्र माना है जो अपने नपुसक या जातिच्युत पति को छोडकर अन्य पति करती हैं।[8] किन्तु वसिष्ठ का मत है कि पौनर्भव उस स्त्री का पुत्र है जो अपनी युवावस्था के पति का त्याग कर किसी अन्य का

---

[1] मनु0 9/69–70
[2] वसि0ध0सू0 17/6, गौ0ध0सू0 18/9, मनु0 9/181, आप0ध0सू0 2/6/13/5
[3] याज्ञ0 2/127, मनु0 9/53, गौ0ध0सू0 18/13
[4] याज्ञ0 1/67
[5] ऋ0 10/40/2
[6] अथर्व0 9/5/26–27
[7] वसि0ध0सू0 17/75–80, 16/19–20, बौ0ध0सू0 8/2/26
[8] बौ0ध0सू0 2/2/31

साथ करती है और पुन पति के घर आकर रहने लगती है, या तो अपने नपुसक जातिच्युत या पागल पति को त्याग कर या अपने पति की मृत्यु पर दूसरा पति कर लेती है।[1]

आपस्तम्ब ने पुनर्विवाह की भर्त्सना की है और कहा है कि यदि कोई पुरुष उस स्त्री से, जिसका कोई पति रह चुका हो, या जिसका विवाह सस्कार न हुआ हो या जो दूसरे वर्ण की हो, सम्भोग करता है तो पाप का भागी होता है और उसका पुत्र भी पाप का भागी कहा जायेगा।[2] मनु ने कहा है कि पतिव्रता स्त्रियो के लिए दूसरा पति शास्त्रसम्मत नही है।[3] विधवा विवाह के घोर विरोधी होने पर भी मनु ने अन्यत्र कहा है कि उस कन्या का पुनर्विवाह हो सकता है जिसका अभी समागम न हुआ हो या जो अपनी युवावस्था के पति को छोडकर अन्य के साथ रहकर पुन अपने वास्तविक पति के यहॉ आ गयी हो, और उस स्त्री के साथ वह प्रथम कुमार पति विवाह कर ले, तो वह स्त्री उसकी 'पुनर्भू' स्त्री कहलाती है[4] तथा पति से छोडी गयी या विधवा स्त्री अपनी इच्छा से दूसरे को पति बनाकर जिस पुत्र को उत्पन्न करती है, उसे 'पौनर्भव' पुत्र कहा जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होने यह भी कहा है कि पितृगृह मे रहती हुई कन्या गुप्तरूप से जिस पुत्र को उत्पन्न करती है वह पुत्र उस कन्या के साथ विवाह करने वाले पति का होता है तथा जानकारी मे या अज्ञात मे जिस गर्भिणी कन्या का विवाह किया जाता है, उस गर्भ से उत्पन्न वह पुत्र विवाहकर्त्ता पति का होता है।[5]

पति के बहुत वर्षों के लिए बाहर जाने पर अनेक स्मृतियो ने पत्नी के लिए नियम बनाये है। नारद का कहना है कि यदि पति विदेश गया हो तो ब्राह्मण पत्नी को आठ वर्षों तक प्रतीक्षा करनी चाहिए, किन्तु वह चार वर्षों तक प्रतीक्षाकर जबकि उसे बच्चा न उत्पन्न हुआ हो दूसरा विवाह कर सकती है। क्षत्रिय और वैश्य पत्नियो के लिए कम वर्ष निर्धारित किये है यदि पति जीवित है तो दूने वर्षों तक प्रतीक्षा करनी चाहिए।[6] मनु का कहना है कि यदि पुरुष धार्मिक कर्त्तव्य को लेकर विदेश गया हो तो आठ वर्ष तक पत्नी को, यदि ज्ञान या यश की प्राप्ति के लिए गया हो तो छह वर्षों तक, यदि प्रेम के वश होकर (दूसरी स्त्री के साथ सम्बन्ध मे) गया हो तो तीन वर्षों तक प्रतीक्षा करे और इसके बाद वह स्त्री पति के पास चली जाय।[7] वसिष्ठ ने कहा है कि यदि पति बाहर चला गया हो तो पॉच वर्षों तक रास्ता देखकर उसे पति के पास चला जाना चाहिए।[8] याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार विश्वरूप ने कहा है कि जिस स्त्री का पति विदेश गया है उसे नियमानुसार नियत समय तक उसकी

---

[1] वसि०ध०सू० 17/19–20
[2] आप०ध०सू० 2/6/13/3–4
[3] मनु० 5/162
[4] मनु० 9/176
[5] मनु० 9/175, 172–173
[6] नारद स्त्रीपुंस 98–101
[7] मनु० 9/76
[8] वसि०ध०सू० 17/75–76

प्रतीक्षा करके नियोग को नही अपनाते हुए पति के पास चली जाना चाहिए।[1] हिन्दू समाज मे स्त्री के पुनर्विवाह को अत्यधिक हेय और हीन दृष्टि से देखा जाता है तथा ऐसी स्त्रियॉ निन्दा का पात्र बनती है। विधवा और सधवा दोनो के पुनर्विवाह की व्यवस्था हिन्दू व्यवस्था मे तो अवश्य की गयी है, किन्तु ऐसे विवाह की कोई सामाजिक प्रतिष्ठा नही थी।

## 6. विधवा धर्म :

ऋग्वेद मे विधवा शब्द कई बार आया है[2] किन्तु इनकी दशा का कोई विशेष ज्ञान नही प्राप्त होता है। ऋग्वेद मे एक स्थान पर आया है कि मरुतो की अति शीघ्र गतियो से पृथ्वी पतिहीन स्त्री की भॉति कॉपती है। इससे यह ज्ञात होता है कि विधवाएँ या तो दुख के मारे या बलात्कार के डर से कॉपती थी।[3] आपस्तम्ब गृहसूत्र के अनुसार विधवा स्त्री को उसका देवर मृति का शिष्य अथवा कोई विश्वस्त वृद्ध दास श्मशान से घर लाता था।[4]

बौधायन तथा वसिष्ठ के अनुसार विधवा को सालभर तक मधु, मास, मदिरा एव नमक छोड देना चाहिए तथा भूमि पर शयन करना चाहिए। इसके उपरान्त यदि वह पुत्रहीन हो और आचार्य आदेश दे तो वह अपने देवर से एक पुत्र उत्पन्न कर सकती है।[5] मनु के मतानुसार पति के मर जाने पर स्त्री, यदि वह चाहे तो, केवल पुष्पो, फलो एव मूलो को खाकर अपने शरीर को गला दे, किन्तु उसे किसी अन्य व्यक्ति का नाम नहीं लेना चाहिए। मृत्यु पर्यन्त उसे सयम रखना चाहिए, व्रत रखने चाहिए, सतीत्व की रक्षा करनी चाहिए और पतिव्रत के सदाचरण एव गुणो की प्राप्ति की आकाक्षा करनी चाहिए। पति की मृत्यु के उपरान्त यदि साध्वी नारी अविवाह के नियम के अनुसार चले अर्थात् अपने सतीत्व की रक्षा मे लगी रहे तो वह पुत्रहीन रहने पर भी स्वर्गारोहण करती है , सन्तान के लोभ से जो स्त्री पति का उल्लघन करती है, वह इस लोक में निन्दा को प्राप्त करती है और उस पुत्र के द्वारा स्वर्ग से भी भ्रष्ट होती है।[6] कात्यायन के अनुसार पुत्रहीन विधवा यदि अपने पति के बिस्तर या सेज को बिना अपवित्र किये गुरुजनो के साथ रहती हुई अपने को सयमित रखती है तो उसे मृत्युपर्यन्त पति की सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। उसके उपरान्त उसके पति के उत्तराधिकारी लोग सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं। धार्मिक व्रतो, उपवासो एव नियमो मे सलग्न, ब्रह्मचर्य के नियमो से पूर्ण, इन्द्रियों को सयमित करती एव दान करती हुई विधवा

---

[1] विश्वरूप, याज्ञ0 1/69
[2] ऋग्वेद 4/18/12 10/18/7 10/40/2
[3] ऋ0 1/87/3
[4] आप0गृ0सू0 4/2/18
[5] बौध0ध0सू0 2/2/66–68 वसि0ध0सू0 17/55–56
[6] मनु0 5/157–161

पुत्रहीन होने पर भी स्वर्ग को जाती है वृहस्पति का कथन है कि पत्नी पति की अर्धांगिनी घोषित हो चुकी है, वह पति के पापो एव पुण्यो की भागी होती है, एक सद्गुणी पत्नी, चाहे वह पति की चिता पर भस्म हो जाती है या जीवित रह जाती है अपने पति के आध्यात्मिक लाभ को अवश्य प्राप्त करती है।[1]

हिन्दू विधवा की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी और उसका भाग्य तो किसी भी स्थिति मे स्पृहणीय नही माना जा सकता । वह अमगल सूचक थी और किसी भी उत्सव मे यथा विवाह मे, किसी प्रकार का भाग नही ले सकती थी, उसे न केवल पूर्ण रूप से साध्वी रहना पडता था, चाहे वह बचपन से ही विधवा क्यो न हो, प्रत्युत उसे सन्यासी की भॉति रहना पडता था, उसे कम भोजन तथा कम वस्त्र धारण करना पडता था। उसके सम्पत्ति अधिकार कुछ नही थे। यदि उसका पति पुत्रहीन मर गया तो उसे मौलिक रूप से उत्तराधिकार नहीं मिलता था। हिन्दू परिवार मे विधवा को केवल भरण–पोषण का अधिकार है जिसे वह व्यभिचारिणी हो जाने पर खो देती है। यदि वह पुन नैतिक जीवन व्यतीत करने लगे तो उसे जीवन चर्या का अधिकार प्राप्त हो सकता है। यदि पति की पृथक् रूप से सम्पत्ति हो गयी हो और उसे एक पुत्र या कई पुत्र हो तो उसकी विधवा को केवल भरण–पोषण का ही अधिकार मिलता है।

स्त्रियो के दण्ड के बारे मे याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार विश्वरूप तथा गौतम एव मनु ने कहा है कि नीच जाति के साथ व्यभिचार करने पर स्त्री को केवल राजा ही प्राण दण्ड दे सकता है, यद्यपि ऐसा करने पर राजा को हलका प्रायश्चित्त भी करना पड जाता था।[2] मनु ने स्पष्ट कहा है कि स्त्री बच्चे एव ब्राह्मणो की हत्या करने वाले को राजा की ओर से प्राणदण्ड मिलना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि नीच जाति के साथ व्यभिचार करने वाली स्त्री का कान आदि काट लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्होंने कहा है कि जो स्त्री अत्यन्त दुष्टा हो और पुरुष की हत्या करने वाली हो उसके गले मे पत्थर बॉधकर पानी मे डाल देना चाहिए, और जिस स्त्री ने दूसरे को मारने के लिए अन्न विष दिया हो, घर जलाने के लिए अग्नि, तथा जिसने गुरु, पति एव सन्तान का वध किया हो उसके कान, हाथ, नाक और ओठ बैलो से मरवा डालने की व्यवस्था दी है।[3] इस प्रकार स्मृतिकारों ने स्त्रियो के दण्ड का विधान अत्यन्त कडा बनाया था।

## 7. स्त्रियों के विशेषाधिकार :

यदि कुछ विषयो मे स्त्रियों मे असमर्थता एव अयोग्यता थी तो कुछ बातों में वे पुरुषो की अपेक्षा अधिक अधिकार एव स्वत्व रखती थी। स्त्रियों की हत्या नहीं की जा सकती थी और न वे व्यभिचार में पकडे जाने पर

---

[1] वृहस्पति (अपरार्क, पृ० 111 में उद्धत)
[2] विश्वरूप, याज्ञ० 3/268, गौ०ध०सू० 23/14, मनु० 8/371
[3] याज्ञ० 2/286, एवं 2/278–279

त्यागी ही जा सकती थी। मार्ग मे उन्हे पहले अग्रगमन का अधिकार प्राप्त था। पतित की कन्या पतित नहीं मानी जाती थी, किन्तु पतित का पुत्र पतित माना जाता था। ऐसा वसिष्ठ तथा याज्ञवल्क्य ने माना है।[1] विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार एक ही प्रकार की त्रुटि के लिए पुरुष की अपेक्षा नारी को आधा ही प्रायश्चित्त करना पडता था।[2] आपस्तम्ब के मतानुसार स्त्रियो की चाहे जो भी अवस्था हो उन्हे पति की अवस्था के अनुसार आदर मिलता था तथा स्त्रियॉ भी वेदज्ञ ब्राह्मणो की भॉति कर से मुक्त थी।[3] मनु के अनुसार दो मास से अधिक गर्भवाली स्त्री, सन्यासी, ब्राह्मण और ब्रह्मचारी घाट के कर से मुक्त थे।[4] गौतम एव याज्ञवल्क्य ने कहा है कि बालक, पुत्रियो एव बहिनो, जिनका विवाह हो गया हो किन्तु अभी अपने माता–पिता तथा भाइयो के साथ हो, गर्भवती स्त्रियो, अविवाहित पुत्रियो, अतिथियो एव नौकरो को घर के मालिक एव मालिकिन से पहले भोजन कराना चाहिए।[5] मनु तथा विष्णु ने भी कहा है कि कुल की नवविवाहित लडकियो, अविवाहित पुत्रियो, गर्भवती नारियो को अतिथियो से भी पहले खिलाना चाहिए।[6] सामान्यत स्त्रियो का अभियोग दिव्य (जल, अग्नि आदि द्वारा कठिन परीक्षा) से नही सिद्ध किया जाता था, चाहे वह वादी हो या प्रतिवादी हो , याज्ञवल्क्य ने कहा है कि यदि दिव्य अनिवार्य सा हो जाय तो तुला दिव्य से परीक्षा ली जानी चाहिए।[7] स्त्रीधन के उत्तराधिकार मे पुत्रियो को पुत्रो की अपेक्षा प्रमुख स्थान दिया गया था।

## ८. परदा प्रथा :

भारतीय समाज मे स्त्रियो के लिए परदा का प्रचलन कब से हुआ इस विषय पर विद्वानो में बडा मतभेद है वैदिक युग हिन्दू समाज मे स्त्रियो के लिए परदा अथवा अवगुठन का कोई प्रचलन नहीं था। स्त्रियाँ बिना परदे के स्वच्छन्दतापूर्वक आ जा सकती थी तथा पुरुषो के साथ मिल सकती थी। ऋग्वेद में कहा गया है कि यह मगल बढाने वाली वधु हमारे घर मे आई है, आओ इसे देखो, इसे आशीष देकर ही तुम लोग अपने घर जा सकते हो।[8] आश्वलायन गृहसूत्र के अनुसार पत्नी को अपने घर ले जाते समय पति को चाहिए कि वह प्रत्येक रुकने के स्थान पर दर्शको को दिखाये।[9] इससे यह स्पष्ट होता है कि उन दिनो वधुओं द्वारा अवगुण्ठन नहीं धारण किया जाता था, प्रत्युत वे सबके सामने निरवगुण्ठन आती थीं। ऋग्वेद में ही कहा गया है कि

[1] वसि0ध0सू0 13/51–53, याज्ञ0 3/261
[2] वि0ध0सू0 54/33
[3] आप0ध0सू0 1/4/14/18 2/10/26/10–11
[4] मनु0 8/407
[5] गौत0 ध0सू0 5/23 याज्ञ0 1/105
[6] मनु0 4/114, वि0ध0सू0 67/39
[7] याज्ञ0 2/98
[8] ऋ0 10/85/33
[9] आश्व0गृ0सू0 1/8/7

नवविवाहिता बहू सास, श्वसुर, ननद और देवरो पर साम्राज्ञी बनकर जाती थी।[1] ऐतरेय ब्राह्मण मे आया है कि वधू अपने श्वसुर से लज्जा करती है और अपने को छिपाकर चली जाती है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि गुरुजनो के समक्ष नवयुवतियो पर कुछ प्रतिबन्ध था। गृह्य एव धर्मसूत्रो मे इधर–उधर जनसमुदाय मे घूमती हुई स्त्रियो के परदे के विषय मे कोई स्पष्ट सकेत नही प्राप्त होता है।

परदा प्रथा का प्रचलन बारहवी सदी के बाद ही हुआ, जब देश और समाज विदेशी आक्रमणो से रह–रहकर आक्रान्त होने लगा था और भारतीय स्त्रियो के लिए सुरक्षा का प्रश्न महत्वपूर्ण बन चुका था। परिणामस्वरूप व्यवस्थाकारो ने हिन्दू समाज मे अपनी स्त्रियो की रक्षा के लिए परदा जैसा प्रतिबन्ध लगाया, क्योकि आक्रामको की वासनायुक्त दृष्टि सुन्दर स्त्रियो पर अधिक पडती थी। बाद मे परदा हिन्दू समाज का प्रधान अग बन गया। परदे का अधिक प्रचलन उत्तर भारत मे ही हुआ।

## ९. स्त्रीधन :

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था मे स्त्रियो के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को स्वीकार किया गया है। इसमे बहुमूल्य वस्त्र एव आभूषण जवाहरात आदि वस्तुये आती थी जिसके ऊपर सामान्य परिस्थिति में स्त्री का पूर्ण अधिकार होता था। ऋग्वेद मे वधू के साथ वर के लिए उपहार भेजने का वर्णन आया है।[3] मनु ने पारिणह्य (घरेलू सामग्री) का प्रयोग किया है और कहा है पत्नी को अन्य बातो के साथ पारिणह्य पर भी ध्यान रखना चाहिए।[4] आपस्तम्ब के अनुसार कि आभूषण पत्नी का होता है और वह सम्पत्ति भी उसकी है जिसे वह अपने पिता, भाई आदि से प्राप्त करती थी।[5] बौधायन का मत है कि कन्याएँ अपनी माता के आभूषण पाती हैं और परम्परा से जो कुछ मिलना चाहिए वह भी उसे प्राप्त होता है।[6] वसिष्ठ ने कहा है कि माता को जो कुछ विवाह के समय मिला हो उसे कन्याओ को बॉट लेना चाहिए।[7] शख ने व्यवस्था दी है कि विवाह के सभी प्रकारों में कन्या को आभूषण एव स्त्रीधन देना चाहिए।[8] मनु के मतानुसार वैवाहिक अग्नि के सम्मुख जो कुछ कन्या को दिया जाता है, जो कन्या को पति गृह जाते समय मिलता है, जो स्नेहवश उसे दिया जाता है, जो माता–पिता और भ्राता से प्राप्त हुआ है यही छह प्रकार का स्त्रीधन है।[9] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि पिता, माता, पति और भाई

---

[1] ऋ0 10/85/46
[2] ऐत0ब्रा0 12/11
[3] ऋ0 10/85/13 एव 38
[4] मनु0 9/11
[5] आप0ध0सू0 2/6/14/9
[6] बौधा0ध0सू0 2/2/49
[7] वसि0ध0सू0 17/46
[8] शंख (सस्कार प्रकाश पृ0 851)
[9] मनु0 9/194

द्वारा दिया गया धन, विवाह मे अग्नि के निकट मिला हुआ धन, दूसरा विवाह करते समय पति द्वारा पहली स्त्री के सन्तोष के लिए प्रदत्त धन, स्त्री के मातृपक्ष एव पितृपक्ष के बन्धुओ द्वारा दिया गया धन, शुल्क (जो धन लेकर कन्या दी जाय), और अन्वाधेयक (विवाह के बाद पतिकुल या पितृकुल से प्राप्त) धन स्त्रीधन कहलाता है।[1] अपरार्क ने सम्पत्ति विभाजन के समय पत्नी या माता का पुत्र के समान अश, भाइयो के अश का चतुर्थांश आदि को भी स्त्रीधन उल्लिखित किया है।[2] आसुर विवाह मे अभिभावक द्वारा कन्या के निमित्त जो धन लिया जाता वह भी स्त्रीधन के अन्तर्गत माना जाता है। ऐसा विचार मनु तथा याज्ञवल्क्य का है।[3] धीरे–धीरे स्त्रीधन के अन्तर्गत सम्पत्ति आने लगी तथा पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति भी इसी स्त्रीधन मे समाविष्ट हो गयी। मनु ने भी कहा है कि पति या पति के पिता आदि बान्धवो द्वारा प्रदत्त स्त्रीधन से उसको वचित नही करना चाहिए।[4]

स्त्रीधन के अन्तर्गत परिवार की भूमि के अतिरिक्त उसके मूल्यवान वस्त्राभूषण भी होते थे, जिनका वह स्वय उपयोग करती थी। मनु के अनुसार पति की अनुमति के बिना पत्नी अपनी निजी सम्पत्ति को भी बेच नहीं सकती है।[5] स्त्रीधन के दो भाग सौदायिक एव असौदायिक कर दिये गये हैं सौदायिक धन के अन्तर्गत माता–पिता अथवा पति द्वारा स्त्री को दिये गये उपहार है जिस पर उसका पूर्ण अधिकार होता था तथा शेष धन को असौदायिक की कोटि मे रखा गया है जिसका स्त्री केवल उपयोग का सकती थी उसे बेच नही सकती थी। कात्यायन ने कहा है कि सौदायिक धन की प्राप्ति पर घोषित किया गया है कि वे दुर्दशा को न प्राप्त हो सके। ऐसा घोषित है कि विक्रय या दान मे सौदायिक सम्पत्ति पर स्त्रियो का पूर्ण अधिकार है, इतना ही नहीं, सौदायिक अचल सम्पत्ति पर भी उनका अधिकार है। विधवा हो जाने पर वे पति द्वारा दी गयी चल भेटो को मनोनुकूल व्यय कर सकती है, किन्तु उन्हे जीवित रहते हुए उसकी रक्षा करनी चाहिए, या वे कुल के लिए व्यय कर सकती हैं किन्तु पति या पुत्र और पिता या भाइयो को किसी स्त्री के स्त्रीधन को व्यय करने या विघटित करने का अधिकार नहीं है।[6] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि दुर्भिक्ष के समय, धर्मकार्य में, रोग मे और बन्दी होने पर पति यदि स्त्रीधन का व्यय करे तो उसे लौटाने के लिए से बाध्य नहीं किया जा सकता है।[7] परवर्ती स्मृतियों ने पति एव पत्नी की सम्पत्तियो को पृथक्–पृथक् माना है। पत्नि के ऋण पत्नी को नहीं बाँध सकते और न पत्नी के ऋण पति को बॉध सकते हैं। किन्तु कात्यायन ने एक विशेष नियम की व्यवस्था दी है कि यदि पतिस्त्रीधन देने की प्रतिज्ञा कर ले तो उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र (अपने पुत्र या विमाता–पुत्र) को उसे ऋण के रूप में

[1] याज्ञ0 2/143–144
[2] अपरार्क पृ0 751
[3] मनु0 9/197, याज्ञ0 2/145
[4] मनु0 3/52
[5] मनु0 9/199
[6] कात्यायन 905–7, 911
[7] याज्ञ0 2/147

चुकाना चाहिए, किन्तु ऐसा तभी हो सकता था जबकि विधवा पति के कुल मे ही रहे और अपने पिता के घर न जाय।[1]

स्त्रीधन के उत्तराधिकार के विषय मे गौतम ने कहा है कि स्त्रीधन सर्वप्रथम पुत्रियो को मिलता है और इन पुत्रियो मे भी कुमारी कन्याओ को वरीयता मिलती है तथा विवाहितो मे उसको जो निर्धन होते हैं उनको वरीयता मिलती है।[2] मनु ने भी कहा है कि माता के मर जाने पर सगे भाई तथा अविवाहित बहिने उसकी सम्पत्ति मे बराबर का भाग पाती है तथा उन पुत्रियो की जो पुत्रियॉ हो उनको भी धन का कुछ भाग प्रेमपूर्वक देना चाहिए।[3] नारद ने भी कहा है कि माता का धन कन्याओ मे बॉटना चाहिए और उनके अभाव मे उनकी सन्तानो को मिलना चाहिए।[4] याज्ञवल्क्य के मतानुसार स्त्रीधन कन्याओ को मिलता है किन्तु यदि स्त्री सन्तानहीन मर जाती है तो स्त्रीधन पति को मिल जाता है।[5] कात्यायन स्त्रीधन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सधवा बहिनो को भाइयो के साथ स्त्रीधन का भाग लेना चाहिए, यही स्त्रीधन एव विभाजन के विषय मे कानून है। पुत्रियो के अभाव मे पुत्रो को स्त्रीधन मिलता है। सम्बन्धियो द्वारा प्रदत्त उनके (सम्बन्धियों) अभाव मे पति को मिलता है। जो कुछ अचल सम्पत्ति माता–पिता द्वारा पुत्री को दी जाती है वह उसकी मृत्यु के उपरात सन्तान के अभाव मे भाई को ही जाती है।[6] याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार मिताक्षरा ने कहा है कि पुत्रियो मे पुत्र की अपेक्षा माता के शरीर का अश अधिक रहता है अत उसे स्त्रीधन की प्राप्ति मे वरीयता मिली है।[7] मिताक्षरा मे यह भी कहा है कि दोषपूर्ण और अवगुणयुक्त कन्याओ को स्त्रीधन न देने का विधान नहीं है। अपचार–क्रिया–युक्ता, निर्लज्जा, अर्थनाशिनी तथा व्यभिचारिणी स्त्री का स्त्रीधन पर अधिकार नहीं होता है।

प्राचीन भारतीय समाज मे स्त्रीधन नारी की सामाजिक एव आर्थिक दशा मे दृढता की ओर इगित करता है जो उसकी विभिन्न अवस्थाओ से आबद्ध है। स्त्री के विपत्तिकाल मे उसके जीवन का सचालन उसके स्त्रीधन से ही हो सकता था।

## 10. व्यभिचारी स्त्रियाँ :

प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन मे नारी के आदर्श स्वरूप की कल्पना की गई तथा उसके व्यवहार से परिवार और समाज का उत्कर्ष होना सम्भव माना गया। स्त्री द्वारा अनैतिक शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने को

---

[1] कात्यायन – 916
[2] गौ०ध०सू० 28/22
[3] मनु० 9/192–193
[4] नारद (दायभाग, 2)
[5] याज्ञ० 2/117
[6] कात्यायन 912–920
[7] मिताक्षरा याज्ञ० 2/117

व्यभिचार माना गया। यदि पत्नी का व्यभिचार सिद्ध हो जाये तो पति उसे घर के बाहर निकालकर उसे छोड नही सकता था। गौतम के मतानुसार सतीत्व नष्ट करने पर भी स्त्री को प्रायश्चित्त करना पडता था, किन्तु खाना–कपडा देकर उसकी रक्षा की जाती थी।[1] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि अपना सतीत्व नष्ट करने वाली स्त्री का अधिकार (नौकर–चाकर आदि पर) छीन लेना चाहिए, उसे गन्दे वस्त्र पहना देने चाहिए, उसे उतना ही भोजन देना चाहिए जिससे वह जी सके, उसकी भर्त्सना करनी चाहिए और पृथ्वी पर ही सुलाना चाहिए रजस्वला की समाप्ति के उपरान्त वह पवित्र हो जाती है। किन्तु यदि वह व्यभिचार के सभोग से गर्भवती हो जाय तो उसे त्याग देना चाहिए। यदि वह अपना गर्भ गिरा दे, पति को मार डाले या कोई ऐसा पाप करे जिसके कारण वह जातिच्युत हो जाय तो उसे घर से निकाल देना चाहिए।[2] मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य की व्याख्या मे कहा है कि ब्राह्मणो, क्षत्रियो एव वैश्यो की पत्नियॉ यदि शूद्र से व्यभिचार करके गर्भधारण न किये हो तो प्रायश्चित्त करके पवित्र हो सकती है किन्तु अन्य परिस्थितियो मे नही हो सकती है।[3] वसिष्ठ के मतानुसार केवल चार प्रकार की पत्नियॉ त्यागे जाने योग्य होती हैं – शिष्य से सम्भोग करने वाली, पति के गुरु से सम्भोग करने वाली, विशेष रूप से वह जो पति को मार डालने का प्रयत्न करे और जो नीची जाति के किसी पुरुष से सभोग करे।[4] नारद के मतानुसार व्यभिचारियी स्त्री का मुण्डन कर दिया जाना चाहिए, उसे पृथिवी पर सोना चाहिए, उसे निकृष्ट भोजन–वस्त्र मिलना चाहिए और उसका कार्य पति का घर–द्वार स्वच्छ करना होना चाहिए।[5] गौतम तथा मनु का कथन यह है कि नीच जाति के पुरुष के साथ व्यभिचार करने पर बहुत कडे दण्ड देना चाहिए अर्थात् राजा की आज्ञा से कुत्तो द्वारा नोचवाकर मरवा डालना चाहिए।[6] व्यास के मतानुसार व्यभिचार मे पकडी गयी पत्नी को घर मे ही रखना चाहिए, किन्तु धार्मिक कृत्यो एव सम्भोग के उसके सारे अधिकार छीन लेने चाहिए, धन सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नही रहेगा, उसकी भर्त्सना की जाती रहेगी, किन्तु जब व्यभिचार के उपरान्त उसका मासिक धर्म आरम्भ हो जाय और वह पुन व्यभिचार मे सलग्न न हो तो उसे पुनः पत्नी के सारे अधिकार मिल जाने चाहिए।[7] मनु ने कहा है कि अतिदुष्टा एव व्यभिचारिणी नारी को एक प्रकोष्ठ मे बन्द कर देना चाहिए और व्यभिचारी पुरुषो को प्रायश्चित्त करना चाहिए।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि व्यभिचार के आधार पर पति पत्नी को छोड़ नहीं सकता था। व्यभिचार के उपरान्त पत्नी द्वारा प्रायश्चित्त करने पर अपराध क्षम्य हो सकता था तथा उसे पुनः पत्नी के सारे अधिकार पुन मिल जाते थे।

---

[1] गौ०ध०सू० 22/35
[2] याज्ञ० 1/70–72
[3] मिताक्षरा याज्ञ० 1/71
[4] वसि०ध०सू० 21/10
[5] नारद (स्त्रीपुस 91)
[6] गौत०ध०सू० 23/14, मनु० 8/371
[7] व्यास स्मृति – 2/49–50

## 11. वेश्या :

प्राचीन काल मे वेश्या वृत्ति अपनाने वाली गणिकाओ का स्थान समाज मे अन्य साधारण लोगो मे श्रेष्ठ था। गायन, वादन और सगीत के प्रेमी लोग गणिकाओ के प्रति आकृष्ट होते थे। गणिका का जीवन सगीत और ललित कला का सम्मिलित स्वरूप था जो उनका प्रधान व्यवसाय भी था। ऋग्वेद से स्पष्ट होता है कि उस काल मे कुछ ऐसी भी नारियाँ थी जो सभी की थी। ऋग्वेद मे कहा गया है कि मरुतगण विद्युत के साथ उसी प्रकार सयुक्त माने गये है, जिस प्रकार युवती वेश्या से पुरुष लोग सयुक्त होते हैं।[1] एक अन्य स्थान पर सकेत किया गया है कि उस समय भी ऐसी नारियाँ थी जो गुप्त रूप से बच्चा जनकर उसे मार्ग के एक ओर रख देती थी। तथा कई स्थानो पर जार (गुप्त प्रेमी) का उल्लेख हुआ है।[2] गौतम के अनुसार ब्राह्मणी वेश्या को मारने पर प्रायश्चित्त की कोई आवश्यकता नही है केवल आठ मुट्ठी अन्न दान कर देना ही पर्याप्त है।[3] मनु ने वेश्या के हाथ का भोजन ब्राह्मण के लिए वर्जित माना है तथा राजा को धूर्त वेश्याओ को दण्डित करने के लिए प्रेरित किया है।[4]

याज्ञवल्क्य ने वेश्याओ को दो भागो मे बॉटा है – 1 अवरुद्धा – जो घर मे रहती हैं और उसके साथ कोई अन्य व्यक्ति सम्भोग नही कर सकता। 2 भुजिष्या – जो घर मे नहीं रहती, किन्तु एक व्यक्ति की रखैल के रूप मे और कही रहती है। यदि इनके साथ कोई अन्य व्यक्ति सभोग करे तो उसे पचास पण का दण्ड देना पडता था।[5] नारद का मत है कि अब्राह्मणी, स्वैरिणी, वेश्या, दासी, निष्कासिनी यदि अपनी जाति से निम्न जाति की हो तो सभोग की अनुमति है, किन्तु उच्च जाति की स्त्रियो से ऐसा व्यवहार वर्जित हैं। यदि ये स्त्रियॉ किसी की रखैल हो तो उनसे सम्भोग करने पर वही अपराध होता है जो किसी की पत्नी से करने पर होता है। इन स्त्रियो के पास नही जाना चाहिए, क्योकि ये दूसरे की है।[6] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि शुल्क लेकर शुल्क देने वाले पुरुष से सभोग की इच्छा न रखने वाली वेश्या को शुल्क का दूना धन देना चाहिए, बिना शुल्क लिये ही सभोग की स्वीकृति देने के बाद नट जाने वाली वेश्या शुल्क के बराबर धन दे। इसी प्रकार का दण्ड वेश्या के समीप गये पुरुष यदि शुल्क देने के बाद स्वस्थ होने पर भी सभोग न करे तो फिर शुल्क वापस लेने का अधिकारी नही होता है।[7]

---

[1] ऋ० 1/167/4
[2] ऋ० 2/29/1, 1/66/4, 1/117/18
[3] गौ०ध०सू० 22/27
[4] मनु० 4/209, 8/259
[5] याज्ञ० 2/290
[6] नारद (स्त्रीपुंस 78–79)
[7] याज्ञ० 2/292

समाज मे वेश्या को स्वीकृति दी थी अर्थात् उसे अगीकार किया था। व्यक्ति के जीते–जी वेश्या को उसके विरुद्ध कोई अभियोग करने का अधिकार नही था। यदि व्यक्ति की सम्पत्ति उत्तराधिकारी के अभाव मे राजा के पास चली जाती थी तो राजा को मृत व्यक्ति की रखैलो, दासो एव उसके श्राद्ध के लिए उस सम्पत्ति से प्रबन्ध करना पडता था।

## 12. विवाह विच्छेद :

हिन्दू विवाह एक पवित्र धार्मिक सस्कार था जिसे सरलतापूर्वक समाप्त नही किया जा सकता था। मनु ने लिखा है कि पति–पत्नी की पारस्परिक निष्ठा आमरण चलती जाय, यही पति एव पत्नी का परम धर्म है।[1] किन्तु पति–पत्नी के सम्बन्ध विच्छेद अथवा तलाक की व्यवस्था किन्ही विशेष परिस्थितियो मे ही की गयी थी। यद्यपि पति और पत्नी को एक दूसरे के विरुद्ध अभियोग लगाने का विधिक अधिकार नही था, तथापि नष्ट, प्रवजित, क्लीव, पतित, राजदण्ड से पीडित, लोकान्तर्गत पति त्याज्य था। बौधायन एव वसिष्ठ के अनुसार जातिभ्रष्ट और नपुसक पति को त्याग देना चाहिए।[2] नारद ने कहा है कि पति और पत्नी को एक दूसरे के विरुद्ध अभियोग लगाने का विधिक अधिकार नही प्राप्त था।[3] किन्तु विशेष परिस्थितियो मे और पारस्परिक मतभेद होने पर पत्नी का अधिवेदन (एक स्त्री के रहते हुए दूसरी स्त्री से विवाह करना), पत्नी का त्याग अथवा पति का त्याग सम्भव हो सकता था। बौधायन के अनुसार वन्ध्या, केवल कन्या उत्पन्न करने वाली तथा जिसकी सन्तान जीवित नही रहती हो, ऐसी पत्नी को छोडकर पुरुष को दूसरा विवाह करने का अधिकार है। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि अगर पुरुष दूसरा विवाह कर लेता है तो उसे (पति को) पहली पत्नी के लिए भरण–पोषण की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक था। वह उसे पूर्णत निष्कासित अथवा परित्यक्त नहीं कर सकता था।[4] वसिष्ठ के मतानुसार पहली बार व्यभिचार करने वाली स्त्री का त्याग नही करना चाहिए। किन्तु यह उदारता स्त्री के लिए दुबारा नही प्रदान की गयी है दुबारा व्यभिचार करने पर उसका त्याग करना चाहिए।[5] नारद तथा पराशर स्मृति मे कहा गया है कि नष्ट हो जाने पर, मृत हो जाने पर, सन्यासी हो जाने पर, नपुसक हो जाने पर तथा पतित हो जाने पर स्त्री अपने पति को छोडकर दूसरा विवाह कर सकती थी।[6] याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार विज्ञानेश्वर ने

---

[1] मनु0 9/101
[2] बौध0ध0सू0 8/2/26, व0ध0सू0 17/62,64
[3] नारद – स्त्रीपुंस – 89
[4] याज्ञ0 1/74
[5] वसि0ध0सू0 21/10–12
[6] नारद 12/97, परा0स्मृ0 4/24

कहा है कि यदि पत्नी मदिरा पान करने वाली, कुलटा, रोगग्रस्त, हिसक तथा अप्रिय बोलने वाली हो तो पति उसे त्यागकर अपना दूसरा विवाह कर सकता है।[1]

धर्मशास्त्रो मे तलाक सम्बन्धी जो विचार मिलते है उनमे स्त्री की अपेक्षा पुरुषो के अधिकार अधिक हैं। स्मृतिकारो ने ऐसी स्त्रियो की भर्त्सना की है जो अपने पतियो का त्याग करके दूसरा पति करती थी। मनु ने कहा है कि पति के दुराचारी, कामी तथा गुण विहीन होने की स्थिति मे भी पत्नी का यह धर्म है कि देवता के समान मानते हुए उसकी पूजा करे।[2] पराशर के अनुसार दरिद्र, रोगग्रस्त, धूर्त पति का भी स्त्री को अपमान नहीं करना चाहिए अन्यथा बारम्बार जन्म शूकरी तथा कुतिया के रूप मे होता है।[3] इससे स्पष्ट है कि पति अपने मन के मुताबिक अपनी पत्नी को त्याग सकता था किन्तु पत्नी ऐसा नही कर सकती थी। उसके लिए अनेक बन्धनो की व्यवस्था की गयी थी। उसका परम कर्त्तव्य अपने पति की सर्वदा सेवा करना था।

************

[1] विज्ञानेश्वर याज्ञ0 1/73
[2] मनु0 5/154
[3] परा0स्मृ0 4/16

# चतुर्थ अध्याय

# राजधर्म

# राजधर्म

भारतीय जीवन मे मोक्ष प्राप्ति को अन्तिम लक्ष्य मानते हुए उसकी प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ तथा काम नामक तीन साधन माने गये है। मनुष्यो के द्वारा इन तीन साधनो द्वारा प्रयत्न करने का परिणाम राज्य माना गया। राज्य के इसी महत्व को दृष्टि मे रखते हुए राज्य के विभिन्न अगो, तत्वो, स्वरूप, अधिकारो और कर्त्तव्यो आदि का निर्धारण किया गया। राज्य के महत्व को स्पष्ट करते हुए शुक्रनीति मे कहा गया है कि जैसे इन्द्र की पत्नी कभी भी विधवा नही हो सकती उसी प्रकार धर्म विमुख लोग भी, जो शासन नही चाहते या मोक्ष के आकाक्षी नही है राजा (राज्य) के बिना एक क्षण भी जीवित नही रह सकते है। जीवन के तीन आदर्शों धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति इसका मूल उद्देश्य है। राज्य के पास दण्ड अर्थात् बल का सहारा था जिसका प्रयोग केवल 'धर्म' अर्थात् शान्ति, न्याय तथा कर्त्तव्य, 'अर्थ' अर्थात् आर्थिक कल्याण और 'काम' अर्थात् सामाजिक कल्याण तथा सौन्दर्य के प्रति मनुष्य की रूचि को उन्नत बनाने के आदर्शों की प्राप्ति के लिए किया जाता था। इसलिए राजधर्म को सभी धर्मों का तत्त्व या सार कहा गया है।

## 1. राज्य के सप्तांग :

मनु, याज्ञवल्क्य एव कौटिल्य के मतानुसार स्वामी (राजा या सम्राट), अमात्य (मन्त्री, पुरोहित आदि), जनपद या राष्ट्र (राज्य की भूमि एव प्रजा), दुर्ग (सुरक्षित नगर या राजधानी), कोश, दण्ड (सेना) एव मित्र ये राज्य के मूल कारण हैं इसे राज्य का सप्ताग कहा जाता है।[1] शुक्रनीतिसार ने राज्य के सप्तागो की तुलना शरीर के अगो से की है, यथा राजा सिर है, मन्त्री लोग ऑखे हैं, मित्र कान है, कोश मुख है, बल (सेना) मन है, दुर्ग (राजधानी) एव राष्ट्र हाथ एव पैर हैं।[2] कामन्दक ने कहा है कि सातो अग एक–दूसरे के पूरक हैं, यदि एक भी अग दोषपूर्ण हुआ तो राज्य ठीक से चल नहीं सकता है।[3]

## 2. स्वामी :

प्राचीन काल से ही भारतीयों ने राजा एव राजपद की महत्ता को समझा एव सामाजिक व्यवस्था के लिए उसे अनिवार्य माना गया। ऐतरेय ब्राह्मण में आया है कि देवों ने राजा के न रहने पर अपनी दुर्दशा देखी और तभी एकमत से इन्द्र को राजा बनाया।[4] इससे यह ज्ञात होता है कि सामरिक आवश्यकताओं ने स्वामित्व या

---

[1] मनु0 9/294, याज्ञ0 1/353, कौटिल्य 6/1, पृ0 257
[2] शुक्रनीतिसार 1/61–62
[3] कामन्दक 4/1–2
[4] ऐत0ब्रा0 1/14

नृपत्व को जन्म दिया। मनु के अनुसार इस ससार को बिना राजा के होने पर बलवानो के डर से प्रजा के इधर–उधर भागने पर सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा की सृष्टि की है।[1] शान्ति पर्व मे कहा गया है कि राजा के अभाव मे समाज मे मात्स्य न्याय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमे बलवान दुर्बलो का उसी प्रकार भक्षण करने लगते है जिस प्रकार जल मे बडी मछली छोटी मछली का करती है।[2] मनु ने भी मात्स्य न्याय की ओर सकेत किया है।[3] विष्णु, मनु एव याज्ञवल्क्य के मतानुसार राजा को दुराचारियो अर्थात् अपराधियो को दण्डित करना चाहिए क्योकि ब्रह्मा ने दण्ड के रूप मे धर्म की सृष्टि की है। तथा उचित दण्ड से प्रजा दुखित नही होती है।[4] मनु ने यह भी कहा है कि दण्ड सब पर राज्य करता है सबकी रक्षा करता है, यह न्याय के रक्षको के सो जाने पर भी जागता रहता है विद्वान लोग इसे धर्म कहते हैं। असहाय, मूर्ख, लोभी, शास्त्र ज्ञानहीन और विषयो मे आसक्त राजा के द्वारा न्यायपूर्वक दण्ड का प्रयोग नही किया जा सकता है किन्तु धनादि के विषय मे शुद्ध, सत्य प्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार व्यवहार करने वाला, अच्छे सहायको वाला और बुद्धिमान राजा के द्वारा दण्ड का प्रयोग किया जा सकता है।[5]

राजा मे देवो का अश स्वीकार किया गया है मनु के अनुसार विधाता ने इन्द्र, मरुत, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र एव कुबेर के सारभूत नित्य अश लेकर राजा को बनाया। तथा बालक राजा को भी, यह सोचकर कि वह भी मानव ही है, अपमान नहीं करना चाहिए क्योकि वह नररूप मे देवता ही है।[6] गौतम ने कहा है कि ब्राह्मणो के अतिरिक्त सब पर राजा शासन करता है, ब्राह्मणो को छोडकर सभी अन्य लोगो को नीचे आसन पर बैठकर राजा का सम्मान करना चाहिए, क्योकि राजा का आसन सबसे ऊँचा होता है। ब्राह्मणो को भी राजा का सम्मान करना चाहिए।[7] मनु ने कहा है कि जो राजा प्रजा को पीडा देता है वह अपना जीवन कुटुम्ब एव राज्य खो देता है।[8] शान्ति पर्व मे आया है कि झूठे एव दुष्ट मन्त्रियो वाले तथा अधार्मिक राजा को मार डालना चाहिए।[9] मनु का कहना है कि यदि दण्ड के सिद्धान्त भली भाँति क्रियान्वित हो तो तीनो पुरुषार्थों की उन्नति होती है, किन्तु यदि व्यभिचारी, दुष्ट एव अन्यायी राजा दण्ड धारण करे तो दण्ड उसी पर घूमता है और उसके सम्बन्धियो के साथ उसका नाशकर देता है।[10] याज्ञवल्क्य के मतानुसार शास्त्र के अनुसार प्रयोग में लाये जाने पर दण्ड देवता, राक्षस एव मनुष्यो सहित इस सम्पूर्ण ससार को सुख देता है किन्तु शास्त्र विपरीत होने पर वह

---

[1] मनु0 7/3
[2] महा0शान्ति – 67/16
[3] मनु0 7/20
[4] विष्णु ध0सू0 3/95, मनु0 7/25, याज्ञ0 1/354
[5] मनु0 7/18, 30–31
[6] मनु0 7/4–5 एव 8,
[7] गौ0ध0सू0 11/1/7–8
[8] मनु0 7/111–112
[9] शान्ति पर्व – 92/19
[10] मनु0 7/27–28

उसे नष्ट कर देता है।[1] नारद स्मृति मे राजा के दैवी अधिकार का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी पर स्वय इन्द्र राजा के रूप मे विचरण करता है उसकी आज्ञाओ का उल्लघन करके मनुष्य कही नही रह सकता, राजा सर्वशक्तिमान है वही रक्षक है, वह सब पर कृपालु है, अत यह निश्चित नियम है कि राजा जो कुछ करता है वह ठीक या सम्यक् ही रहता है। जिस प्रकार दुर्बल पति को भी उसकी पत्नी की ओर से सम्मान मिलता है उसी प्रकार गुणहीन शासक को भी प्रजा द्वारा सम्मान मिलना चाहिए।[2]

राजा के गुणो के विषय मे मनु, याज्ञवल्क्य एव कौटिल्य का मत है कि राजा को शक्तिमान, दयालु, दूसरो के अतीत कर्मो को जानने वाला, तप, ज्ञान एव अनुभव वालो पर आश्रित, अनुशासित मन वाला, अच्छे एव बुरे भाग्य मे समान स्वभाव रहने वाला, अच्छे मातृकुल एव पितृकुल वाला, सत्यवादी, मन एव देह से पवित्र, कार्यपटु, स्मृतिमान, वचन एव कर्म मे मृदु, वर्णाश्रम धर्म के नियमो का पालक, दुष्कर्मो से दूर रहने वाला, मेधावी, साहसी, रहस्य गोपनीय रखने मे चतुर, राज्य के दुर्बल स्थलो की रक्षा करने वाला, तर्कशास्त्र, राजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मित्रो के प्रति सरल, शत्रुओं के प्रति क्रूर एव सेवको तथा प्रजा के प्रति पितृवत होना चाहिए।[3] गौतम के अनुसार राजा को शास्त्रविहित कार्य करना चाहिए, सत्य निर्णय देना चाहिए, बाहर–भीतर से पवित्र होना चाहिए , इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखना चाहिए, अच्छे नौकरों वाला होना चाहिए, नीति–विषयक उपादानों का ज्ञान रखना चाहिए, प्रजा को समान दृष्टि से देखना चाहिए और प्रजा–कल्याण करना चाहिए।[4] इन गुणो से युक्त राजा का राज्य सब प्रकार से सुरक्षित होता है।

## 2.1. राजा के कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व :

राजा का प्रधान कर्त्तव्य प्रजा रक्षण करना है वह अपनी प्रजा के साथ पुत्रवत् व्यवहार करता था तथा उसकी भलाई को सर्वोच्च प्राथमिकता देता था। राजत्व सम्बन्धी उसकी अवधारणा पितृपरक थी। मनु के मतानुसार प्रजाओं का पालन ही क्षत्रियो का श्रेष्ठ धर्म है इससे तात्पर्य भौतिक एव नैतिक दोनों ही प्रकार का कल्याण करने से है। इसमें प्रजा रक्षण को सहस्त्र यज्ञों फल के समान निरूपित किया गया है।[5] गौतम ने कहा है कि राजा का विशिष्ट उत्तरदायित्व है सभी प्राणियों की रक्षा करना, न्यायोचित दण्ड देना, शास्त्रविहित नियमों के अनुसार वर्णाश्रम की रक्षा करना तथा पथभ्रष्ट लोगों को सन्मार्ग दिखाना।[6] वसिष्ठ का कहना है कि राजा के

---

[1] याज्ञ0 1/356
[2] नारद0 प्रकीर्णक – 20, 22, 26, 52
[3] मनु0 7/32–44, याज्ञ0 1/309–311, कौटिल्य – 6/1
[4] गौ0धा0सू0 11/2/4–6
[5] मनु0 7/144
[6] गौ0धा0सू0 10/7–8, 11/9–10

लिए रक्षण कार्य जीवन पर्यन्त चलने वाला एक सत्र है जिसमे उसे भय एव मृदुता छोड देनी चाहिए।[1] शान्ति पर्व मे कहा गया है कि जिस प्रकार सर्प बिल मे छिपे हुए चूहो को निगल जाता है, उसी प्रकार यह पृथिवी ऐसे राजा एव ब्राह्मणो को निगल जाती है जो क्रम से बाहरी आक्रामको से नही भिडते एव विद्या–ज्ञान के वर्धन के लिए दूर–दूर नही जाते।[2] याज्ञवल्क्य के मतानुसार न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने पर राजा प्रजाओ के पुण्य का छॅठवा भाग प्राप्त करता है। अतएव भूमि आदि सभी प्रकार के दान से उत्पन्न पुण्यफल से प्रजा पालन का फल अधिक होता है।[3] मनु के मतानुसार आक्रमण मे प्रजा की रक्षा करते समय राजा को युद्ध क्षेत्र से विमुख नहीं होना चाहिए, वे राजा जो युद्ध करते हुए मर जाते है स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।[4] याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि जो भूमि के लिए युद्ध मे सन्मुख लडते हुए मारे जाते है वे योगियो के समान स्वर्ग को जाते हैं।[5] वसिष्ठ एव विष्णुधर्मोत्तर मे कहा गया है कि राजा को असहायो, वृद्धो, अन्धो, लगडे–लूलो, पागलो, विधवाओ, अनार्यों, रोगियो, गर्भवती स्त्रियो की दवा, वस्त्र, निवास स्थान देकर सहायता करनी चाहिए।[6] मनु तथा याज्ञवल्क्य के मतानुसार ब्राह्मणो को भोग और अनेक प्रकार का धन राजा को प्रदान करना चाहिए क्योकि वह ब्राह्मण राजा का अक्षय निधि कहा जाता है।[7]

राजा के प्रतिदिन के कार्यों के विषय मे याज्ञवल्क्य, मनु एव कौटिल्य का मत है कि पुर और अपनी रक्षा करना, स्वय आय और व्यय का लेखा देखना, व्यवहार (वाद–मुकदमे) देखना, स्नान करके भोजन करना, स्वर्ण आदि को भण्डार मे रखवाना, गुप्तचरो से बात करना, मन्त्री के साथ बैठकर दूतो को कार्यों के लिए निर्देश देना, अन्त पुर मे विहार करना, मन्त्रियों के साथ बैठक करना, सेना का निरीक्षण करना, सेनापतियो के साथ विचार विमर्श करना, सन्ध्योपासना करना, गुप्तचरो के रहस्यमय वचनो को सुनना, गीत और नृत्य का आनन्द लेना, अध्ययन करना, गुप्तचरो को अपने मन्त्रियों तथा दूसरे राजाओ के समीप भेजना, ऋत्विज्, पुरोहित और आचार्य का आशीर्वाद ग्रहण करना, ज्योतिषी और वैद्य से मिलना, वेदज्ञ ब्राह्मण को दुधार गाय, सोना, भूमि, विवाह योग्य अलकारादि उपकरण तथा वासभवन का दान आदि कार्य करना चाहिए।[8] विष्णु के मतानुसार विजेता को विजित देश की परम्पराओं का नाश नहीं करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपनी राजधानी में मृत राजा के कुछ सम्बन्धियों को रखे और यदि राजवश निम्न जाति का न हो तो उसका नाश न करे।[9] याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि विजयी राजा को विजित राजा के राष्ट्र की रक्षा अपने राज्य के समान ही करना चाहिए उसकी परम्पराओ,

---

[1] वसि0 ध0सू0 19/1–2
[2] शान्ति पर्व – 23/15
[3] याज्ञ0 1/335
[4] मनु0 7/87–89
[5] याज्ञ0 1/324
[6] वसि0ध0सू0 99/35–36, विष्णुधर्मोत्तर 3/65
[7] मनु0 7/82, याज्ञ0 1/315
[8] याज्ञ0 1/327–333, मनु0 7/145–157, कौटिल्य 1/19
[9] विष्णु ध0सू0 3/42 एव 47–49

रीतियो आदि पर अपनी सस्कृति का भार नही लादना चाहिए।[1] राजा के भोजन के विषय मे मनु ने कहा है कि राजा को वही भोजन करना चाहिए जो भली भॉति परीक्षित हो चुका हो और जो पूर्ण विश्वासी व्यक्ति द्वारा तैयार किया गया हो तथा जिस पर विष शान्ति करने वाला मन्त्र फूँक दिया गया हो। राजा को अपनी भोज्य वस्तुओ मे विषमोचक वस्तुएँ मिला देनी चाहिए और ऐसे रत्न धारण करने चाहिए जो विष का मारक हो। वैसी ही स्त्रियो को राजा के स्नानार्थ, लेपनार्थ, बीजनार्थ तथा स्पशीर्थ नियुक्त करना चाहिए जो भक्त हो और जिनके वस्त्राभूषण आदि की भली भॉति परीक्षा ली जा चुकी हो। राजा को अपनी सवारियो, शय्या, भोजन, स्नान, लेपन आदि के विषय मे विशेष सतर्क रहना चाहिए।[2]

राजा के कर ग्रहण करने के सम्बन्ध मे मनु ने कहा है कि जिस प्रकार जोक, बछडा और भ्रमर थोडे–थोडे अपने खाद्य (क्रमश रक्त, दूध और मधु) ग्रहण करते हैं उसी प्रकार राजा को प्रजा से थोडा–थोडा वार्षिक कर ग्रहण करना चाहिए। राजा को पशु तथा सुवर्ण का कर का पचासवा भाग और धान्य का छठा, आठवा या बारहवा भाग ग्रहण करना चाहिए।[3] कामन्दक राजा के आचरण की तुलना ग्वाले तथा माली के आचरण से करते हुए कहा है कि जिस प्रकार ग्वाला एक समय गौ का पालन करता है तथा दूसरे समय उसका दोहन करता है और जिस प्रकार माली पहले पौधो को सींचता है तथा फिर उनसे फूल चुनता है उसी प्रकार राजा को चाहिए कि पहले प्रजा का पालन करे तथा फिर उससे कर ले। यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणो से जल ग्रहण करता है उसी प्रकार राजा को प्रजा से थोडा–थोडा धन लेना चाहिए। इस प्रकार प्रजा रक्षण तथा पालन को राजा का प्रमुख कर्त्तव्य निरूपित किया गया है।

## 3. अमात्य या मन्त्रिगण :

अमात्य को सचिव या मन्त्री भी कहा गया है ऋग्वेद में अमात्य शब्द विशेषण के रूप मे आया है जिसका अर्थ 'स्वय हमारा' या 'हमारे घर मे रहने वाला' है।[4] बौधायन के अनुसार अमात्य शब्द 'घर में पुरुष सम्बन्धियों के पास' के अर्थ में प्रयुक्त है।[5] आपस्तम्ब ने अमात्य शब्द मन्त्री के अर्थ में प्रयुक्त किया है, राजा को

---

[1] याज्ञ0 1/342–43
[2] मनु0 7/217–220
[3] मनु0 7/129–130
[4] ऋ0 7/15/3
[5] बौधा0 पितृमेध सूत्र 1/4/13, 1/12/7

अपने गुरुओ एव अमात्यो से बढकर सुखपूर्वक नही जीना या रहना चाहिए।[1] कौटिल्य ने कहा है कि राजत्व पद सहायको की मदद से सम्भव है, केवल एक पहिया कार्यशील नही होता, अत राजा को चाहिए कि वह मन्त्रियो की नियुक्ति करे और उनकी सम्मतियॉ सुने।[2] मनु ने कहा है कि एक व्यक्ति के लिए सरल कार्य भी अकेले करना कठिन है, तो शासन कार्य, जो कि कल्याण करना परम लक्ष्य माना गया है, बिना सहायको के नही चल सकता है।[3] मनु ने अन्यत्र कहा है कि राजा की वशपरम्परागत, शास्त्रो का ज्ञाता, वीर, शस्त्र चलाने मे निपुण, उच्च्य कुलोत्पन्न एव भली भॉति परीक्षित सात या आठ मन्त्रियो को रखना चाहिए।[4] याज्ञवल्क्य एव कौटिल्य ने अमात्यो के विषय मे कहा है कि वह ज्ञानी, उच्चकुल मे उत्पन्न, प्रभावशाली, कलानिपुण, दूरदर्शी, समझदार, अच्छी स्मृतिवाला, अच्छा वक्ता, धैर्यवान् एव पवित्र, विनयशील, चरित्र, बल, स्वास्थ्य एव तेजस्विता से परिपूर्ण, स्नेहवान होना चाहिए।[5]

राजा को मन्त्रिपरिषद से एकान्त मे परामर्श करना चाहिए। मनु के मतानुसार राजा को पहाड पर चढकर या एकान्त प्रासाद महल में या निर्जन वन मे दूसरे से अज्ञात मन्त्री के साथ मत्रणा करनी चाहिए, क्योकि जिस राजा के मन्त्र को दूसरे लोग नहीं जानते वह कोश से हीन होते हुए भी सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करता है, मन्त्र के समय राजा को जड, मूक, बहरे, तिर्यग्योनि मे उत्पन्न, अत्यन्त वृद्ध, स्त्री, मलेच्छ, रोगी को हटा देना चाहिए क्योकि ये सब मन्त्र का भेदन कर देती है।[6] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि राज्यकार्य का मुख्य आधार मन्त्रणा या गुप्त परामर्श होता है इसलिए मन्त्र को गुप्त रखा जाना चाहिए राजा के कर्मों के फलीभूत होने के पूर्व उसकी जानकारी किसी को नही होनी चाहिए।[7] कौटिल्य ने स्पष्ट कहा है कि कोई बाहरी मनुष्य राजा की गुप्त नीति न जान सके। वे ही लोग, जिन्हे उसे कार्यान्वित करना है, केवल उसे समय पर जान सकें।[8] जिनके बारे में मन्त्रियों से मन्त्रणा करना आवश्यक है इस विषय मे मनु ने कहा है कि शान्ति एव युद्ध, स्थान, कर के उद्गम, रक्षा (राजा एव देश की रक्षा) पाये हुए धन को रखना या उसका वितरण। राजा को अन्त मे, नीतिविषयक छः गुणों से युक्त किसी विद्वान ब्राह्मण (जो मन्त्रियों में सर्वश्रेष्ठ हो) परामर्श करना चाहिए और उस पर विश्वास करना चाहिए एव नीति की सभी बातो में उसकी सहमति से निर्णय करना चाहिए।[9] कामन्दक का कथन है कि राजा को

---

[1] आप०ध०सू० 2/10/25/10
[2] कौटिल्य – 1/7
[3] मनु० 7/55
[4] मनु० 7/54
[5] याज्ञ० 1/312, कौटिल्य – 1/9
[6] मनु० 7/147–150
[7] याज्ञ० 1/344
[8] कौटिल्य – 1/15
[9] मनु० 7/58–59

त्रुटिमय मार्ग से हटाना मन्त्रियो का कर्त्तव्य है, और मन्त्रियो की मन्त्रणा को सुनना राजा का कर्त्तव्य है। मन्त्रिगण न केवल मित्र है प्रत्युत राजा के गुरु है।[1]

पुरोहित पद का वर्णन ऋग्वेद काल से प्राप्त होता है वह राजा के आत्मा का अर्ध भाग समझा जाता था। राजा की समृद्धि के लिए आध्यात्मिक गुरु एव धर्मनिरपेक्ष राजा का सहयोग अत्यन्त आवश्यक समझा जाता रहा है। याज्ञवल्क्य एव कामन्दक के अनुसार वेदो, इतिहास, धर्मशास्त्र या दण्डनीति, ज्योतिष एव भविष्यवाणी शास्त्र तथा अथर्ववेद मे पाये जाने वालि शान्तिक सस्कारो मे पारगत होना चाहिए, उच्च कुल का होना चाहिए और शास्त्र एव शुभ कर्मों, तपश्चर्या मे प्रवीण होना चाहिए।[2] मनु का कथन है कि राजा को पुरोहित और यज्ञ कर्म करने के लिए ऋत्विक् का वरण करना चाहिए, तथा पुरोहित एव ऋत्विक् राजा के शान्तिकर्म तथा यज्ञ कर्म को करते रहना चाहिए।[3] आपस्तम्ब के अनुसार पुरोहित को अपराध करने वालो के लिए प्रायश्चित्त देने का पूर्ण अधिकार था।[4] वसिष्ठ ने कहा है कि यदि अपराधी छूट जाय तो राजा को एक तथा पुरोहित को तीन दिनो तक उपवास करना पडता था, किन्तु यदि राजा निरपराध को दण्ड दे तो पुरोहित को कृच्छ्र नामक प्रायश्चित्त करना चाहिए।[5] यद्यपि दण्ड का प्रयोग राजा के अधीन था किन्तु वह अमात्य वर्ग की सहायता से प्रयुक्त करता था।

## 4. राष्ट्र या जनपद :

राष्ट्र शब्द के बारे मे ऋग्वेद मे कहा गया है कि मेरा राष्ट्र दोनो ओर या दोनो गोलको में है।[6] वरुण को राष्ट्रो का स्वामी कहा गया है।[7] कामन्दक का कथन है कि राज्य के सभी अगो का उद्भव राष्ट्र से होता है अत राजा को सभी सम्भव प्रयत्नो द्वारा राष्ट्र की वृद्धि करनी चाहिए।[8] मनु ने कहा है कि राजा को ऐसे देश मे घर बनाना चाहिए , जहॉ पानी न जमा रहता हो, जहॉ प्रचुर अन्न उपजता हो, जहॉ अधिकतर आर्यों का वास हो, जहॉ व्याधियो आदि का उपद्रव न हो, जो वृक्षो, पुष्पो एव फलो के कारण सुन्दर हो, जहॉ के सामन्त अधिकार मे आ गये हों, और जहॉ जीविका के साधन सरलता से प्राप्त हो सके।[9] याज्ञवल्क्य एव विष्णु के मतानुसार राजा को रमणीक, पशुओं की (चारे आदि से) वृद्धि के योग्य, जीवन निर्वाह में (कन्दमूल, पुष्प और फल से) सहायता देने वाले एव वनप्राय देश मे निवास करना चाहिए।[10] मनु के मतानुसार जिस देश में शूद्र अधिक हों

---

[1] कामन्दक – 4/41–49
[2] याज्ञ0 1/313, कामन्दक – 4/32
[3] मनु0 7/78
[4] आप0ध0सू0 2/5/10/14–17
[5] वसि0ध0सू0 19/40–42
[6] ऋग्वेद – 4/42/1
[7] ऋग्वेद – 7/34/11
[8] कामन्दक – 6/3
[9] मनु0 7/69
[10] याज्ञ0 1/321, वि0ध0सू0 3/4–5

जहाँ नास्तिको की सख्या अधिक हो और द्विज बिल्कुल न हो, वह देश व्याधियो एव दुर्भिक्षो से आक्रान्त होकर नष्ट हो जाता है।[1]

प्रान्तीय एव स्थानीय शासन के विषय मे मनु ने कहा है कि दो, तीन या पॉच ग्रामो के बीच मे, राजा को चाहिए कि वह रक्षको का एक मध्य स्थान नियुक्त करे। इस मध्य स्थान को 'गुल्म' कहा गया है। इसी प्रकार एक सौ ग्रामो के बीच मे 'सग्रह' होता है।[2] विष्णु–मनु एव विष्णु धर्मोत्तर के अनुसार राजा द्वारा एक ग्राम मे दस ग्रामो का दल मे, बीस ग्रामो, सौ ग्रामो एव एक हजार ग्रामो के दलो मे क्रम से एक से ऊँचे बढते हुए अधिकारियो की नियुक्ति की जानी चाहिए, जिन्हे अपने–अपने अधिकार–क्षेत्रो के समाचार से अवगत होना चाहिए और यदि वे कोई कार्य करने मे समर्थ न हो सके तो उन्हे इसकी सूचना ऊपर वाले अधिकारी को दे देनी चाहिए।[3] मनु–कामन्दक एव विष्णु ने कहा है कि राजा को चतुर, सच्चे एव आलस्य रहित, अच्छे कुल के लोगो को सेना, कोषसग्रह, दूतकार्य आदि कार्यों के लिए अनेक प्रकार के अध्यक्षो को नियुक्त करना चाहिए।[4] याज्ञवल्क्य के मतानुसार धर्म, अर्थ, काम आदि कर्मों मे, आय कर्म और व्यय कर्म मे योग्य, कार्यकुशल, पवित्र एव कर्त्तव्यनिष्ठ अध्यक्षो की नियुक्ति करना चाहिए।[5] एक, दस या इससे अधिक ग्रामो वाले राजकर्मचारियो के वेतन के विषय मे मनु ने कहा है कि ग्राम के मुखिया को प्रतिदिन राजा को मिलने वाली अन्न, पेय पदार्थ, ईंधन आदि वस्तुएँ मिलनी चाहिए। दस ग्रामो के रक्षक को एक 'कुल', बीस गॉवो के रक्षक को पॉच कुल, सौ गॉवो के रक्षक को एक मध्यम ग्राम और एक हजार गॉवो के रक्षक को एक मध्यमपुर का कर मिलना चाहिए।[6] गुप्तचर के बारे मे याज्ञवल्क्य का मत है कि राजा को गुप्तचरो द्वारा राज्यकार्य के उच्च राज्यकर्मचारियो के आचरण की जानकारी करनी चाहिए, उत्तम चरित्रवालो का सम्मान करना चाहिए तथा विपरीत आचरण करने वालों को दण्ड देना चाहिए, जो घूस लेकर जीविका चलाते हैं उनका धन छीन कर देश से निकाल देना चाहिए।[7] मनु, विष्णुधर्मोत्तर, पचतन्त्र मे यही बात स्पष्ट की गयी है।[8]

पशुपालन तथा चरागाहों के प्रबन्ध एव सुरक्षा के लिए राज्य की ओर से कठोर नियम बनाये गये थे। मनु एव याज्ञवल्क्य के मतानुसार गॉवो के लोगों की इच्छा से अथवा राजा की आज्ञा से गौओं के चरागाह के लिए भूमि बनानी चाहिए। ग्रामो के चारों तरफ सौ धनुष तक तीन बार छडी फेंकने से जितनी दूर तक और नगर

---

[1] मनु0 8/22
[2] मनु0 7/114
[3] विष्णु ध0सू0 3/7–14, मनु0 7/115–117, विष्णुधर्मोत्तर – 2/61/1–6
[4] मनु0 7/61 एव 81, काम0 5/75, वि0ध0सू0 3/16–21
[5] याज्ञ0 1/322
[6] मनु0 7/118–119
[7] याज्ञ0 1/338–339
[8] मनु0 1/122–124, विष्णुधर्मोत्तर, पचतन्त्र (1/343)

के चारो तरफ ग्राम से तिगुनी भूमि पशुओ के घूमने फिरने के लिए छोडनी चाहिए।[1] राजा को अवयस्क लोगो का रक्षक एव अभिभावक माना जाता था। गौतम तथा मनु के मतानुसार जब तक लडका वयस्क न हो जाय या गुरुकुल से लौटकर न आ जाय तब तक राजा को उसकी सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिए।[2] विष्णु तथा मनु ने कहा है कि राजा को वन्ध्या स्त्रियो, पुत्रहीन स्त्रियो, कुलहीन स्त्रियो एव रोगियो की सुरक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए।[3] कौटिल्य ने कहा है कि ग्राम के गुरुजनो का यह कर्त्तव्य है कि वे बालो (अवयस्को) एव मन्दिरो के धन की वृद्धि का प्रबन्ध करे।[4]

राजा का एक अन्य उत्तरदायित्व चोरी न होने देना था। आपस्तम्ब ने कहा है कि राज कर्मचारियो को चोरो से नगर की रक्षा एक योजन तक तथा ग्रामो की एक कोस तक करनी चाहिए और उस सीमा के भीतर जो कुछ भी चोरी जायगा, उन्हे ही देना पडेगा।[5] गौतम, मनु, याज्ञवल्क्य तथा विष्णु के मतानुसार राजा को चोरो से चोरी का माल लेकर वास्तविक स्वामी को बिना जाति का विभेद किये दिला देना चाहिए, यदि ऐसा वह न कर सके तो उसे राजकोष से उसकी पूर्ति कर देनी चाहिए, यदि प्राप्त किया हुआ धन वह स्वय रख ले या चोरो को पकडने का भरपूर प्रयत्न न करे, या अपने कोष से चोरी के माल की पूर्ति न करे तो उसे पाप लगेगा।[6] राजा को सतत कार्यशील रहना चाहिए, उसे किसी भी दशा मे प्रमादी एव भाग्यवादी नहीं होना चाहिए। याज्ञवल्क्य का कथन है कि किसी योजना की सफलता भाग्य एव मानवीय प्रयत्न दोनो पर निर्भर है, किन्तु भाग्य कुछ नहीं है, वह तो मानव के गत जीवनो के कर्मों का प्रतिफल है आज इस जीवन में प्रभाव के रूप मे अभिव्यक्त हो रहा है, जिस प्रकार एक पहिया से रथ नहीं चलता उसी प्रकार बिना मानवीय प्रयत्न या कर्म के भाग्य से कुछ सम्भव नही है।[7] मनु, याज्ञवल्क्य एव शुक्रनीतिसार के अनुसार शक्तिशाली राजा को अपनी राज्य सीमाएँ बढ़ाने तथा प्रजा को अपने अधिकार मे रखने के लिए साम, दान, भेद एव दण्ड का उपाय करना चाहिए।[8] इस प्रकार राजकीय कोष, सेना, कच्चा माल, विष्टि, सवारी के पशु और अन्य सब वस्तुओं की उपलब्धि जनपद से ही होती है अत उसका महत्त्व अमात्यों की तुलना मे अधिक है।

---

[1] मनु0 8/237, याज्ञ0 2/166–167
[2] गौत0ध0सू0 10/48–49, मनु0 8/27
[3] वि0ध0सू0 3/65, मनु0 8/28–29
[4] कौटिल्य – 2/1
[5] आप0ध0सू0 2/10/26/6–8
[6] गौ0ध0सू0 10/46–47, मनु0 8/40, याज्ञ0 2/36, वि0ध0सू0 3/66–67
[7] याज्ञ0 1/349 एवं 351
[8] मनु0 7/109, याज्ञ0 1/346, शुक्र0 4/1/27

## 5. दुर्ग या पुर :

दुर्ग या पुर शासन यन्त्र की धुरी होता है उसका महत्व अधिक था। राजकोष और सेना प्रधानतया दुर्ग मे स्थित होते है और आपत्ति के समय मे जनपद के निवासी भी वही आश्रय प्राप्त करते हैं और जनपद के निवासियो की तुलना मे पुर के निवासी अधिक शक्तिशाली भी होते हैं। कौटिल्य के अनुसार यदि दुर्ग न हो तो कोष पर शत्रु सुगमता से अपना अधिकार कर लेगा और युद्ध के अवसर पर शत्रु की पराजय के लिए दुर्ग का ही आश्रय लेना होता है। वही से सैन्यशक्ति का प्रयोग भली भॉति किया जा सकता है। याज्ञवल्क्य के मतानुसार दुर्ग की स्थिति से राजा की सुरक्षा, प्रजा एव कोष की रक्षा होती है।[1] मनु ने कहा है कि दुर्ग मे अवस्थित एक धनुर्धर सौ धनुर्धरो को तथा सौ धनुर्धर एक सहस्र धनुर्धरो को मार सकता है इस कारण राजनीतिज्ञ दुर्ग की प्रशसा करते हैं।[2] विष्णु, मनु, विष्णुधर्मोत्तर एव शुक्र ने छ प्रकार के दुर्ग बताये हैं यथा – धान्व दुर्ग (जलविहीन, खुली भूमि पर पॉच योजन के घेरे में), महीदुर्ग (स्थल–दुर्ग, प्रस्तर–खण्डो या ईटो से निर्मित प्राकारो वाला), जलदुर्ग (चारों ओर जल से आवृत), वार्क्ष–दुर्ग (जो चारो ओर से एक योजन तक कटीले एव लम्बे–लम्बे वृक्षो, कॅटीले लता–गुल्मों एव झाडियो से आवृत हो), नृदुर्ग (जो चारो ओर से चतुरगिनी से सुरक्षित हो), गिरिदुर्ग (पहाडो वाला दुर्ग जिस पर कठिनाई से चढा जा सके और जिसमे केवल एक ही सकीर्ण मार्ग हो)।[3] मनु ने इन दुर्गों मे गिरि दुर्ग को सर्वश्रेष्ठ होता है।[4] दुर्ग को हथियार (तलवार, धनुष आदि) धन (सुवर्ण, चॉदि आदि), धान्य (गेहूँ, चावल, चना आदि), वाहन (हाथी, घोडा, रथ, ऊँट आदि), ब्राह्मणो, कारीगरो, यन्त्र, चारा (घास, भूसा, खरी, कराई आदि), जल से युक्त होना चाहिए तथा उसके मध्य मे स्त्री गृह, देवमन्दिर, अग्निशाला, स्नानागार, रवाई, परकोटा (चहारदीवारी) सेना, सब ऋतुओ मे फलने–फूलने वाले वृक्ष, गुल्म और लता, सब ऋतुओ के अनुकूल (चूना, रग आदि से उपलिस होने से) शुभ्र बावली, पोखरा आदि जलाशय, तथा पेडों से युक्त राजभवन होना चाहिए ऐसा मनु का मानना है।[5] इस प्रकार राजा को चाहिए कि वह अपनी राजधानी को सुदृढ एव सुरक्षित रखे, शत्रु भले ही राज्य का कुछ भाग जीत ले किन्तु राजधानी अविजित रहनी चाहिए।

## 6. कोश :

एक सुव्यस्थित राज्य का सचालन कोश के माध्यम से ही हो सकता है इसलिए राजा को अपने कोश की रक्षा करनी चाहिए। कौटिल्य का मत है कि जिस राजा का कोश रिक्त हो जाता है वह नगरवासियों एव ग्रामवासियों को चूसने लगता है।[6] विष्णुधर्मोत्तर में कहा गया है कि कोश राज्य के वृक्ष की जड़ है।[7] मनु का

---

[1] याज्ञ0 1/321
[2] मनु0 7/74
[3] वि0ध0सू0 3/6, मनु0 7/70, विष्णु धर्मोत्तर 2/26/6–9, 3/323/16–21, शुक्र0 4/6,
[4] मनु0 7/71
[5] मनु0 7/75–76
[6] कौटिल्य – 2/8
[7] विष्णुधर्मोत्तर – 2/61/17

कथन है कि राज्य का कोश एव शासन राजा पर निर्भर रहता है अर्थात् राजा को उन पर व्यक्तिगत ध्यान देना चाहिए।[2]

कर ग्रहण करना कोश का प्रमुख साधन है। गौतम, मनु एव विष्णु ने कहा है कि राजा को अपनी प्रजा से उपज कर छठा भाग लेना चाहिए।[3] किन्तु कौटिल्य एव मनु ने यह छूट प्रदान की है कि आपत्तियो के समय राजा को भारी कर लगाने के लिए प्रजा से स्नेहपूर्वक याचना करनी चाहिए और अनुर्वर भूमि पर भारी कर नही लगाना चाहिए।[4] व्यापारियो से कर लेने के प्रश्न पर मुन ने कहा है कि राजा को खरीद बिक्री, मार्ग, भोजन, मार्गादि रक्षा का व्यय, और लाभ का सम्यक विचार करके कर लेना चाहिए।[5] गौतम, विष्णु एव मनु का कथन है कि राज्य के कोश में साधारण श्रेणी के लोगों को वार्षिक कर देना चाहिए। यहाँ तक कि दरिद्र लोगो को भी, जो कोई वृत्ति करते हैं, रसोई बनाने वाले, कारीगर, बढई, लोहार तथा मजदूर को भी मास मे एक दिन की कमाई कर के रूप मे देनी चाहिए।[6] कामन्दक के अनुसार कृषि, जल स्थल के मार्ग, राजधानी, जलो में बॉध, हाथियो को पकडना, खानों में काम करना, सोना एकत्र करना, धन उगाहना, निर्जन स्थानो में नगरो एव ग्रामो को बसाना, कोश के भरण के लिए आठ प्रमुख स्रोत हैं।[7]

धर्मशास्त्रों एव अर्थशास्त्रो मे अनेक प्रकार के करो का उल्लेख किया गया है राजा को जो कर दिया जाता है उसका बलि प्राचीनतम नाम है। मनु एव विष्णु मे बलि शब्द का प्रयोग राजा द्वारा लगाये गये कर के रूप में षष्ठ भाग के लिए किया है।[8] भाग कर के विषय मे आपस्तम्ब, वसिष्ठ एव मनु ने साधारण कर के लिए कहा है जो राजा द्वारा वृक्ष, मास, शहद, घी, गन्ध, औषधि, रस, फूल, मूल, फल, पत्ता, शाक, घास, चमड़ा, बॉस तथा मिट्टी एव पत्थर की बनी वस्तुओ का छठा भाग कर के रूप मे ग्रहण किया जाता था।[9] शुल्क शब्द का अर्थ चुगी है शुक्रनीतिसार के अनुसार जो क्रेताओ एव विक्रेताओ द्वारा राज्य के बाहर या भीतर ले जाने या लाने वाले सामानो पर लगायी जाती थी।[10] मनु ने कहा है कि कृषक, व्यापारी, श्रमिक एव शिल्पकार प्रमुख करदाता हैं। वह राजा जो प्रजा की रक्षा किये बिना बलि, कर, शुल्क एव दण्ड को लेता है वह तत्काल नरक को जाता है।[11] राजा को भूमि तथा पशु से कर प्राप्त करने के विषय मे धर्मसूत्रो में भिन्न मत प्राप्त होते हैं राजा को भूमि से अन्न प्राप्त को मनु ने छठा, आठवा या बारहवा भाग, पशु के लिए पचासवा भाग, गौतम ने भूमि के लिए छठां

---

[1] विष्णुधर्मोत्तर – 2/61/17
[2] मनु0 7/65
[3] गौ0ध0सू0 10/24, मनु0 7/130, वि0ध0सू0 3/22–23
[4] कौ0 5/2, मनु0 10/118
[5] मनु0 7/127
[6] गौ0ध0सू0 10/31–34, वि0ध0सू0 3/32, मनु0 137–138
[7] कामन्दक – 5/78–79
[8] मनु0 7/80, वि0ध0सू0 22
[9] आप0ध0सू0 2/10/26/10, वसि0ध0सू0 19/23, मनु0 7/128, 131–132
[10] शुक्र0 4/2/108
[11] मनु0 10/119–120, 8/307

भाग, पशु के लिए पचासवा भाग, विष्णु ने भूमि के लिए दशवा भाग, पशु के लिए पचासवा भाग माना है।[1] स्थल मार्ग तथा जलमार्ग से लाये गये सामानो पर शुल्क लगता था। विष्णु के अनुसार राजा को अपने देश मे बने हुए सामानो पर दशवा भाग तथा दूसरे देश से आये हुए सामानो पर बीसवॉ भाग कर के रूप मे लेना चाहिए।[2] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि राजा को विक्रय सामानो पर बीसवॉ भाग कर के रूप मे लेना चाहिए।[3] राजा को किससे कर नही ग्रहण करना चाहिए इस विषय मे गौतम, आपस्तम्ब, वसिष्ठ एव मनु का कथन है कि शिक्षित एव विद्वान्, ब्राह्मणो, सभी जातियो की नारियो, युवा होने से पूर्व के बच्चो, गुरुकुल मे रहने वाले छात्रो, धर्मज्ञ साधुओ, शूद्रो, अन्धो, बहरो, रोगियो, लूलो, सत्तर वर्षीय या अधिक अवस्था वाले से कर नही ग्रहण करना चाहिए। मनु ने इतना और कहा है कि अतिनिर्धन हुआ राजा श्रोत्रिय (वेदपाठी ब्राह्मण) से कर कभी नहीं लेना चाहिए।[4] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि राजा द्वारा सुरक्षित प्रजा जो कुछ पाप करती है उस पाप का आधा भाग राजा का होता है क्योकि प्रजाओ से कर लेकर राजा उसकी रक्षा करता है।[5] इस प्रकार राजा कोश के माध्यम से वाह्य आक्रमण,, दुर्भिक्ष एव अन्य दैवी आपत्तियो के समय पर अपनी तथा अपने प्रजा की रक्षा करता था।

## 7. बल या सेना :

राज्य के सुरक्षित सचालन के लिए राजा को सेना की आवश्यकता होती थी। ऋग्वेद इसके लिए सेनानी शब्द आया है[6] कामन्दक का कथन है कि परिपूर्ण कोश के रहने पर राजा अपनी क्षीण सेना बढाता है, अपनी प्रजा की रक्षा करता है और उस पर उसके शत्रुगण भी आश्रित रहते हैं। बलशाली सेना के रहने पर मित्रों एव शत्रुओ की सम्पत्ति तथा स्वय राजा के राज्य की सीमाएँ बढती हैं , उद्देश्यो की शीघ्र एव मनचाही पूर्ति होती है, प्राप्त की हुई वस्तुओ की सुरक्षा होती है, शत्रु की सेनाओ का नाश होता है तथा अपनी सेनाओं की टुकडियॉ एकत्र की जा सकती हैं।[7] सेना के छ· प्रकार बताये गये हैं– मौल (वश परम्परागत), भृत या भृत्य (वेतन पर रखे गये सैनिकों का दल), श्रेणी (व्यापारियो या अन्य जन समुदायो की सेना), अमित्र (ऐसी सेना जो कभी शत्रुपक्ष की थी), मित्र (मित्रो या सामन्तों की सेना), अटवी या आटविक (जगली जातियो की सेना)।

---

[1] मनु0 7/130, गौ0ध0सू0 10/24, 10/25, वि0ध0सू0 3/22, 3/24
[2] वि0ध0सू0 3/29–30
[3] याज्ञ0 2/261
[4] गौ0ध0सू0 10/9–12, आप0ध0सू0 2/10/26/10–16, वसि0ध0सू0 1/42–46, मनु0 8/394, 7/133
[5] याज्ञ0 1/337
[6] ऋग्वेद 10/84/2
[7] का0 13/34–37

हस्ती, अश्व, रथ एव पदाति सेना के चार भाग होते थे जिसे चतुरगिणी सेना कहा जाता था। किन्तु कामन्दक ने हस्ती, अश्व, रथ, पदाति, मन्त्र एव कोश बल के छ प्रकार बतलाये है।[1] मनु के अनुसार राजा को समतल युद्धभूमि मे रथ और घोडो से, जल युद्धभूमि मे नाव तथा हाथियो से पेड तथा झाडियो से गहन युद्धभूमि मे धनुषो से और कटक पत्थर आदि से वर्जित युद्धभूमि मे ढाल–तलवार एव भाला–बर्छी से युद्ध करना चाहिए।[2] कौटिल्य ने अनेक प्रकार के व्यूहो का उल्लेख किया है यथा–दण्ड, भोग, मण्डल, अशनिहत, उन्होने कुछ गोमूत्रिका मकर आदि उपविभागो का नाम दिया है।[3] मनु ने भी कहा है कि राजा मार्ग मे भय रहने पर दण्ड व्यूह से या शकटव्यूह से या वराव्यूह से या मकर व्यूह से या सूचीव्यूह से मार्ग मे चलना चाहिए, जिधर से भय की आशका हो उधर राजा सेना का विस्तार कर स्वय 'पद्मव्यूह' से शत्रुदेश मे प्रवेश करे, यदि सेना थोडी हो तो उन्हे थोडी दूर मे सगठित कर तथा अधिक सेना हो तो दूर तक फैलाकर सूचीव्यूह या वज्रव्यूह से मोर्चाबन्दी का युद्ध कराना चाहिए।[4] युद्ध मे किसे नही मारना चाहिए इस विषय पर याज्ञवल्क्य ने कहा है कि 'मैं तुम्हारा ही हूँ' ऐसा कहने वाले नपुसक, शस्त्रहीन, दूसरे के साथ युद्ध मे सलग्न, युद्ध से निवृत और युद्ध देखने के लिए आये हुए व्यक्ति को नही मारना चाहिए।[5] गौतम ने कहा है कि जिन्होने अश्व, सारथि, आयुध खो दिये हों, जो हाथ जोड लिया हो, जो पेड पर चढ गया हो, जो दूत हो, जो गाय या ब्राह्मण हो, इनको छोडकर किसी अन्य को युद्धभूमि मे मारना या घायल करना पाप नही लगता है।[6] मनु के मतानुसार कपटपूर्ण या गुप्त आयुधों के साथ नहीं लडना चाहिए और न विषाक्त या शूलाग्र या जलती हुई नोको वाले आयुधो से लडना चाहिए। जो युद्ध मे लिप्त न हो, जो उच्च भूमि पर चढ गया हो जो नपुसक हो, जिसने प्राण रक्षा के लिए हाथ जोड लिया हो, जो बाल खोले हुए हो, जो युद्ध भूमि पर बैठ गया हो और 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहते हुए शरणागत हो, जो सोया हुआ, कवच से रहित, नगा, शस्त्र से रहित, युद्ध दर्शक, दूसरे से युद्ध मे लडते हुए, टूटे हुए आयुध वाले, दुखित, पुत्र आदि के शोक से आर्त, बहुत घायल, डरे हुए और युद्ध से विमुख, योद्धा को धर्म का स्मरण करता हुआ राजा को नहीं मारना चाहिए।[7]

प्रत्येक क्षत्रिय एव सैनिक का यह कर्त्तव्य था कि वह युद्ध भूमि में लडता हुआ भले ही मर जाय किन्तु उसे भागना नहीं चाहिए। याज्ञवल्क्य के मतानुसार जो अपने देश की रक्षा के लिए बिना विषाक्त वाणों से लड़ता हुआ मारा जाता है वह योगियों के समान मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग को प्राप्त करता है तथा अपनी (हाथी, घोडे, रथ, पैदल आदि) सेना से नष्ट हो जाने पर भी शत्रु की सेना की ओर लडते हुए राजा के प्रत्येक पग यज्ञों के तुल्य

---

[1] का0 18/24
[2] मनु0 7/192
[3] कौ0 10/6
[4] मनु0 7/187–188 एव 191
[5] याज्ञ0 1/326
[6] गौ0ध0सू0 10/17–18
[7] मनु0 7/90–93

होते है अर्थात् जितने पग वह आगे बढता है उतने यज्ञो का फल प्राप्त करता है और वह चोट खाकर भागने वाले के शुभ कर्मों के पुण्य को भी प्राप्त करता है।[1] यही बात मनु ने भी कहा है किन्तु वे केवल क्षत्रियो के लिए नही प्रत्युत सभी प्रकार के एव जातियो के सैनिको के लिए व्यवस्था दी है।[2] इस प्रकार राजा का राजनैतिक उत्थान उसकी विशाल एव सुव्यवस्थित सेना के माध्यम से ही हो सकती है।

## ८. मित्र :

राज्य सस्था के लिए यह आवश्यक है कि अन्य राज्यों के साथ मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया जाये। मित्र राज्य ऐसा होना चाहिए जिसके साथ पितृ पैतामह आदि के समय से मैत्री सम्बन्ध चला आ रहा हो, जो स्थायी हो, जिसमे नियन्त्रण की सत्ता हो, जिसे अपने विरुद्ध न किया जा सके और जो शीघ्रता से बडी सेना देने मे समर्थ हो। मनु ने कहा है कि राजा सोना एव भूमि पाकर उतना शक्तिशाली या समृद्धिशाली नहीं होता जितना कि सच्चे मित्र को पाकर, वर्तमान मे वह मित्र दुर्बल होने पर भी भविष्य मे वह शक्तिशाली हो जायगा। एक दुर्बल मित्र भी श्लाघनीय है यदि वह गुणवान एव कृतज्ञ हो, उसकी प्रजा सन्तुष्ट हो और वह अपने हाथ में लिए हुए कार्य को अन्त तक करने वाला अर्थात् दृढप्रतिज्ञ हो।[3] याज्ञवल्क्य के मतानुसार सुवर्ण भूमि के लाभ से मित्र की प्राप्ति उत्कृष्ट है। अतएव मित्र की प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए और दृढप्रतिज्ञ होकर सत्यता की रक्षा करनी चाहिए।[4] मनु ने कहा है कि भूमि, सोना (हिरण्य) एव मित्र राजा की नीतिया प्रयत्नों के तीन फल हैं।[5] कामन्दक का कथन है कि धर्म, अर्थ एव काम नामक तीन पुरुषार्थों में से किसी एक की प्राप्ति मित्र बनाने का उद्देश्य होता है।[6]

शत्रु एव मित्र के सहज, कृत्रिम एवं प्राकृत तीन प्रकार माने गये हैं। विजिगीषु, अरि, मध्यम एवं उदासीन स्वतन्त्र श्रेणियो के द्योतक हैं। मनु ने भी मण्डल सिद्धान्त के मूल में विजिगीषु, शत्रु, मध्यम एव उदासीन चार प्रकृतियों को रखा है।[7] मनु ने अन्यत्र कहा है कि राजा को चाहिए कि वह अपने साधनों को इस प्रकार व्यवस्थित कर दे कि उसके मित्र, उदासीन एवं शत्रु उसकी हानि न कर सकें या उससे उच्च न हो सकें।[8] कामन्दक, मनु एव विष्णु धर्मोत्तर में कहा गया है कि राजा को अपनी हानि एव लाभ को विचारकर सन्धि, विग्रह,

---

[1] याज्ञ० 1/324–325
[2] मनु० 7/95
[3] मनु० 7/208
[4] याज्ञ० 1/352
[5] मनु० 7/206
[6] का० 4/72
[7] मनु० 7/155–156
[8] मनु० 7/177 एवं 180

यान, आसन, द्वैधीभाव एव सश्रय का सर्वदा विचार करना चाहिए।[1] मनु इन छ गुणो के दो भेद को बतलाया है।[2] कामन्दक ने विग्रह के सोलह प्रकारो का वर्णन किया है यथा – राज्य पर अधिकार कर लेना, स्त्री, जनपद, वाहन (हाथी, घोडा), दूसरे का धन आदि छीन लेना, गर्व करना, उत्पीडित करना आदि। जब कोई राजा यह जान ले कि उसकी सेना का भली भॉति पालन–पोषण हो रहा है उसकी प्रजा सन्तुष्ट है तथा दूसरे राजा की प्रजा एव सेना असन्तुष्ट है, और जब उसे इसका ज्ञान हो जाय कि उसे विग्रह के तीन फल (भूमि, मित्र एव धन) प्राप्त हो रहे है, तो उस (दूसरे राजा) पर आक्रमण कर देना चाहिए।[3]

इस प्रकार राज्य सस्था को एक शरीर मानते हुए इन सात प्रकृतियो को राज्य रूपी शरीर का अग माना गया है। इन सातो गुणो के भली भॉति उदय होने से ही राज्य सम्पदा फलती–फूलती है। राजशास्त्र के प्रणेताओ का मत है कि राज्य मे केवल राजा का ही महत्व नही होता, अपितु उसके सभी अग महत्वपूर्ण होते हैं।

************

[1] काम० 9/16, मनु० 7/160–161, विष्णु धर्मोत्तर 2/145–150
[2] मनु० 7/162–168
[3] काम० 10/2–5

# पंचम अध्याय

# व्यवहार या न्यायपद्धति

# व्यवहार या न्याय पद्धति

## 1. व्यवहार का अर्थ :

प्राचीन काल से ही भारत मे न्याय की प्रधानता रही है। मनुष्य काम, क्रोध, लोभ एव मोह से वशीभूत होकर अपने धर्म का उल्लघन कर अन्य व्यक्तियो को हानि पहुँचाता है। जिससे समाज मे कलह तथा द्वेष भावना की वृद्धि होती है। उसी कलह को रोकने के लिए न्याय व्यवस्था का विधान किया गया था। राजा को न्याय का स्रोत माना जाता था, निष्पक्ष न्याय करना एव अपराधी को दण्ड देना राजा का प्रमुख कार्य था। मनु के मतानुसार लोगो के झगडो को निपटाने की इच्छा से राजा को ब्राह्मणो एव मत्रियो के साथ सभा (न्याय भवन) मे प्रवेश करना चाहिए और प्रतिदिन झगडो के कारणो को तय करना चाहिए।[1] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि जो राजा दण्डनीय व्यक्तियो को शास्त्रानुसार दण्ड देता है और वधयोग्य व्यक्तियो को मारता है उसे वही फल मिलता है जो पवित्र वैदिक यज्ञो से मिलता है। इस प्रकार राजा को प्रतिदिन श्रेष्ठ जन के साथ स्वय व्यवहारो को देखना चाहिए।[2]

व्यवहार शब्द का सूत्रों एव स्मृतियो द्वारा कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। आपस्तम्ब ने इसका लेन–देन के अर्थ में प्रयोग किया है।[3] मनु, विष्णु, वसिष्ठ एव नारद ने झगडा या मुकदमा की ओर सकेत किया है।[4] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि राजा क्रोध और लोभ त्यागकर (नीति के) विद्वान ब्राह्मणों के साथ धर्मशास्त्र के अनुसार व्यवहारो (वादो, मुकदमों) पर विचार करे।[5] गौतम ने कहा है कि व्यवहार किसी विषय को तय करने का साधन है।[6] व्यवहार शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'अव' तथा 'हार' से बना हुआ है जिसमे 'वि' का प्रयोग बहुत के अर्थ मे, 'अव' का 'सन्देह' अर्थ मे तथा 'हार' का 'हटाने' के अर्थ मे प्रयोग हुआ है अर्थात् व्यवहार का अर्थ हुआ बहुत से सन्देहो को हटाना या दूर करना है। झगडे, विवाद या मुकदमे का विषय व्यवहार पद का अर्थ है। याज्ञवल्क्य के मतानुसार यदि धर्मशास्त्र और समय के आचार के विरुद्ध ढग से दूसरो द्वारा पीडित होकर राजा कोई राजा को सूचित करता है तो इसे व्यवहार पद कहते हैं।[7] मनु ने कहा है कि न तो राजा या राजपुरुष विवाद को उत्पन्न करे और दूसरे के लाये हुए विवाद को किसी प्रकार लोभ आदि के कारण न तो दबाना या उपेक्षा करनी चाहिए बल्कि उसका न्याय करना चाहिए।[8] गौतम ने कहा है कि प्रतिवेदन करने वाले को विनम्रतापूर्वक अपने परिवेदन (अभियोग) को न्यायाधिकारी के समक्ष रखना चाहिए।[9] कात्यायन के मतानुसार यदि वादी या प्रतिवादी न्यायालय में आना चाहे तो राजा का अपने प्रभाव

[1] मनु० 8/1–3
[2] याज्ञ० 1/359–360
[3] आप०ध०सू० 2/7/16/17, 1/6/20/11
[4] मनु० 8/1, वि०ध०सू० 3/72, वसि०ध०सू० 16/1, नारद – 1/1,
[5] याज्ञ० 2/1
[6] गौ०ध०सू० 10/19
[7] याज्ञ० 2/5
[8] मनु० 8/43
[9] गौ०ध०सू० 13/27

या लोभ के कारण उनके झगडो को निपटाने के लिए स्वय सन्नद्ध नही होना चाहिए।[1] मनु ने कहा है कि राजा को बहुत से कण्टको (चोरो, साहस कर्म करने वालो अर्थात् आग लगाने वाले या डाका डालने वालो आदि) को दूर करना चाहिए अर्थात् शोधन (दण्डित कर नष्ट) करने से प्रजापालक राजा स्वर्ग को प्राप्त करता है।[2]

कौटिल्य तथा मनु ने अनेक अपराधो का वर्णन किया है मनु ने कहा है कि अपने से श्रेष्ठ जाति वाले पुरुष के साथ सम्भोग करती हुई कन्या को राजा थोडा भी दण्डित न करे किन्तु अपने से हीन जाति वाले पुरुष का सेवन करती हुई कन्या को यत्नपूर्वक घर मे रोके रखना चाहिए। इसी प्रकार हीन जाति वाला पुरुष अपने से श्रेष्ठ जाति वाली कन्या के साथ सम्भोग करे तो वह वध के योग्य है तथा समान जातिवाली कन्या के साथ व्यभिचार करे और उस कन्या का पिता उस कर्म को स्वीकार करे तो उसे उचित मात्रा में धन देना चाहिए। धोबी किसी के कपडे को दूसरे के कपडों मे न तो मिलाये और न ही पहनने को दे ऐसा करना दण्डनीय होता है। जुलाहा को दसपल सूत के बदले ग्यारहपल कपड़ा देना चाहिए इससे कम देने पर वारहपण दण्ड लिया जाय। इसके साथ ही जुआ खेलने या खिलाने वाले, नाच गाने वाले, वेदशास्त्र के विरोधी, आपत्ति न होने पर दूसरों की जीविका करने वाले, मद्य बनाने वाले, गुप्त चौर कर्म करने वाले, राजाधिकारी पुरुष द्वारा घूस लेने, धन की घमण्ड से कार्य को नष्ट करने वाले, कपटपूर्ण राजाज्ञा लिखने वाले, मन्त्री, सेनापति तथा राज परिजनों को अपने पक्ष मे करने वाले, स्त्री, बालक और ब्राह्मण की हत्या करने वाले आदि राजा द्वारा दण्डनीय होते हैं।[3] नारद के मतानुसार राजा की आज्ञा का उल्लघन, स्त्रीवध, वर्णसकर, परस्त्रीगमन, चौर्य, बिना पति के गर्भधारण, मानहानि, अश्लीलता, दण्डपारुष्य, एव गर्भपात ये दस अपराध हैं।[4]

राजा निर्णय किस प्रकार करता था इस विषय मे गौतम एव मनु ने कहा है कि यदि कोई चोर ब्राह्मण के घर सोने की चोरी करे तो उसे हाथ में लोहे का दण्ड या खैर की लाठी लेकर वाल बिखेरे हुए दौडकर राजा के पास पहुँचकर अपना पाप स्वीकार करता है और राजा से दण्ड मागता है तो राजा को ऐसी स्थिति में दण्ड या लाठी से अपराधी को मारना चाहिए। अपराधी उस चोट से मर जाय या जीवित रहे, वह पाप से मुक्त हो जाता है।[5] मनु तथा याज्ञवल्क्य के मतानुसार किसी कार्यवश या अस्वस्थता आदि व्यवहार न दे सकने पर राजा को सभासदों के साथ धर्मों को जानने वाला ब्राह्मण को इस कार्य के लिए नियुक्त करना चाहिए।[6] आपस्तम्ब के अनुसार न्यायाधीशों में विद्या, कुलीन वंशोत्पत्ति, वृद्धावस्था, चातुर्य तथा धर्म के प्रति सावधानी होनी चाहिए।[7] मनु ने अन्यत्र कहा है कि व्यवहार के पद पर भले ही अविद्वान ब्राह्मण नियुक्त हो

---

[1] कात्यायन – 27
[2] मनु० 9/252–253
[3] मनु० 8/365–368, 396–397, 9/225–226, 231–232
[4] नारद (स्मृति चन्द्रिका) 2 पृ० 28
[5] गौ०ध०सू० 12/40–42, मनु० 8/314–316
[6] याज्ञ० 2/3, मनु० 8/9–10
[7] आप०ध०सू० 2/11/29–5

जाय, किन्तु शूद्रधर्माध्यक्ष कभी न होने पाये, यदि कोई राजा शूद्र को नियुक्त करेगा तो उसका राज्य उसी प्रकार नष्ट हो जायेगा, जिस प्रकार कीचड मे गाय फॅस जाती है।[1] वृहस्पति एव मनु का कहना है जब किसी सभा मे मुख्य न्यायाधीश के साथ वेद मे पारगत तीन ब्राह्मण बैठते है तो वह ब्रह्मा की सभा या यज्ञ के समान होती है।[2] सभ्य के गुण शील के विषय मे याज्ञवल्क्य, विष्णु, कात्यायन एव नारद के अनुसार उसे वेदज्ञ होना, धर्मशास्त्र मे पारगत होना, सत्यवादी होना, मित्रामित्र के प्रति पक्षपात रहित होना, स्थिर होना, कार्यदक्ष होना, कर्तव्यशील होना, बुद्धिमान होना, वशपरम्परा से चला आना, अर्थशास्त्र मे पारगत होना आदि है।[3] कात्यायन का मत है कि मुख्य न्यायाधीश तथा सभ्य लोग मुकदमा चलते समय मुकदमे बाजो से किसी प्रकार की बातचीत नहीं करना चाहिए। ऐसा करने पर वे दण्ड के भागी होते है।[4]

प्राचीन भारत में न्यायालय भली–भॉति व्यवस्थित थे, और न्याय करते हुए उनमे निश्चित कार्यविधि का अनुसरण किया जाता था। सुनिश्चित कानूनो और उसका उल्लघन करने पर सुनिर्धारित दण्ड व्यवस्था की गयी थी। मनु ने ऋणदान, निक्षेप, अस्वामि विक्रय, सम्भूयसमुत्थानम्, दत्तस्यानपाकर्म वेतन का न देना, सविदा का व्यतिक्रम, क्रय–विक्रयानुशय, स्वामी और भृत्य के विवाद, सीमा विवाद, दण्डपारुस्तम्, स्तेय, साहसम्, स्त्री पुरुष सम्बन्ध, दायभाग, पारुष्यम एव धूत ये अभियोग के अठारह वर्ग बताये हैं।

## 2. भुक्ति (भोग):

भुक्ति या भोग के (समय निर्धारण एव स्वामित्य प्राप्ति से सम्बन्धित अन्य बातों) के विषय में प्राचीन काल से स्मृतिकारो मे बडा मतभेद रहा है। गौतम ने कहा है कि पैतृक रिक्थ प्राप्ति, क्रय, विभाजन, आत्मसात्करण तथा उपलब्धि (स्वामी के ज्ञात न रहने पर छूटी हुई सम्पत्ति पर स्वाधिकार या उसका आत्मसात्करण) स्वामित्व के प्रकार हैं।[5] भुक्ति सागमा (साधिकार) या अनागमा दो प्रकार की होती है मनु ने कहा है कि जिस किसी वस्तु का उपभोग देखा गया हो और उसके मिलने का साधन नहीं देखा जाय अर्थात् वह वस्तु खरीदने से या दानादि से प्राप्त हुई है ऐसा प्रमाण न दिखायी दे तो उस वस्तु के आने के कारण को मुख्य मानकर उपभोग नहीं करना चाहिए।[6] याज्ञवल्क्य का मत है कि तीन पीढी से चले आते हुए भोग (कब्जे) की अपेक्षा आगम (लेख) अधिक प्रमाणिक होता है किन्तु जहाँ थोडा भी भोग नहीं होता वहाँ आगम में कोई दम नहीं होता है।[7] नारद के मतानुसार जो व्यक्ति बिना आगम के केवल भोग सिद्ध करता है उसे चोर कहना चाहिए, क्योंकि वह भोग सम्बन्धी त्रुटिपूर्ण तर्क देता है। राजा को चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति को चोर

---

[1] मनु0 8/20
[2] मनु0 8/11
[3] याज्ञ0 2/2, वि0ध0सू0 3/74, कात्या0 57, नारद 3/4–6
[4] कात्या0 70
[5] गौ0ध0सू0 10/39
[6] मनु0 8/200
[7] याज्ञ0 2/27

का दण्ड दे जो बिना आगम के सौ वर्षों तक भोग करता है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि भोग करने वाले व्यक्ति को उसकी वैधानिकता सिद्ध करनी चाहिए, उसे यह बताना आवश्यक होता है कि भोग का उद्गम उसके वश मे त्रुटिपूर्ण ढग से नही हुआ। दीर्घकालीन भोग के विषय बडा मतभेद प्रकट होता है याज्ञवल्क्य के मतानुसार भूमि की हानि बीस वर्षों मे हो जाती है, यदि उस पर उसके स्वामी की ऑखो के समक्ष बिना उसके किसी प्रकार के विरोध के किसी अन्य व्यक्ति का भोग स्थापित हो, और चल सम्पत्ति की हानि (उन्ही दशाओ में) दस वर्ष मे हो जाती है।[2] मनु एव नारद ने कहा है कि किसी वस्तु का स्वामी यदि किसी प्रकार का विरोध न उपस्थित करे और कोई वस्तु का भोग करता रहे एव यह दस वर्षों तक चलता रहे तो उसका स्वामित्व समाप्त हो जाता है। यदि स्वामी मूर्ख नही है और न नाबालिग है और उसकी सम्पत्ति पर उसकी दृष्टि के समक्ष किसी अन्य व्यक्ति का भोग है तो अन्त मे वह भोग वाले की हो जाती है।[3] गौतम एव याज्ञवल्क्य का मत है कि श्रोत्रिय, सन्यासी या राजकर्मचारी, स्त्रीधन, बालक का धन, बन्धक, उपनिक्षेप, मन्दबुद्धि द्वारा भोगी गयी सम्पत्ति देने वाले स्वामी से हीन नही होती है।[4]

इस प्रकार वस्तुओं के स्वामित्व तथा उसे कितने वर्षों तक रखा जाय, के विषय मे स्मृतिकारो का मत प्राप्त होता है।

## 3. साक्षीगण :

न्यायालय मे किसी भी प्रकार के तथ्यों को स्पष्ट करनें के लिए साक्ष्यों एव साक्षीगण की आवश्यकता होती थी। गौतम, कौटिल्य एव नारद ने कहा है कि जब दो व्यक्ति विवाद करते हैं और जब सन्देह या कोई विरोध उपस्थित होता है तब सत्य का उद्घाटन करने के लिए साक्षियों की आवश्यकता होती है।[5] मनु, नारद, विष्णु के मतानुसार साक्ष्य वही उचित है जो ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया जाय जिसने या तो देखा हो, या सुना हो, या विवाद या मामले में अनुभव प्राप्त किया हो।[6] किन्तु मनु एव विष्णु ने इसका अपवाद भी किया है कि यदि नियुक्त साक्षी मर जाय या विदेश चला जाय तो उसने जो कुछ कहा हो उसे सुननेवाला साक्ष्य दे सकता है।[7] साक्ष्य के लिए कितने साक्षी की आवश्यकता होती है इस विषय पर गौतम, मनु, नारद एव याज्ञवल्क्य का विचार है कि साधारणत. किसी मुकदमें मे कम से कम तीन साक्षी होना चाहिए।[8]

साक्षीगण की विशेषताओ के बारे में गौतम, मनु, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ का मत है कि वह कुलीन, वशपरम्परा से देशवासी होना, सन्तानयुक्त, गृहस्थ, धनवान्, चरित्रवान्, विश्वासपात्र, धर्मज्ञ, लोभहीन, तथा

---

[1] नारद – 4/84–86
[2] याज्ञ0 2/24
[3] मनु0 8/147–148, नारद 4/79–80
[4] गौ0ध0सू0 12/35, याज्ञ0 2/25
[5] गौ0ध0सू0 13/1, कौ0 3/11, नारद – 4/147
[6] मनु0 8/74, नारद – 4/148, वि0ध0सू0 8/13
[7] मनु0 8/76, वि0ध0सू0 8/12
[8] गौ0ध0सू0 13/2, मनु0 8/60, नारद 4/153, याज्ञ0 2/69

दोनो दलो द्वारा स्वीकार किया जाने वाला होना चाहिए।[1] मनु तथा वसिष्ठ ने यह व्यवस्था दी है कि स्त्रियो के विवाद मे स्त्रियो को, द्विजो के व्यवहार मे द्विजो को, शूद्रो के मुकदमे मे शूद्रो को तथा चाण्डालो के व्यवहार मे चाण्डालो को साक्षी बनाया जाना चाहिए।[2] गौतम ने कहा है कि खेतिहरो, व्यापारियो, चरवाहो, महाजनो, शिल्पकारो (बढईयो एव धोबियों) के वर्गों के सदस्यो के बीच विवादो मे उसी वृत्ति वाले सदस्य साक्षी होते एव मध्यस्थता का कार्य कर सकते है।[3]

साक्ष्य के लिए कौन–कौन अयोग्य होता था इस विषय मे मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, एव विष्णु का कहना है कि ऋणादि को देने या लेने वाले, मित्र, सहायक (नौकर आदि), शत्रु, जिसने दूसरे किसी बात मे झूठी गवाही दी हो, रोग पीडित, महापातक, राजा, कारीगर, नट–भाट आदि, वैदिक, ब्रह्मचारी, सन्यासी, गर्भदास या क्रीत दास, लोकनिन्दित, चोर, क्रूर कर्म करने वाला, बूढा, बालक, अकेला, चाण्डाल, विकलेन्द्रिय, वान्ध्वादि विनाश के कारण दुखी, मत्त, पागल, भूख–प्यास से पीडित, थका, कामी, क्रोधी, चोर, मित्र धन देने वाला, पतित, जुआरी, कसाई, इनको साक्षी नही बनाना चाहिए।[4]

जब बहुत से साक्षी हों और उनके कथनो मे अन्तर पाया जाय ऐसी दशा मे मनु, विष्णु एव याज्ञवल्क्य ने कहा है कि इसमें बहुमत स्वीकार कर लिया जाता था, यदि आधे लोग एक मत के पक्ष मे और आधे दूसरे मत के पक्ष मे हो तो उन लोगो के मत जो अधिक चरित्रवान एव तटस्थ रहते थे ग्रहण कर लिये जाते थे, किन्तु यदि ऐसे लोगो मे भी अन्तर पडता था तो सर्वोच्च लोगो का मत ग्राह्य माना जाता था।[5] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि यदि साक्षी होना स्वीकार करके अन्य साक्षियो के साथ शपथ दिलाये जाने पर साक्षी होने से विरत होता है तो उसे हारे हुए दल द्वारा दिये जाने वाले धन का आठ गुना दण्ड रूप में देना पडता है और यदि वह ब्राह्मण हो तो उसे राज्य से निर्वासित कर देना चाहिए।[6] मनु एव याज्ञवल्क्य ने यह भी कहा है कि यदि कोई जानकर साक्षी गवाही नहीं करता (मौन रह जाता है) और वह किसी रोग से पीडित या विपत्तिग्रस्त नहीं है तो उसे विवाद का धन दण्ड रूप तथा उसका दशमांस राजा को देना पडता है।[7] गौतम वसिष्ठ, मनु एव याज्ञवल्क्य के मतानुसार यदि सत्य बोलने से चारों वर्णों का कोई व्यक्ति मृत्यु दण्ड प्राप्त करता है तो साक्षी असत्य बोल सकता है। किन्तु मनु एव याज्ञवल्क्य ने इतना और कहा है कि इस असत्यभाषण पर उच्च वर्णो के लोगों को प्रायश्चित्त स्वरूप सरस्वतीदेवी के लिए चरु बनाकर चढाना चाहिए।[8]

---

[1] गौ०ध०सू० 13/2, मनु० 8/62–63, वसि०ध०सू० 16/28, याज्ञ० 2/68
[2] मनु० 8/68, वसि०ध०सू० 16/30
[3] गौ०ध०सू० 9/21
[4] मनु० 8/64–67, याज्ञ० 2/70–71, नारद – 4/177–178, वि०ध०सू० 8/1–4
[5] मनु० 8/73, वि०ध०सू० 8/39, याज्ञ० 2/78
[6] याज्ञ० 2/82
[7] मनु० 8/107, याज्ञ० 2/76
[8] गौ०ध०सू० 13/24–25, वसि०ध०सू० 16/36, मनु० 8/104–106, याज्ञ० 2/83

## 4. दिव्य :

जब मनुष्य प्रमाण द्वारा विवाद सिद्ध नही होता था तब निर्णय तक पहुँचने के लिए दिव्य की सहायता ली जाती थी। मनु ने केवल दो दिव्य हाथ से अग्नि उठाना तथा जल मे कूदना को स्वीकार किया है।[1] विष्णु, याज्ञवल्क्य एव नारद ने तुला, अग्नि, जल, विष एव कोश (पवित्र किया हुआ जल) ये पॉच प्रकार बताये है।[2] किसके लिए किस दिव्य का प्रयोग किया जाता है इसका स्पष्ट उल्लेख याज्ञवल्क्य ने किया है स्त्री, बालक, वृद्ध, अन्ध, पगु, ब्राह्मण एव रोगी के लिए तुला, क्षत्रिय के लिए अग्नि का, वैश्य के लिए जल का, और शूद्र के लिए सात यव के बराबर विष का दिव्य होता है।[3] याज्ञवल्क्य एव नारद का कथन है कि सभी प्रकार के दिव्य मुख्य न्यायाधीश के समक्ष सूर्योदय के समय या अपराह्न मे राजा, सभ्यो एव ब्राह्मणो के समक्ष कार्यान्वित होते थे।[4]

कात्यायन का मत है कि जब अस्पृश्यहीन जाति के लोग, दास, म्लेच्छ एव प्रतिलोम प्रसूत लोग अपराधी हो, उनके अपराधो का निर्णय राजा को नहीं करना चाहिए, राजा को चाहिए कि वह प्रचलित द्विव्यो की ओर निर्देश कर दें।[5] इस प्रकार ये दिव्य व्यवहारो के निर्णय के लिए अन्तिम अस्त्र के रूप मे थे।

## 5. सिद्धि (निर्णय) :

यदि किसी विवाद मे साक्षी, भोग, लेख प्रमाण न हो और दिव्य से निर्णय न हो सके, तो राजा की आज्ञा ही निर्णय का रूप धारण करती है, क्योंकि वह सबका स्वामी होता है। मनु ने कहा है कि यदि प्रतिवादी न्यायालय मे पॉच प्रतिशत दण्ड देने की बात स्वीकार करता है, जिसे उसे राजा को देना है बाद में इन्कार किया जाता है और यह बात सिद्ध हो जाती है तो उसे दूना दण्ड देना पडता है।[6] याज्ञवल्क्य एव नारद ने कहा है कि यदि दोनों दलों ने शर्त लगायी हो कि यदि हार जायेगे तो इतना धन देंगे, तब हारने पर उन्हे उतना धन दण्ड के साथ राजा को देना पडता था और विवाद का धन सफल पक्ष को मिलता था।[7] मनु ने अन्यत्र कहा है कि न्यायाधिकारीगण घूस लेकर विवादियो को हरा दे तो राजा द्वारा उनकी सारी सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिए, और यदि अमात्य लोग या मुख्य न्यायाधीश किसी विवाद का निर्णय ठीक से न करे (किन्तु घूस न लें) तो राजा को चाहिए कि वह विवाद को फिर से देखें और ठीक निर्णय देकर उन अमात्यो का मुख्य न्यायाधीश पर एक हजार पण का दण्ड लगायें।[8] याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी है कि यदि पक्षपात, लोभ या भय से सभ्यों ने निर्णय किया हो तो विवाद का राजा द्वारा पुनरावलोकन होना चाहिए और

---

[1] मनु0 8/114
[2] वि0ध0सू0 9/14, याज्ञ0 2/95, नारद 4/252
[3] याज्ञ0 2/98
[4] याज्ञ0 2/97, नारद 4/268 एवं 320
[5] का0 433
[6] मनु0 8/139
[7] याज्ञ0 2/18, नारद 2/5
[8] मनु0 9/231

जाने वाले को दस प्रतिशत, समुद्र यात्रा करने वाले से बीस प्रतिशत, अन्य सभी जातियो के लिए जो जितनी वृद्धि देना स्वीकार करे उतने पर देना चाहिए।[1]

## 7. अस्वामिविक्रय :

गुप्त रूप से बिक्री करना अस्वामिविक्रय कही जाती है इस प्रकार की बिक्री करने वाला व्यक्ति अधिकारी विक्रेता नही कहा जाता है। मनु ने कहा है कि स्वामी नही होने पर जो किया जाय या दिया जाय या बेचा जाय, उसे किया हुआ, दिया हुआ या बेचा हुआ नही माना जाता है क्योकि व्यवहार मे जैसी मर्यादा है, वैसा नही किया गया है।[2] याज्ञवल्क्य, नारद, विष्णु एव मनु के मतानुसार अस्वामी द्वारा विक्रय की हुई वस्तु पर स्वामी का अधिकार हो सकता है। यदि खरीद करने वाला व्यक्ति अस्वामी का माल चोरी से खरीदता है तो वह दण्ड का भागी होता है, यदि वह ऐसे लोगो से खरीद करता है जिनके पास समान बेचने के साधन न हो (यथा– नौकर से, जो बिना स्वामी की आज्ञा से बेचता है) या बहुत कम दाम मे खरीदता है या अर्धरात्रि में या ऐसे समय खरीद करता है जब कि लोग ऐसा नहीं करते, या दुश्चरित्र लोगो से खरीद करता है तो उसे चोरी के दण्ड का भागी होना पडता है।[3] मनु एव याज्ञवल्क्य ने आगे कहा है कि यदि क्रेता द्वारा विक्रेता पर व्यवहार होने लगता है और जब उसके विपक्ष मे होता है तो उसे क्रेता को वस्तु का मूल्य, राजा को अर्थ दण्ड तथा वस्तु के स्वामी को उसकी वस्तु लौटानी पडती है।[4]

## 8. सम्भूय–समुत्थान या साझेदारी :

जब अनेक व्यापारी अथवा अन्य लोग (अभिनेता, सगीतज्ञ या शिल्पकार) परस्पर मिलकर कोई व्यापार करते है तो वह कार्य या व्यवसाय सहकारिता, सम्भूय समुत्थान कही जाती है। बृहस्पति ने कहा है कि अन्य लोगो द्वारा अधिकृत होने पर एक साझेदार जो कुछ सम्पत्ति बेचता है या परिवर्तित करता है या जो कुछ प्रमाण या लेख पत्र लेन–देन के रूप मे कार्यान्वित करता है वह सभी साझेदारों द्वारा किया हुआ माना जाता है, किसी सदिग्ध परिस्थिति में स्वय साझेदार ही आपस में निर्णय करते हैं और धोखाधडी या कपटाचरण में निपटारा करते हैं।[5] जब यह सन्देह उत्पन्न होता है कि किसी ने पञ्‌जना या कपटाचरण किया है तो उसे किसी विशिष्ट शपथ या दिव्य की शरण लेनी पड़ती है। याज्ञवल्क्य एव नारद ने कहा है कि एक साथ मिलकर व्यापार करने वालों में जो व्यक्ति निषिद्ध विक्रय से, न कहा हुआ कार्य करके अथवा प्रमादवश कोई वस्तु नष्ट कर दे तो वह उस वस्तु को दे या हानि को पूरा करे। उनमें जो पण्य को राजा

---

[1] याज्ञ० 2/37–38
[2] मनु० 8/199
[3] याज्ञ० 2/168, नारद 7/2, वि०ध०सू० 5/166, मनु० 8/202
[4] मनु० 8/301 याज्ञ० 2/170
[5] बृहस्पति, व्यवहारमयूख पृ० 200

और चोर के उत्पात से सुरक्षित रखता है उसे दशवा अश प्राप्त होता है।[1] मनु ने भी पुरोहित के बारे मे स्पष्ट रूप से कहा है कि यदि वरण किया हुआ ऋत्विक् काम नही कराता तो पूरा कराने वालो को उसका भाग देना पडता था।[2]

## 9. दत्तानपाकर्म :

जब कोई व्यक्ति कुछ देने के उपरान्त उसे पुन लौटा देना चाहता है, क्योकि उसने ऐसा करके नियम का अतिक्रमण किया था (अर्थात् वह कार्य न्यायानुकूल न होने के कारण अनुचित था) तो उसे दत्तानपाकर्म कहा जाता है। नारद के अनुसार अन्वाहित, धरोहर, याचितक, विक्षेप, साझे की सम्पत्ति, पुत्र एव स्त्री, सन्तान वालो की सम्पूर्ण सम्पत्ति तथा प्रतिश्रुत वस्तु का दान नहीं किया जा सकता है।[3] याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि दान इतना ही देना चाहिए जिससे अपने कुटुम्ब के भरण–पोषण मे कठिनाई न हो। पुत्र और स्त्री का दान नही करना चाहिए। यदि पुत्र और पौत्र हो, तो सब कुछ का दान नही करना चाहिए।[4] मनु, वसिष्ठ एव विष्णु ने कहा कि मनुष्य को स्त्री, सन्तान, आचरण, कुल, आत्मा और धर्म की रक्षा करनी चाहिए इनका दान नहीं करना चाहिए।[5] यदि दान का पात्र अधार्मिक हो तो दाता के द्वारा दान नहीं दिया जा सकता है उसके उत्तराधिकारी को भी ऐसा नहीं करना चाहिए।

## 10. वेतनस्यानपाकर्म :

भृत्यो एव नौकरो को काम के बदले पारिश्रमिक देना ही वेतनस्यानपाकर्म कहा जाता है। यह पारिश्रमिक कार्य करने के आरम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे दिया जा सकता है। नारद एव याज्ञवल्क्य ने कहा है कि व्यापारी से प्रतिनिधि को लाभ का, ग्वाला को दूध का, कर्षक को अन्न का दशाश मिलना चाहिए।[6] याज्ञवल्क्य ने यह भी कहा है कि जो भृत्य (व्यापार योग्य) स्थान और समय का उल्लघन करके लाभ के स्थान पर हानि कराता है तो उसका वेतन स्वामी की इच्छानुसार होता है किन्तु यदि वह अधिक लाभ कराता है तो उसे वेतन मे अधिक धन देना चाहिए।[7] कात्यायन, याज्ञवल्क्य, नारद, विष्णु के मतानुसार यदि ढोनेवाले की असावधानी के कारण (दैव उत्पात के बिना) सामान नष्ट हो जाय तो उससे भाण्ड दिलवाना चाहिए।[8]

---

[1] याज्ञ0 2/260, नारद 6/5
[2] मनु0 8/206
[3] नारद 7/3–5
[4] याज्ञ0 2/175
[5] मनु0 9/7, वसि0ध0सू0 8/10, वि0ध0सू0 59/8
[6] नारद – 9/3, याज्ञ0 2/194
[7] याज्ञ0 2/195
[8] का0 65/9, याज्ञ0 2/197, नारद 9/9, वि0ध0सू0 5/155–156

## 11. अभ्युपेत्याशुश्रूषा :

सेवा करने का करार कर लेने के बाद वैसा न करने को अभ्युपेत्याशुश्रूषा कहते है। आपस्तम्ब एव गौतम ने खेती के सेवक तथा पशुपालक दो प्रकार के सेवको को बताया है।[1] नारद ने कहा है कि वैदिक शिष्यो के कर्त्तव्य गुरु, गुरु पत्नी, गुरु–पुत्र की सेवा करना, भिक्षाटन करना, भूमि पर सोना, गुरु की आज्ञा पालन करना, वेदाध्ययन, विद्याध्ययनोपरान्त गुरु दक्षिणा देना था।[2] अन्तेवासी शिष्यो के बारे मे याज्ञवल्क्य ने कहा है कि निवास की अवधि निश्चित करके गुरु के घर रहने वाला ब्रह्मचारी उसके पूर्व विद्या समाप्त कर लेने पर भी अपनी जीविका का शिल्प सीखकर उसका फल गुरु को देते हुए और गुरु द्वारा दिया गया भोजन ग्रहण करता हुआ गुरु के समीप निवास करना चाहिए।[3] मनु एव याज्ञवल्क्य ने कहा है कि पशुपालक द्वारा किसी के खेत की हानि हो जाय तो उसका उत्तरदायित्व स्वामी पर होता है और उसे दण्ड देना पडता है।[4]

## 12. स्वामि–पाल विवाद :

पशुओ एव कृषि के स्वामी एव उनके रक्षक नौकरो के बीच के झगडे को स्वामि–पाल विवाद कहते हैं। याज्ञवल्क्य एव नारद ने कहा है कि पशुपाल को प्रातकाल प्राप्त पशुओ को चराकर तथा उन्हें पानी पिलाकर सायकाल लौटा देना चाहिए।[5] मनु के मतानुसार पशुओं की सुरक्षा का उत्तरदायित्व दिन में पशुपालको पर तथा रात्रि मे स्वामी पर रहता है। अन्यथा (स्वामी के घर मे पशु रखवालों द्वारा नहीं सौंपे गये हो अर्थात् रखवालो के जिम्मे ही रात मे वे पशु हो तब) उनके योगक्षेम की निन्दा रखवालो की ही होती है। जो गोरक्षक गायो के स्वामी से वेतन के स्थान मे धन नही लेकर दूध लेता हो वह दश गायों मे एक अच्छी गाय को चुनकर वेतन के बदले उसी का दूध ले सकता है।[6] मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु एव आपस्तम्ब ने कहा है कि यदि कोई रखवाला, कोई पशु भूल जाता है पशु को कृमि तथा कुत्ता काटता है, उँचे–नीचे स्थान पर गिरने या फॅसने से मर जाने या उपेक्षा से मर जाने या भाग जाने पर पशु का देनदार रखवाला ही होता है।[7] मनु ने यह भी कहा है कि बच्चा देने के दस दिनों के भीतर की गायों, बैल, देवों के उद्देश्य से छोडा गया पशु किसी का खेत चर जाय तो रखवाला दण्डनीय नहीं होता है।[8]

---

[1] आप०ध०सू० 2/2/28/2–3, गौ०ध०सू० 12/16–17,
[2] नारद 8/8–15
[3] याज्ञ० 2/184
[4] मनु० 8/243, याज्ञ० 2/161
[5] याज्ञ० 2/164, नारद – 9/11
[6] मनु० 8/230–231
[7] मनु० 8/232, याज्ञ० 2/164–165, वि०ध०सू० 5/137–138, आप० 2/2/28/8
[8] मनु० 8/242

## 13. सीमा विवाद :

सीमा विवाद मे सेतु या बॉध, खेतो की सीमा, उर्वर एव अनुर्वर खेत के झगडे सम्मिलित हैं। मनु ने कहा है कि बड, पीपल, पलाश, सेमल, साल, ताड, दूधवाले पेड, गुल्म, अनेक प्रकार के बॉस, शमी, लता, मजू को राजा को सीमा पर लगवाने चाहिए। नदियो के प्रवाहो, तडाग, कुएँ, बावडी, और देवो के मन्दिरो को दो सीमाओ के सन्धि स्थल राजा को बनवाना चाहिए।[1] मनु ने अन्यत्र कहा है कि दो गावो मे सीमा का विवाद होने पर ज्येष्ठ मास मे सीमा के चिन्हो को स्पष्ट हो जाने पर राजा को निर्णय करना चाहिए।[2] मनु, याज्ञवल्क्य, नारद एव कात्यायन ने कहा है कि भूमियो, कूपो, जलाशयो, कुजो, वाटिकाओ, महलो, गृहो, कुटीरो, मन्दिरो एव जल की निकासी के लिए नालियो की सीमाओ के विवादो की साक्षियो से तय करना चाहिए।[3] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि दो या अधिक खेतों के सीमा व्यतिक्रम, अपने खेत की सीमा से आगे बढकर जोतने तथा अन्य को अपना खेत जोतने से मना करने वाले को क्रम से सामान्य, उत्तम तथा मध्यम दण्ड की सजा होती है। यदि थोडी भूमि के लगने से बहुत कल्याण देने वाला सेतु दूसरे के भूमि मे बनाने पर भी भूमि के स्वामी को उसे बनने देना चाहिए।[4]

## 14. वाक्पारुष्य :

नारद ने वाक्यपारुष्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जो किसी देश, जाति, कुल आदि के विषय मे उच्च घोष द्वारा गाली के रूप मे कहा जाय और जिससे कहे जाने वाले व्यक्ति को मानसिक कष्ट मिले और उसे अपराध सा लगे।[5] मनु ने कहा है कि ब्राह्मण को गाली देने पर गाली देने वाले क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र को क्रम से सौ, डेढ सौ एव दो सौ पण का दण्ड लगता है। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र को गाली देने पर अपराधी ब्राह्मण को क्रम से पचास, पचीस एव बारह पण का दण्ड लगता है। समाज जातीय को गाली देने पर मामूली अपराध के लिए बारह पण का दण्ड तथा मॉ–बहिन को गाली देने पर इसका दूना दण्ड लगाया गया है।[6] याज्ञवल्क्य के मतानुसार मॉ, बहन को गाली देने पर पच्चीस पण का दण्ड, हीन वर्ण की स्त्रियो को गाली देने पर पच्चीस का आधा, एव उत्तम वर्ण की स्त्री के लिए कहने पर दूना दण्ड देना चाहिए।[7]

---

[1] मनु0 8/246–248
[2] मनु0 8/245
[3] मनु0 8/262, याज्ञ0 2/154, नारद – 14/12, का0 749
[4] याज्ञ0 2/155–156
[5] नारद – 18/1
[6] मनु0 8/267–269
[7] याज्ञ0 2/205–206

## 15. दण्डपारुष्य :

इसके अन्तर्गत स्पर्श करने, धमकी देने या वास्तविक रूप से आहत करने को सम्मिलित किया गया है। नारद के मतानुसार हाथ, पैर, हथियार या किसी अन्य वस्तु से शरीरागो पर घाव करने या राख आदि से गन्दा कर देने या एक दूसरे को पीडा देने को इसके अन्तर्गत रखा है।[1] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि ब्राह्मण को पीडित करने वाला अब्राह्मण हो तो उस अग जिससे उसने पीडित किया है काट डालना चाहिए मारने के लिए शस्त्र उठाने पर प्रथम साहस का दण्ड होता है। पैर, केश, वस्त्र और हाथ पकडकर खींचने मे दशपण का दण्ड होता है। और जो वस्त्र मे बॉधकर पैर से मारता है उसे सौ पण का दण्ड देना चाहिए। हाथ, पैर और दॉत तोडने पर, कान और नाक काटने पर, फोडा कुचल देने पर तथा मारते–मारते अधमरा कर देने पर मध्यम साहस का दण्ड होता है। बकरी, भेंड, हरिण जैसे क्षुद्र पशुओ को मारकर रुधिर निकालने और सींग को काटने पर क्रमश दो, चार, छ और आठ पण दण्ड लिया जाता है।[2] गौतम, कौटिल्य एव मनु ने कहा है कि यदि शूद्र किसी अग (हाथ आदि) से द्विजाति को मारता है तो राजा को उसके उसी अग को कटवा लेना चाहिए।[3]

## 16. स्तेय प्रकरण :

कात्यायन एव दायभाग मे कहा गया है जो परद्रव्य–हरण, प्रच्छन्न होता है या प्रकाश में होता है या रात्रि या दिन मे होता है उसे स्तेय कहते हैं।[4] याज्ञवल्क्य के मतानुसार दूसरों को बन्दी बना लेने, अश्वों एव हाथियो की चोरी तथा हिसावृत्ति से दूसरे पर आक्रमण करने पर शूली पर चढा देना चाहिए।[5] मनु ने कहा है कि श्रेष्ठ कुल के मनुष्य स्त्रियों एव मुख्य रत्न की चोरी करने पर वध के योग्य होता है। राजा के भण्डार में एव शस्त्रागार, देवमन्दिर मे चोरी करने या घोडा, हाथी एव रथ चोरी करने पर मृत्यु दण्ड देना चाहिए।[6] याज्ञवल्क्य, मनु, विष्णु के मतानुसार जेबकतरों (ग्रन्थिभेदको) के प्रथम अपराध पर अगूठा एव तर्जनी काट लेना चाहिए, दूसरे अपराध पर हाथ–पैर काटने तथा तीसरे अपराध पर मृत्यु दण्ड देना चाहिए। चोर से चोरी की वस्तु दिलाकर दण्डित करे। ब्राह्मण के चोरी करने पर ललाट पर चिन्ह अकित कर निर्वासित कर देना चाहिए ।[7] मनु के मतानुसार रात्रि में सेंध लगाने पर चोर का हाथ काटकर शूली पर चढ़ा देना चाहिए ।[8] गौतम, याज्ञवल्क्य, कात्यायन के मतानुसार जो लोग जानबूझ कर चोरों को भोजन, निवासस्थान, अग्नि, पीने के जल, साधन, चोरी के साधन भूत उपकरण, चोरी के लिए कहीं जाते समय, मार्ग व्यय, चोरी की वस्तु का

---

[1] नारद – 18/4
[2] याज्ञ0 2/215, 217, 219, 225
[3] गौ0ध0सू0 12/1, कौ0 3/19, मनु0 8/279
[4] का0 8/10, दाय भाग – 6/9
[5] याज्ञ0 2/273
[6] मनु0 8/323, 9/280
[7] याज्ञ0 2/274, 270, मनु0 9/277, 8/320, वि0ध0सू0 6/136, 5/89
[8] मनु0 9/276

क्रय, ग्रहण या छिपाते है उन्हे चोरो के समान ही दण्ड मिलता है ।[1] कुछ विषयो मे बिना आज्ञा लिए वस्तुओ का उपयोग अपराध नही माना जाता है । गौतम, मनु एव याज्ञवल्क्य ने कहा है कि तीन उच्च जातियो के लिए पुष्प आदि ले लेने पर तथा आरक्षित फल तोडने पर अपराधी नही होता है और ऐसा करने पर न तो दण्ड मिलता है और न पाप ही लगता है ।[2]

## 17. द्यूत समाहय प्रकरणः

मनु एव नारद ने द्यूत (जुआ) को वह खेल कहा है जो पासे, चर्मखण्डो, हस्तिदन्त खण्डो आदि से खेला जाता है तथा जिसमे बाजी लगायी जाती है, और समाह्वय मे जीवो यथा – मूर्गों, कबूतरो, भेडो, भैंसो एव मल्लो की लडाई होती है और बाजी लगी रहती है ।[3] मनु ने आगे कहा है कि राजा को अपने राज्य से द्यूत तथा समाह्वय को दूर करना चाहिए क्योकि ये राजा के राज्य को नष्ट कर देते हैं । द्यूत तथा समाह्वय दोनों प्रत्यक्ष चोरी के समान हैं । इसलिए जो मनुष्य द्यूत तथा समाह्व को खेले या खेलावें उनको शरीर दण्ड देना चाहिए । प्राचीन काल में द्यूत से वैमनस्य उत्पन्न होता रहा है इस कारण मनुष्य को आनन्द के लिए भी इसे नही खेलना चाहिए । याज्ञवल्क्य कात्यायन एव नारद ने कहा है कि राजा द्वारा सचालित होने पर समिक राजा को निश्चित शुल्क प्रदान करना चाहिए और जीतने वाले को जीता हुआ धन दिलाना तथा क्षमाशील होकर दूसरे द्यूतकरो के विश्वास के लिए सत्य वचन देना चाहिए ।[4] याज्ञवल्क्य एव नारद के मतानुसार यदि द्यूत गुप्त स्थान मे डुई हो, राजा की आज्ञा न रही हो, तथा झूठे पासों एव चालाकियों का सहारा लिया गया हो तो सभिक तथा द्यूत खेने वाले को धन प्राप्त का अधिकार नही है और जुआ खेलने वाले को कुत्ते के पजे आदि चिन्ह से दागकर राज्य से निर्वासित कर देना चाहिए ।[5]

## 18. स्त्री-संग्रहण (व्यभिचार) :

याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार मिताक्षरा के अनुसार नियम विरूद्ध किसी पुरुष का स्त्री के साथ एक स्थान पर होना सग्रहण है ।[6] बल से धोखे से तथा काम पिपास से मिथुनीभाव पाप मूल सग्रहण के तीन प्रकार बताये गये है । याज्ञवल्क्य एव वृहस्पति के अनुसार एक दूसरे की सहमति से व्यभिचार करने पर पुरूष की अपनी ही जाति की नारी के साथ ऐसा करने पर अधिकतम दण्ड, अपने से हीन जाति के साथ ऐसा करने पर उसका आधा दण्ड देना पड़ता था, किन्तु अपने से उच्च जाति वाली नारी के साथ ऐसा

[1] गौ०ध०सू० 12/36–48, मनु० 9/271 एवं 278, याज्ञ० 2/276, का० 827
[2] गौ०ध०सू० 12/25, मनु० 8/339 याज्ञ० 2/166
[3] मनु० 9/221, 222, 224 227
[4] याज्ञ० 2/200, का० 940, नारद 19/2
[5] याज्ञ० 2/202, नारद 19/6–7
[6] मिताक्षरा– याज्ञ० 2/283

करने पर मृत्युदण्ड देना पडता था और नारी के कान आदि काट लिये जाते थे ।[1] नारद मनु एव यावल्क्य ने कहा है कि मित्र की पत्नी, अविवाहित कन्या, भागिनी, चाण्डाली, पुत्रवधू, गुरूपत्नी, बुआ, माता, मौसी, मामी, सौतेली माता, बहन, आचार्य की पुत्री, अपनी पुत्री, से मिथुनीभाव करने वाले पुरूष का लिग काटकर वध कर देना चाहिए ।[2] याज्ञवल्क्य के मतानुसार वेश्या से बलपूर्वक मिथुनीभाव करने पर दश पण का दण्ड तथा अनेक पुरूष के मिलकर मिथुनीभाव करने पर चौबीस पण का दण्ड देना चाहिए।[3]

आपस्तम्ब ने कहा है कि यदि कोई पुरूष विवाहित नारी के साथ व्यभिचार करता है तो उसके शिश्न एव अण्ड काट लेना चाहिए, किन्तु अविवाहित नारी के साथ ऐसा करने पर केवल सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन लेनी चाहिए ।[4] मनु याज्ञवल्क्य एव नारद के मतानुसार यदि कोई पुरूष अपनी ही जाति की अविवाहित नारी के साथ सम्भोग करे तो उसे राजाद्वारा दण्ड नहीं मिलना चाहिए, अपितु उसे आभूषण आदि के साथ उस नारी से सम्मान पूर्वक विवाह कर लेने की छूट दी जानी चाहिए ।[5] याज्ञवल्क्य ने यह भी कहा है कि यदि कोई पुरूष केवल स्वामी की सेवा के लिए रखी गई दासी और भुजिष्या (किसी विशेष पुराष को सौंपी गई) दासी से व्यभिचार करता है तो उस पुरूष को पचास पण का दण्ड देना चाहिए ।[6]

************

---

[1] याज्ञ0 2/286
[2] नारद 15/73–75, मनु0 11/170–171, याज्ञ0 3/231–233
[3] याज्ञ0 2/291
[4] आप0ध0सू0 210/26/20/21
[5] मनु0 8/366, याज्ञ0 2/288, नारद 15/72
[6] याज्ञ0 2/290

# षष्ठ अध्याय

# पातक (पाप)

# पातक (पाप)

यह एक ऐसा कृत्य है जो ईश्वर या उसके द्वारा प्रकाशित किसी व्यवहार (कानून) के उल्लघन अथवा जानबूझकर उसके विरोध करने से उद्भूत होता है ऋग्वेद की पातक सम्बन्धी भावना की धारणा से गुम्फित है ऋत के प्रकृति की गति, यज्ञ और मानव का नैतिक आचरण तीन स्वरूप है। ऋग्वेद मे अनृत शब्द ऋत एव सत्य के विरोधी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।[1] ऋग्वेद मे कहा गया है कि पाप किसी व्यक्ति की शक्ति के कारण नही होता, प्रत्युत यह भाग्य, सुरा, क्रोध, द्यूत, असावधानी के कारण होता है, यहॉ तक कि स्वप्न भी दुष्कृत्य करा डालता है।[2] गौतम ने कहा है कि विश्व मे मनुष्य दुष्कर्मो से अपवित्र हो उठता है, यथा ऐसे व्यक्ति के लिए यज्ञ करना जो यज्ञ करने के अयोग्य है, निषिद्व भोजन करना, जो कहने योग्य न हो उसे कहना जो व्यवस्थित है उसे न करना तथा जो वर्जित है उसे करना।[3] याज्ञवल्क्य का मत है कि जो निहित है उसे न करने से जो वर्जित है उसे करने से तथा इन्द्रिया–निग्रह न करने से मनुष्य गिर जाता है (पाप करता है)।[4]

## 1. पञ्च महापातक :

पापो की सख्या और उनकी कोटियो मे विभिन्न मत पाये जाते हैं आपस्तम्ब ने पतनीय (वे पाप जिनसे जातिच्युतता की प्राप्ति होती है) एव अशुचिकर (वे पाप जिनसे जातिच्युतता तो नहीं प्राप्त होती किन्तु अशुचिता प्राप्त होती है) पापो की दो कोटियॉ कही हैं, और आगे व्याख्या करते हुए कहा है कि पतनीय पाप सोने की चोरी, अभिशस्त करने वाला अपराध, अध्ययन से प्राप्त वैदिक विद्या का उपेक्षा या प्रमाद के कारण पूर्ण ह्रास, भ्रूण हत्या, अपनी माता या पिता या उनकी सन्तानो के सम्बन्धियो से व्यभिचार, ससर्ग, सुरापान, वर्जित लोगों से व्यभिचार, आचार्या (स्त्री गुरु की) से सभोग कृत्य, अपने गुरु (पिता आदि) की सखी से सभोग कृत्य, किसी अजनबी की पत्नी से सम्भोग कृत्य तथा इनके अतिरिक्त अन्य अधर्मों अथवा अनैतिक कार्यों को लगातार पालन करना है। अशुचिकर पाप शूद्रों से आर्य नारी द्वारा सभोग करना, कुत्ते, मानव ग्राम के कुक्कुट या ग्राम के शूकर ऐसे पशुओ का वर्जित मास सेवन, मानव का मल–मूत्र खाना, शूद्र द्वारा छोड़ा गया भोजन करना, अपपात्र स्त्रियों के साथ आर्य पुरूषो का सभोग करना है।[5] वसिष्ठ में एनस्वी, महापातकी एव उपपातकी पापियों की तीन कोटियाँ बतायी है।[6] वसिष्ठ के अनुसार महापातक पॉच है– गुरु की शय्या को अपवित्र करना, सुरापान, भ्रूण की हत्या,

---

[1] ऋ0 10/10/4. 7/49/3. 10/124/5
[2] ऋ0 7/86/6
[3] गौ0ध0सू0 19/2
[4] याज्ञ0 3/219
[5] आप0ध0सू0 1/7/21/7–11. 1/7/12/12–18
[6] वसि0 1/19–23

ब्राह्मण के सोने की चोरी एव पतित से ससर्ग। गौतम ने भी पञ्च महापातको को स्वीकार किया है।[1] मनु, याज्ञवल्क्य एव विष्णु ने ब्राह्मण की हत्या, सुरा पान, ब्राह्मण का स्वर्ण चुराना, गुरुपत्नी से भोग करने वाले को महापातकी कहा गया है। और इन पापो के कर्त्ता के साथ एक वर्ष तक लगातार ससर्ग करने से दूसरा मनुष्य भी पतित हो जाता है।[2]

## 1.1. ब्रह्महत्या :

आपस्तम्ब, वसिष्ठ, मनु एव याज्ञवल्क्य ने कहा है कि वेदज्ञ या सोमयज्ञ के लिए दीक्षित क्षत्रिय एव वैश्य की हत्या भी हत्यारे को बहन हत्या का अपराधी मानना चाहिए तथा किसी ब्राह्मण के अज्ञातलिग भ्रूण तथा आत्रेयी (रजस्वला) नारी की हत्या भी ब्रह्महत्या ही है।[3]

## 1.2. सुरापान :

ऋग्वेद में सुरापान को द्यूत के समान है। पापमय माना गया है।[4] मनु एव याज्ञवल्क्य ने सुरापान को महापातको के अन्तर्गत माना है।[5] मनु ने कहा है कि सुरा अन्नो का मल है और पापी भी मल कहा जाता है इस कारण से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यो को सुरापान नही करना चाहिए। यह सुरा तीन प्रकार की होती है जो गुड या सीरा से बने, जो आटे से बने एव जो महुए के फूल से बनी हुई है।[6] विष्णु ने खजूर, पनसफल, नारियल, ईख आदि से बने मद्य प्रकारो का वर्णन किया है।[7] वसिष्ठ एव याज्ञवल्क्य का कथन है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य की सुरापान करने वाली पत्नी पतिलोक को नहीं प्राप्त करती है वह इसी लोक में कुतिया, गिद्धनी और सूकरी होकर जन्म लेती है।[8]

## 1.3. स्तेय :

आपस्तम्ब के अनुसार एक व्यक्ति दूसरे की सम्पति के लोभ एव बिना स्वामी की सम्मति से उसके लेने से चोर हो जाता है, चाहे वह किसी भी स्थिति में क्यों न लिया हो।[9] मनु ने ब्राह्मण के सुवर्ण को चुराना महापाप

---

[1] गौ०ध०सू० 21/1–3
[2] मनु० 11/55 एव 180, याज्ञ० 3/227 एवं 261, विष्णु० 35/1–5
[3] आप०ध०सू० 1/9/24/6–9, वसिष्ठ० 20/34, मनु० 9/87, याज्ञ० 3/251
[4] ऋ० 7/86/6
[5] मनु० 11/54, याज्ञ० 3/227
[6] मनु० 11/93–94
[7] वि०ध०सू० 22/83–84
[8] वसिष्ठ 21/11, याज्ञ० 3/256
[9] आ०ध०सू० 1/10/28/1

माना है।[1] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि ब्राह्मण का सोना चुराने वाला अपने कर्म को बतलाते हुए राजा के हॉथ मे मूसल दे राजा द्वारा मारे जाने वह शूद्र हो जाता है।[2]

## 1.4. गुरू–अंगनागमन :

मनु, याज्ञवल्क्य एव वसिष्ठ ने गुरु की शय्या को अपवित्र करने को महापाप माना है।[3]

## 1.5. महापातकी संसर्ग :

मनु, याज्ञवल्क्य, गौतम, विष्णु ने कहा है कि जो लगातार एक साल तक चार महापातकियो का अति ससर्ग करता है अथवा उनके साथ रहता है तो वह भी महापातकी हो जाता है और यह ससर्ग उस अर्थ मे प्रयुक्त है जब वह व्यक्ति पातकी के साथ एक ही वाहन या एक ही शय्या का सेवन या एक ही पक्ति मे बैठकर भोजन करता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति पातकी से आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करता है या उसके साथ व्यभिचार सम्बन्ध या वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करता है तो वह व्यक्ति तत्क्षण महापातक का अपराधी हो जाता है।[4]

गौतम के मतानुसार झूठी गवाही, ऐसा चुगलखोर जो राजा के कानो तक किसी के अपराध को पहॅचा दे और गुरू को झूठ–मूठ महापातक का अपराध लगाना महापातक के समान है।[5] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि गुरू को झूठा अपराधी कहना ब्रह्महत्या के बराबर है और अपनी जाति या विद्या के विषय मे असत्य कथन करना सुरापान के समान है।[6] मनु ने कहा है कि न्यास (धरोहर) या प्रतिभूत, मनुष्य, घोडा, चॉदी, भूमि, रत्नों की चोरी ब्राह्मण के सोने की चोरी के समान है।[7] मनु एव याज्ञवल्क्य के मतानुसार अपनी बहिन, कुमारियों, नीच जाति की नारियो, मित्र पत्नी या पुत्र पत्नी के साथ विषय भोग का सम्बन्ध, सगोत्र नारी, गुरु तल्पशयन, गुरु शैय्या को अपवित्र करने के पाप के समान है।[8]

---

[1] मनु0 11/54
[2] याज्ञ0 3/257
[3] मनु0 11/54, याज्ञ0 3/227, वसिष्ठ 20/13
[4] मनु0 11/180, याज्ञ0 3/261, गौतम0 21/3, विष्णु0 35/3
[5] गौतम0 21/10
[6] याज्ञ0 3/228–229
[7] मनु0 9/57
[8] मनु0 11/58, याज्ञ0 3/231

## 2. उपपातक :

वसिष्ठ ने अग्निहोत्र के आरम्भ के पश्चात्, उसका परित्याग, गुरु को कुपित करना, नास्तिक होना, नास्तिक से जीविकोपार्जन करना एव सोम लता की बिक्री करना। ये पॉच उपपातक बताये है।[1] गौतम ने कहा है कि जो श्राद्व भोजन के समय पक्ति मे बैठने के अयोग्य, पशुहन्ता, वेद विस्मरण कर्त्ता, जो इनके लिए वेदमन्त्रोच्चारण करते है, ब्राह्मण व्रत खण्डित करने वाले तथा उपनयन सस्कार का समय बिता देने वाले को उपपातक का अपराध लगता है।[2] याज्ञवल्क्य ने उपपातक को स्पष्ट करते हुए कहा है कि गौ का वध, पतित सावित्री, चोरी, ऋण न लौटाना, अग्निहोत्र न करना, न बेचने योग्य वस्तु बेचना, सहोदर जेठे भाई के अविवाहित रहते स्वय विवाह करना, वेतन लेने वाले अध्यापक से पढना, तथा वेतन लेकर पढाना, पर स्त्री का भोग, सहोदर छोटे भाई के विवाहित होने पर स्वय अविवाहित रहना, नमक बनाना, स्त्री का वध, शूद्र का वध, वैश्य और क्षत्रिय का वध, निषिद्ध धन का उपार्जन, नास्तिकता, व्रतलोप, पुत्रो को बेचना, धान्य कुप्य और पशुओ की चोरी, जाति एव कर्म से दूषित व्यक्तियो के यहाँ यज्ञ करना, निर्दोष पिता–माता पुत्र का त्याग करना, तालाब और उद्यान, उपवन आदि बेचना, किसी कन्या का सन्दूषण, परिबिन्दक का यज्ञ कराना, कुटिलता, व्रत का लोप, केवल अपने ही लिए भोजन आदि बनाना, सुरा पीने वाली स्त्री का उपभोग, स्वाध्याय का त्याग, अग्नियो का त्याग, चाचा, मामा आदि बान्धनो का त्याग, भोजनार्थ ईंधन के लिए हरे वृक्ष को काटना, स्त्री की हिसा और औषध से जीविका चलाना, घातक हथियार बनाना, व्यसन, स्वय को बेचना, शूद्र की सेवा नीच व्यक्ति से मित्रता, हीन कोटि की स्त्री का उपभोग, किसी आश्रम मे न रहना, दूसरे के अन्न से जीवन चलाना, सोने आदि की खान पर अधिकार, और पत्नी का विक्रय इन सब को उपपातक समझना चाहिए।[3] मनु ने भी इसी उपपातक का वर्णन किया है।[4]

मनु ने कहा है कि ब्राह्मण को (छडी या हाथ से) पीडा देना, ऐसी वस्तुओं (लहसुन, प्याज आदि) को सॅूघना जिसे नही सूघना चाहिए एव वस्तु तथा मद्य को सूघना, धोखा देना, मनुष्य को जातिभ्रष्ट करने वाले होते हैं। गधा, कुत्ता, मृग, हाथी, अज, भेड, मछली, सॉप और भैंसा का हनन वर्णसकर करने वाला है। निन्द्य लोगों से दान ग्रहण, व्यापार, शूद्र सेवा एव झूठ बोलने से व्यक्ति अपात्र करने वाला है।[5]

## 3. प्रकीर्णकपातक :

याज्ञवल्क्य ने प्रकीर्णक पातक का स्पष्ट उल्लेख किया है जो राजा की आज्ञा को घटा–बढ़ाकर लिखता है, जो पर स्त्री से व्यभिचार करता एव चोर को पकड़ कर छोड़ देता है, मूत्र, पुरीष आदि अपवित्र या अभक्ष्य

---

[1] वसिष्ठ0 1/23
[2] गौतम0 21/11
[3] याज्ञ0 3/234–242
[4] मनु0 11/59–66
[5] मनु0 11/67–69

पदार्थ द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र के अन्न एव जल को दूषित करने वाला, कूट स्वर्ण का व्यवहार करने वाला, निषिद्व मास बेचने वाला, गाडी के रस्सी आदि के टूटने से पीछे चलने वाले मनुष्य आदि की हिसा हो जाने, दॉत वाले और सीग वाले पशुओ के स्वामी द्वारा आक्रमण न छुडाने को माना है।[1] बृद्वहारीत ने बहुत से प्रकीर्णक दुष्कृत्य बताये है यथा मिट्टी, चर्म, घास, लकडी की चोरी, अत्यधिक भोजन करना, झूठ बोलना विषयभोग के लिए चिन्तित रहना, दिन मे सोना, अफवाह उडाना, दूसरे को अफवाह सुनने को उकसाना, दूसरे के घर मे खाना, दिन मे सम्भोग करना, मासिक धर्म के समय या बच्चा जनने के बिल्कुल उपरान्त स्त्रियो को देखना, दूसरे की स्त्री पर दृष्टिपात करना, उपवास, श्राद्व या पर्व के दिनो मे सम्भोग करना, शूद्र की नौकरी करना, नीच लोगो से मित्रता करना, उच्छिष्ट भोजन को छूना स्त्रियो से हसी—मजाक करना, अनियमित ढग से बातचीत करना, खुले केशो वाली स्त्रियो की ओर देखना है।[2]

याज्ञवल्क्य के मतानुसार शव के ऊपर की वस्तु को बेचने वाला, पिता एव आचार्य आदि को पीटने वाला, राजा की सवारी या सिहासन पर बैठने वाला, किसी की दोनो ऑख फोड़ने वाला, राज्यनाश की बात फैलाने वाला, शूद्र होकर ब्राह्मण का वेष बनाकर जीविका का निर्वाह करना भी इसके अन्तर्गत (प्रकीर्णक) आता है।[3]

## 4. पाप फलों को कम करने के साधन :

गौतम के मतानुसार जप, तप, होम, उपवास और दान इन पाप कर्मों के प्रायश्चित्त के साधन हैं।[4] मनु ने कहा है कि आत्मापराध स्वीकार, पश्चात्ताप, तप, जप से पापी अपराध (पाप) से मुक्त हो जाता है और कठिनाई पड जाने पर (अर्थात् यदि वह जप, तप, आदि न कर सके तो) दान से मुक्त हो जाता है।[5]

### 4.1. आत्मापराध :

आपस्तम्ब के मतानुसार व्यक्ति को अभिशस्तता के कारण प्रायश्चित्त करते समय या अन्यायपूर्वक पत्नी परित्याग करने पर, या वेदज्ञ ब्राहण की हत्या करने पर अपनी जीविका के लिए भिक्षा माँगते समय अपने दुष्कृत्यों

---

[1] याज्ञ0 2/295—297, 299—300.
[2] वृद्वहारीत – 9/210—215
[3] याज्ञ0 2/303—304
[4] गौतम0 19/11
[5] मनु0 3/226

की घोषणा करनी चाहिए।[1] गौतम एव मनु ने कहा है कि वेदज्ञ ब्राह्मण की सभोगापराधी होने पर सात घरो मे भिक्षा मॉगते समय अपने पापो की घोषणा करनी चाहिए।[2]

## 4.2. पश्चात्ताप :

मनु एव विष्णुधर्मोत्तर का मत है कि व्यक्ति का मन जितना ही अपने दुष्कर्म को घृणित समझता है उतना ही उसका शरीर पाप से मुक्त हो जाता है, यदि व्यक्ति पाप–कृत्य के उपरान्त उसके लिए अनुताप करता है तो वह उस पाप से मुक्त हो जाता है। उस पाप का त्याग करने के सकल्प एव यह सोचने से कि 'मैं यह पुन नही करूँगा', व्यक्ति पवित्र हो उठता है।[3]

## 4.3. प्राणायाम :

मनु, बौधायन, वसिष्ठ ने कहा है कि यदि प्रतिदिन व्याहृतियो एव प्रणव के साथ सोलह प्राणायाम किये जायॅ तो एक मास के उपरान्त भ्रूण हत्या (ब्राह्मण हत्या) छूट जाती है।[4] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि उन सभी पापों के लिए तथा उन उपपातको एव पापो के लिए कोई विशिष्ट प्रायश्चित्त न निर्धारित हो, तो एक सौ प्राणायाम करने से नष्ट हो जाता है।[5]

## 4.4. तप :

गौतम के मतानुसार ब्रह्मचर्य, सत्यवचन, प्रतिदिन तीन बार स्नान, गीले वस्त्रों का धारण एव उपवास तप में सम्मिलित है।[6] मनु ने कहा है कि जो महापातकों एव अन्य दुष्कर्मो के अपराधी होते है वे सम्यक तप से पाप मुक्त हो जाते हैं तथा विचार, शब्द या शरीर से जो पाप हुए रहते हैं वे तप से जल जाते हैं।[7]

---

[1] आप0ध0सू0 1/9/24/15./1/10/28/19
[2] गौतम0 23/18./मनु0 11/122
[3] मनु0 11/229–230, विष्णुधर्मोत्तर 2/73/231–233
[4] मनु0 11/248,बौधा0 ध0सू0 4/1/31, वसिष्ठ 26/4
[5] याज्ञ0 3/305
[6] गौतम0 19/15
[7] मनु0 11/239–341

## 4.5. जप :

मनु एव वसिष्ठ के मतानुसार ब्राह्मण व्यक्ति वैदिक मन्त्रो के जप एव होम से सभी विपत्तियो से छुटकारा पा जाता है।[1] मनु ने यह भी व्यवस्था दी है कि बिना जाने किये गये पाप का मार्जन प्रार्थना के रूप मे वैदिक बचनो के जप करने से हो जाता है किन्तु जो पाप जान–बूझकर किये जाते हैं उनका मार्जन प्रायश्चित्तो से ही होता है।[2] मनु एव वसिष्ठ ने कहा है कि जिस प्रकार अधिक वेगवती अग्नि हरी घास को जलाकर भस्म कर देती है उसी प्रकार वेदाध्ययन की अग्नि दुष्कर्मों से प्राप्त अपराध को जला डालती है या वह ब्राह्मण जो ऋग्वेद का स्मरण रखता है, अपराध से अछूता रहता है, भले ही उसने तीनो लोको का नाश कर दिया हो या उसने किसी का भी दिया हुआ भोजन कर लिया हो।[3] सभी अवकृष्टों (सूत, मागध आदि) मे किसी की हत्या करने पर चान्द्रायण व्रत करे, यद्यपि शूद्र को जप आदि करने का अधिकार नहीं होता तथापि वह निर्धारित समय तक व्रत करके पाप से शुद्ध हो जाता है।[4]

## 4.6. दान :

गौतम ने कहा है कि सोना, गौ, परिधान, घोडा, भूमि, तिल, घृत, एव अन्न दान से पाप का क्षय हो जाता है किन्तु इनका उपयोग यदि कोई स्पष्ट उल्लेख न हो तभी करना चाहिए।[5] वसिष्ठ एव विष्णु के मतानुसार जीविका वृत्ति को लेकर अर्थात् वृत्ति या भरण–पोषण से परेशान होकर जब कोई मनुष्य पाप करता है तो वह गोचर्म के बराबर भूमि देकर पवित्र हो जाता है।[6]

## 4.7. उपवास :

अन्न जल का पूर्ण त्याग उपवास का वास्तविक अर्थ है किन्तु थोडी मात्रा में हल्का भोजन करना इसका साधारणत अर्थ है। मनु के मतानुसार वेदव्यवस्थित कृत्यों को छोड़ देने एव स्नातक के विशिष्ट कर्मों को प्रमाद से छोड देने पर प्रायश्चित्त रूप में एक दिन का उपवास करना चाहिए।[7] मनु एव अग्निपुराण में यह भी कहा गया

---

[1] मनु011/34, वसि0 26/16
[2] मनु0 11/46
[3] मनु0 11/261–262, वसिष्ठ– 27/1–3
[4] याज्ञ0 3/262
[5] गौतम0 19/16
[6] वसिष्ठ 29/16,विष्णु 92/4
[7] मनु0 11/203

है कि घास, ईधन, वृक्ष, सूखे भोज्य पदार्थ, वस्त्र, खाल, एव मास की चोरी के प्रायश्चित्त के लिए तीन दिन का उपवास करना पडता है।[1]

इस प्रकार इन कर्मों के द्वारा पाप कर्मों के फलो को कम किया जा सकता है और जीवन को नैतिकता एव आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख किया जा सकता है।

************

[1] मनु0 11/166 अग्नि0 169/31

# सप्तम अध्याय

# प्रायश्चित्त

# प्रायश्चित्त

## 1. प्रायश्चित्त का उद्भव, व्युत्पत्ति एवं अर्थ :

वैदिक साहित्य मे प्रायश्चित्ति एव प्रायश्चित्त दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं और दोनो का अर्थ भी एक ही है। तैत्तिरीय सहिता मे प्रायश्चित्ति शब्द बार–बार आया है तथा इसी सहिता मे यह शब्द पाप के प्रायश्चित्त के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।[1] कौषीतकि ब्राह्मण मे आया है कि जो कुछ यज्ञ मे त्रुटि या अतिरेक घटित होता है उसका प्रभाव ब्रह्मा पुरोहित पर पडता है और वह तीन वेदो से उसका मार्जन करता है या ठीक करता है।[2] अथर्ववेद, वाजसनेयी सहिता, ऐतरेय ब्राह्मण एव शतपथ ब्राह्मण मे भी यह शब्द आया है।[3] शतपथ एव ऐतरेय ब्राह्मण मे आया है कि जब कोई दुष्ट शूकर, भेड या कुत्ता यज्ञिय अग्नियो के बीच चला जाय या जब गाय दुहते समय अग्निहोत्र दुग्ध गिर जाय, या जब दुग्ध पात्र मुख के बल उलट जाय या वह टूट जाने वाला रहा हो, या दुही जाते समय गाय बैठ जाने वाली रही हो, या जब प्रथम आहुति के उपरान्त ही अग्नि बुझ जाने वाली रही हो तो प्रायश्चित्त का विधान है।[4]

प्रायश्चित्त की व्युत्पत्ति प्राय· (तप) एव चित्त (अर्थात् सकल्प या दृढ विश्वास) से की है। इसका तात्पर्य यह है कि इसका सम्बन्ध तप करने के सकल्प से है या विश्वास से है कि इससे पाप मोचन होगा। याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार मिताक्षरा ने कहा है कि प्रायश्चित्त शब्द रूढ रूप से उस कर्म या कृत्य का द्योतक है जिसे नैमित्तिक कहा जाता है, अर्थात् इसका उपभोग तभी होता है जबकि उसके लिए कोई अवसर आता है, यह पाप–नाश के लिए भी प्रयुक्त होता है अत यह काम्य भी है।[5] मनु एव याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट कहा है कि अनजान मे किये गये पापो का नाश प्रायश्चित्तों अथवा वेदाध्ययन से किया जा सकता है।[6] मनु के मतानुसार अनजान मे किये गये पापो का शमन वेदवचनों के पाठ से होता है और जान–बूझकर किये गये पाप विभिन्न प्रायश्चित्तों से ही नष्ट किये जाते हैं, तथा प्रायश्चित्त न करने वाले पापियों से सामाजिक सम्बन्ध नहीं करना चाहिए।[7] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि जिसने किसी पाप के लिए व्यवस्थित प्रायश्चित्त कर लिया है वह नरक में नहीं गिरता, किन्तु यदि उसने जान बूझकर कोई अपराध किया है तो वह शिष्टों से मिलने की अनुमति नहीं पा सकता।[8] मनु के मतानुसार जो द्विज पूर्वजन्म के कारण अथवा इस जन्म में भाग्य के कारण कोई पाप कृत्य करता है और

---

[1] तैत्ति० सं० 2/1/2/4, 2/1/4/1, 5/3/12/1
[2] कौषीतकि ब्रा० 6/12
[3] अथर्व० 14/1/30, वाज०सं० 39/12, ऐत०ब्रा० 5/27, शत०ब्रा० 4/5/7/1,
[4] शत०ब्रा० 12/4, ऐत०ब्रा० 32/3–11
[5] मिताक्षरा – याज्ञ० 3/220
[6] मनु० 11/45, याज्ञ० 3/226
[7] मनु० 11/46, 11/189
[8] याज्ञ० 3/226

प्रायश्चित्त सम्पादन का भागी हो जाता है, तो वह जब तक प्रायश्चित्त नही कर लेता तब तक विद्वान लोगो के सम्पर्क मे उसे नही ही जाना चाहिए।[1] विष्णु तथा मनु ने यह भी कहा है कि जो बच्चो की हत्या करता है, जो अच्छा करने पर बुरा करता है, जो शरण मे आगत की हत्या कर डालता है, जो स्त्रियो का हन्ता है, ऐसे व्यक्ति के साथ, भले ही उसने उचित प्रायश्चित्त कर लिया हो तब भी ससर्ग नही रखना चाहिए।[2]

प्राचीन समय मे विद्वान् ब्राह्मणो की परिषद् प्रायश्चित्त के योग्य पातकों के लिए नियम निर्धारित करती थी और राजा दण्ड देता था। राजा प्रायश्चित्तो के सम्पादन मे सहायता करता था। राजा द्वारा प्रायश्चित्त न करने पर दण्ड का विधान भी किया गया है। मनु ने कहा है कि यदि चार महापातको के अपराधी उचित प्रायश्चित्त न करे तो राजा को उन्हे शारीरिक दण्ड (मस्तक पर दाग लगाने का दण्ड) देना चाहिए और शास्त्र के अनुसार अर्थ दण्ड भी देना चाहिए।[3] मनु एव वसिष्ठ के मतानुसार व्यभिचार, सुरापान, स्तेय एव ब्राह्मण हत्या करने वाले के ललाट पर क्रमश भग, सुरापात्र, कुत्ते के पैर, शिरकटे मनुष्य का चिन्ह दाग देना चाहिए।[4] मनु ने यह भी कहा है कि यदि किसी जाति का कोई व्यक्ति अनजान में किये गये पापो के कारण महापातकी हो उसने उचित प्रायश्चित्त कर लिया हो तो राजा द्वारा उसके मस्तक पर दाग नहीं लगाना चाहिए, प्रत्युत भारी अर्थदण्ड देना चाहिए। यदि अनजान मे किसी ब्राह्मण ने महापातक कर दिया हो तो उसे मध्यम साहस का दण्ड मिलता है (यदि वह सदाचारी हो), किन्तु यदि किसी ब्राह्मण ने जान बूझकर कोई महापाप किया हो तो उसे उसकी सम्पत्ति के साथ देश निष्कासन का दण्ड देना चाहिए, किन्तु यदि किसी अन्य जाति के व्यक्ति ने अनजान में महापातक किया हो तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिए और जब उसने जान–बूझकर महापाप किया हो तो उसे मृत्युदण्ड देना चाहिए।[5]

मनु के मतानुसार कूटसाक्ष्य (झूठी गवाही) सुरापान के समान दण्ड मिलता है।[6] याज्ञवल्क्य एव मनु के अनुसार धरोहर को हडप जाने पर सोने की चोरी के समान दण्ड मिलना चाहिए।[7] विष्णु ने कहा है कि धरोहर हडप कर जाने वाले को धन लौटाना पडता है या ब्याज के साथ उसका मूल्य देना पडता है और साथ ही साथ उसे चोरी करने का दण्ड (राजा द्वारा) प्राप्त होता है, झूठा साक्ष्य देने वाले की सारी सम्पत्ति छीन ली जाती है।[8] मनु ने कहा है कि ब्राह्मण के सोने की चोरी करने वाले ब्राह्मण को राजा के पास स्वय हाथ से लोहे की गदा

---

[1] मनु0 11/47
[2] विष्णु0 54/32, मनु0 11/190
[3] मनु0 9/226
[4] मनु0 9/237, वसिष्ठ 5/4–7
[5] मनु0 9/240, 9/241–242
[6] मनु0 11/56
[7] याज्ञ0 3/230, मनु0 11/57
[8] विष्णु0 5/169, 5/179

लेकर जाना चाहिए, जिससे राजा स्वय उसका सिर कुचल डाले। ऐसा करना प्रायश्चित्त ही है।[1] नारद के मतानुसार जब चोर दौडता हुआ राजा के पास आता है और अपना अपराध स्वीकार कर लेता है तो राजा उसे (गदा से प्रतीकात्मक रूप में) छू लेता है और उसे छोड देता है और चोर इस प्रकार अपराध स्वीकार के कारण मुक्त हो जाता है।[2]

परिषद् द्वारा व्यवस्थित न करने पर पापियो को दण्ड देने का राजा को अधिकार था किन्तु वह सभी विषयो पर ऐसा करता था या नहीं इस पर कहना अत्यन्त कठिन है। उस समय समाज या जाति को व्यवस्थित प्रायश्चित्त न करने पर महापातकी को जातिच्युत करने का दण्ड प्राप्त था। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि पतित व्यक्ति के जाति वाले और बान्धव सभी दासी के द्वारा (उसके नाम से) जल से भरा हुआ घडा गॉव से बाहर निकलवा देते थे और सभी कार्यों से उसका बहिष्कार कर देते थे।[3] इसी तरह का विचार मनु ने भी व्यक्त किया है।[4] बच्चे, बूढे एव स्त्रियों, रोगियों को भी व्यवस्थित प्रायश्चित्तो का आधा करना पडता है। कात्यायन के मतानुसार स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा आधा अर्थदण्ड लगता है, जहॉ पुरुष को मृत्युदण्ड मिलता है वहॉ स्त्रियों का अगविच्छेद (नाक, कान, काट लेने) का दण्ड मिलता है।[5] मनु, वसिष्ठ, शख, एव विष्णु के मतानुसार गृहस्थों की अपेक्षा ब्रह्मचारियो, वानप्रस्थों एव सन्यासियो को क्रम से दूना, तिगुना एव चौगुना प्रायश्चित्त करना पडता था तभी वे शुद्ध माने जाते थे।[6] यद्यपि विभिन्न पातको के लिए प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की गयी है तब भी उनमे सभी पातकों एव दुष्कृत्यो का समावेश नहीं किया गया है। मनु ने कहा है कि जहॉ प्रायश्चित्त न हुए हों परिषद् को चाहिए कि वह पातकी के अपराध की गुरुता एव स्वभाव को देखकर तदनुकूल व्यवस्था कर दे।[7] याज्ञवल्क्य के मत से गौहत्या पर चान्द्रायण, एक मास तक दुग्ध–व्रत या पराक करने से शुद्धि प्राप्त हो जाती है।[8] इस प्रकार परिषद् को बच्चो, दुबलो एव बूढों के लिए छूट देने की अनुमति थी फिर भी यदि परिषद् के शिष्ट लोग, स्नेह, लोभ, भय या अज्ञानवश किसी को छूट देते थे तो उलटा पाप उन्हीं को लगता था।

## 2. विशिष्ट पापों के विशिष्ट प्रायश्चित्त :

महापातकों, उपपातकों एव अन्य प्रकार के दुष्कृत्यों के विभिन्न प्रकारों के लिए प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की गयी है। शख ने चार महापातकों के महापातकी को दिन में तीन बार स्नान करना चाहिए, वन में पर्णकुटी

---

[1] मनु० 11/100
[2] नारद 46–47
[3] याज्ञ० 3/294
[4] मनु० 11/182–185
[5] कात्यायन – 487
[6] मनु० 5/137, वसिष्ठ० 6/19, संख 16/23–24, विष्णु० 60/26
[7] मनु० 11/209
[8] याज्ञ० 3/265

बना लेनी चाहिए, पृथिवी पर सोना चाहिए, पत्ती, मूल, फल पर ही रहना चाहिए , ग्राम मे भिक्षाटन के लिए प्रवेश करते समय महापातक की घोषणा करनी चाहिए, दिन मे केवल एक ही बार खाना चाहिए। जब इस प्रकार बारह वर्ष व्यतीत हो जाते है तो सोने का चोर, सुरापान करने वाला, ब्रह्महत्यारा एव व्यभिचारी महापाप से मुक्त हो जाता है।[1]

## 21 ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त :

ब्रह्महत्या करने वाले के विषय मे गौतम का मत है कि पापी को वैदिक ब्रह्मचारी के नियमो का पालन करना चाहिए। उसे ग्राम मे केवल भिक्षा के लिए जाना चाहिए और अपने आप का उद्घोष करना चाहिए।[2] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि ब्राह्मण की हत्या करने वाला महापातकी (उसी हत ब्राह्मण के) सिर की खोपडी हाथ मे लेकर और दूसरी खोपडी बास के डडे के ऊपर बॉधकर, अपने किये हुए कर्म को सबसे बताते हुए तथा अल्पभोजन करते हुए बारह वर्ष व्यतीत करने पर शुद्ध हो जाता है।[3] गौतम के अनुसार उसे दिन मे खडा रहना चाहिए और रात्रि में बैठना चाहिए एव दिन में तीन बार स्नान करना चाहिए।[4] आपस्तम्ब, गौतम, मनु एव याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि ब्रह्मघातक क्षत्रिय हो और उसने जान–बूझकर हत्या की हो तो वह चाहे तो युद्ध करने चला जाय, उसके साथ युद्ध करने वाले लोग उसे ब्रह्मघातक समझकर मार सकते हैं। यदि हत्यारा मर जाय या घायल होकर सज्ञाशून्य हो जाय और अन्त मे बच भी जाय तो वह महापातक से मुक्त हो जाता है।[5] मनु ने यह भी कहा है कि ब्रह्मघाती को शस्त्रधारी के (बाण का) स्वेच्छा से निशाना बनना चाहिए या जलती हुई अग्नि मे नीचे शिर करके तीन बार अपने को डालना चाहिए।[6] वसिष्ठ, गौतम, मनु एव याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्रह्महत्या करने वाला द्विजाति किसी कुल्हाड़ी से अपने बाल, चर्म, रक्त, मास, मासपेशियाँ, वसा, अस्थियाँ एवं मज्जा काट–काटकर साधारण अग्नि मे आहुतियों के रूप मे दे या अश्वमेघ यज्ञ करे तथा स्वर्जित्, गोमेध, अभिजित, विश्वजित, त्रिवृत, अग्निष्टुत् इनमें से कोई एक यज्ञ करना चाहिए।[7] मनु ने आगे यह भी कहा है कि ब्रह्महत्या करने वाले को स्वल्पाहार, जितेन्द्रिय होकर, किसी एक वेद को जपते हुए सौ योजन तक गमन करना चाहिए, या वेदज्ञाता ब्राह्मण को सर्वस्व (समस्त सम्पत्ति) को देकर, या उसके जीवन पर्यन्त खाने–पहनने के लिए या सब सामग्रियो के सहित घर को दे देना चाहिए।[8] याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि ब्रह्मघातक निर्जन स्थान में

---

[1] शंख 17/1–3
[2] गौतम0 22/4
[3] याज्ञ0 3/243
[4] गौतम0 22/6
[5] आप0ध0सू0 1/9/25/12, गौतम0 22/3, मनु0 11/72, याज्ञ0 3/248
[6] मनु0 11/73
[7] वसिष्ठ 20/25–26, गौतम0 22/8, मनु0 11/74, याज्ञ0 3/247
[8] मनु0 11/75–76

परिमित भोजन करता हुआ तीन बार सम्पूर्ण वेदो की सहिता का जप करने पर अथवा अल्पाहार करते हुए सरस्वती नदी के किनारे–किनारे पश्चिम समुद्र तक जाने पर शुद्ध होता है या योग्य व्यक्ति को गौ, भूमि और सोना आदि पर्याप्त धन देने पर शुद्ध होता है।[1] मनु ने भी व्यवस्था दी है कि ब्रह्महत्या के पापी को हविष्यान्न को खाते हुए प्रसिद्ध सोते से लेकर समुद्र तक जाना चाहिए, अथवा वन मे सीमित भोजन करते हुए वेद की सहिता का तीन बार पाठ करना चाहिए।[2] याज्ञवल्क्य के अनुसार व्याघ्र आदि द्वारा मारे जाते हुए किसी ब्राह्मण का प्राण बचाने, अथवा बारह गायो की प्राणरक्षा करने पर तथा अश्वमेघयज्ञ मे अवभृथ स्नान करने पर (बारह वर्ष के पहले भी) ब्रह्महत्या के दोष से पापी शुद्ध हो सकता है या बहुत दिनो से किसी दु सह रोग से पीडित ब्राह्मण को अथवा गौ को मार्ग देखने पर उसको नीरोग करने पर भी ब्रह्महत्या का पातकी शुद्ध हो जाता है या किसी ब्राह्मण का छीना गया सभी धन अपहरणकर्ता से चोट खाकर भी छुडाकर ला देता है और उसके निमित्त शस्त्रो से घायल होकर भी जीवित रहता है तो ब्रह्महत्या के पातक से शुद्ध हो जाता है।[3]

गौतम मनु एव याज्ञवल्कय के अनुसार यदि द्विज पत्नी सोमयज्ञ कर रही हो और उसे कोई मार डाले तो उसके हत्यारे को ब्रह्मघातक एव उस स्त्री की जाति के अनुसार ही भारी प्रायश्चित्त करना पडता था।[4] विष्णु, मनु एव याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि ब्राह्मण को धमकी देने पर या पीटने पर क्रम से कृच्छ्र या अतिकृच्छ्र तथा रक्त निकाल देने पर कृच्छ्र एव अतिकृच्छ्र प्रायश्चित्त करने पडते थे।[5]

## 2.2. सुरापान का प्रायश्चित्त :

सुरापान करने पर ब्राह्मण को अति कठोर प्रायश्चित्त करने पर ही जीवन–रक्षा मिल सकती थी। गौतम, बौधायन, मनु एव याज्ञवल्क्य के मत से यदि कोई ब्राह्मण अन्न से बनी सुरा को ज्ञान में केवल एक बार भी पी ले तो उसका प्रायश्चित्त मृत्यु से ही बन पाता है, अर्थात् उसे उसी खौलती हुई सुरा को, या खौलते हुए गोमूत्र को, या खौलते हुए दूध, घी, जल एव गीले गोबर को पीना पडता था, और जब वह पूर्ण रूपेण इस प्रकार जल उठता था और उसके फलस्वरूप मर जाता था तो वह सुरापान के महापातक से छुटकारा पा जाता था।[6] वसिष्ठ ने अज्ञान मे किसी भी प्रकार का मद्य पी लेने पर कृच्छ्र एव अतिकृच्छ्र की व्यवस्था दी है और घी पीने तथा पुनः उपनयन सस्कार करने की आज्ञा दी है।[7] अत्रि, गौतम, मनु एव याज्ञवल्क्य के मतानुसार अज्ञान में मद्यों, मानव वीर्य, मल–मूत्र को पी जाने वाले तीन उच्च वर्णों के व्यक्तियों को तप्तकृच्छ्र नामक प्रायश्चित्त करके पुनः

---

[1] याज्ञ0 3/249–250
[2] मनु0 11/77
[3] याज्ञ0 3/244–246
[4] गौतम0 22/26–27, मनु0 11/138, याज्ञ0 3/268–69
[5] विष्णु0 54/30, मनु0 11/208, याज्ञ0 3/293,
[6] गौतम0 23/1, बौध0ध0सू0 2/1/21, मनु0 11/90–91, याज्ञ0 3/253
[7] वसिष्ठ – 29/19

उपनयन सस्कार करना पडता है।[1] विष्णु ने शरीर से निकलने वाली (बारह प्रकार की) वस्तुओ को पीने या कतिपय मद्यो को पीने या लहसुन य प्याज या शलजम या किसी अन्य ऐसे गध वाले पदार्थों को खाने, ग्रामशूकरो, पालतू मुर्गों, बन्दरो एव गायो का मास खाने के अपराध मे चान्द्रायण व्रत की व्यवस्था दी है और कहा है कि ऐसे पापियो का पुनरूपनयन होना चाहिए।[2]

## 2.3. निषिद्ध भोजन का प्रायश्चित्त :

यदि कोई व्यक्ति आतरिक शुचिता चाहता है तो उसे निषिद्ध भोजन नही करना चाहिए, यदि वह अज्ञानवश ऐसा भोजन कर ले तो उसे प्रयास करके वमन कर देना चाहिए और यदि वह ऐसा न कर सके तो उसे शीघ्रता से प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए। मनु ने कहा है कि जब कोई व्यक्ति विपत्ति काल मे (जब कि जीवन–भय भी उत्पन्न हो गया हो) किसी से भी कुछ ग्रहण कर लेता है तो उसे पाप नही लगता, क्योकि आकाश मे पक नहीं रहता है।[3]

## 2.4. सुवर्ण की चोरी एवं व्यभिचार का प्रायश्चित्त :

मनु एव याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी है कि यदि अस्सी रत्तीयों की तोल या इससे अधिक की तोल तक (ब्राह्मण के) सोने की चोरी मे सभी वर्णों के लिए चोरो का प्रायश्चित्त मृत्यु के रूप में है। किन्तु ब्राह्मण को इस महापातक के लिए वन मे बारह वर्षों तक चीथडो में लिपटकर प्रायश्चित्त स्वरूप रहना पडता था, या वही प्रायश्चित्त करना पडता था जो ब्रह्महत्या या सुरापान के लिए व्यवस्था है।[4]

## 2.5. गुरुपत्नी के साथ व्यभिचार :

गुरुपत्नी के साथ व्यभिचार के विषय में आपस्तम्ब, गौतम, बौधायन एव मनु के मतानुसार अपराधी को अपना अपराध स्वीकार कर लेना चाहिए और तब उसे तप्त लौह पर शयन करना होगा या नारी की तप्त लौहमूर्ति का आलिगन करना चाहिए या उसे अपने लिग एव अण्डकोशों को काटकर उन्हें लिये हुए दक्षिण या दक्षिण–पूर्व की दिशा में तब तक सीधे चलते जाना चाहिए जब तक वह मृत होकर गिर न पड़े और तभी वह शुद्ध हो सकता है।[5] मनु एव याज्ञवल्क्य ने यह भी व्यवस्था दी है कि गुरु पत्नी, उच्च जाति की कुमारी, पुत्र–वधू, सगोत्र नारी, सोदरा नारी या अन्त्यज नारी के साथ समोग करने को गुरु–तल्प गमन के समान ही

---

[1] अत्रि० 75, गौतम० 23/2–3, मनु० 11/146, याज्ञ० 3/255
[2] विष्णु० 51/2–3
[3] मनु० 10/104
[4] मनु० 8/134, 11/101, याज्ञ० 1/363, 3/258
[5] आप०ध०सू० 1/9/25/1–2, गौतम० 23/8–11, बौधा० 2/1/14–16, मनु० 11/103–104,

माना जाता है और प्रायश्चित्त उससे थोडा ही कम ठहराया है।[1] याज्ञवल्क्य के मत मे यदि कोई पुरुष चाची, मामी, पुत्रवधू, मौसी आदि से उसकी सहमति से सभोग करता है तो उस व्यभिचारिणी नारी को मृत्यु का राजदण्ड मिलता है और उसे वही प्रायश्चित्त करना पडता है जो पुरुष के लिए व्यवस्थित है।[2]

महापातक के अपराध मे स्त्रियो के विषय मे सामान्य नियम मनु ने दिया है कि अन्य लोगो की पत्नियो के साथ पुरुषो के व्यभिचार के लिए जो प्रायश्चित्त व्यवस्थित है वही उन स्त्रियो के लिए भी है जो पुरुषो से व्यभिचार करती है।[3]

## 2.6. महापापियों के संसर्ग का प्रायश्चित्त :

मनु, विष्णु एव याज्ञवल्क्य का मानना है कि जो भी कोई महापातकियो का ससर्ग करता है उसे ससर्ग–पाप से मुक्त होने के लिए महापातक वाला ही व्रत (प्रायश्चित्त) करना पडता है।[4] यदि ससर्ग एक वर्ष से कम का होता है तो उसी अनुपात से प्रायश्चित्त में छूट मिलती है। केवल पतित ही निन्द्य नहीं माना जाता था, प्रत्युत पतित होने के उपरान्त उत्पन्न पुत्र भी पतित माना जाता है और उसे उत्तराधिकार से वचित कर दिया जाता था। किन्तु पतित की पुत्री के साथ ऐसा नियम नही है उसके साथ विवाहित पति को दोष नहीं लगता है।

## 2.7. उपपातकों एवं गोवध का प्रायश्चित्त :

मनु, विष्णु एव याज्ञवल्क्य का मत है कि सभी उपपातकों से शुद्धि (केवल अवकीर्णी को छोडकर) उस प्रायश्चित्त से जो गोवध के लिए व्यवस्थित है, या चान्द्रायण से या एक मास तक केवल दुग्ध प्रयोग से या पराक या गोसव से हो जाती है।[5] गौतम ने गोवध के लिए वही प्रायश्चित्त निर्धारित किया है जो वैश्य हत्या पर किया जाता है यथा – वन में तीन वर्षो का निवास, भीख माँगकर खाना, ब्रह्मचर्य–पालन एव बैल के साथ सौ गौ का दान।[6] वसिष्ठ ने कहा है कि गोवधकर्त्ता को उस गाय की खाल से अपने को ढँक लेना चाहिए और छः मास तक कृच्छ्र या अतिकृच्छ्र करना चाहिए।[7] आपस्तम्ब का मत है कि दुधारू गाय या तरुण बैल की हत्या पर शूद्र

---

[1] मनु0 11/58, 170–171, याज्ञ0 3/231
[2] याज्ञ0 3/233
[3] मनु0 11/176
[4] मनु0 11/181, विष्णु0 54/1, याज्ञ0 3/261
[5] मनु0 11/117, विष्णु0 37/35, याज्ञ0 3/265
[6] गौतम0 22/18
[7] वसिष्ठ0 21/18

हत्या के समान प्रायश्चित्त होता है।[1] याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई गाय या बैल दवा करते समय, या बच्चा जनने मे सहायता देते समय या दवा के रूप मे दागते समय मर जाय तो पाप नही लगता। ब्राह्मणो, गायो एव अन्य पशुओ की इसी प्रकार की मृत्यु के विषय मे प्रायश्चित्त सम्बन्धी अपवाद है।[2] गौतम, मनु, याज्ञवल्क्य एव विष्णु के मतानुसार गिरगिट, जूँ, खटमल, डॉस, मच्छर, विलाव, गोह, नेवला, मेढक, कौवा, उल्लू, तीतर, क्रौञ्च पक्षी, हस, बलाका, बगुला, मोर, वानर, बाज, सुअर, घोडा, हाथी, बैल, भेड, गदहा, सॉप, ऊँट, क्रव्याद, गाय, अक्रव्याद आदि को मारने पर विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्त करना पडता है।[3]

## 2.8. व्रतलोप, आरूढ़ पतित आदि के प्रायश्चित्त :

व्रतलोप (ब्रह्मचारी द्वारा ब्रह्मचर्य–पालन के व्रत की हानि की स्थिति) – वह वैदिक ब्रह्मचारी जो किसी स्त्री से सभोग कर लेता है उसे अवकीर्णी कहा जाता है। आपस्तम्ब ने कहा है कि ऐसे विद्यार्थी को पाकयज्ञ की विधि से निर्ऋति (नरक या मृत्यु की देवी) को गदहे की बलि देनी चाहिए और किसी शूद्र द्वारा अवशिष्ट हवि खा डाली जानी चाहिए।[4] वसिष्ठ, मनु, गौतम, याज्ञवल्क्य के मतानुसार जब वैदिक विद्यार्थी स्त्री सग करता है तो उसे वन में किसी चतुष्पथ (चौराहे) पर लौकिक अग्नि जलाकर राक्षसों के लिए गर्दभ (गदहा) की बलि देनी चाहिए या उसे निर्ऋति को आहुति देनी चाहिए या गधे का चमडा ओढकर अपने पाप को कहता हुआ सात घरों में भिक्षा मॉगनी चाहिए, तथा उन सात घरो से मिले हुए भिक्षान्न को एक शाम खाता हुआ तथा त्रिकाल (प्रात मध्यान्ह तथा सॉयकाल) स्नान करता हुआ वह अवकीर्णी एक वर्ष में शुद्ध हो जाता है।[5]

यदि कोई सन्यासी पुन गृहस्थ हो जाता है तो उसके लिए छ मास तक कृच्छ्र व्रत निर्धारित किया गया है। ऐसे व्यक्ति की प्रत्यवसित सज्ञा है। वृद्ध पराशर ने कहा है कि उन सन्यासियों को जो पुन गृहस्थ हो गये हैं, चाण्डाल समझा जाना चाहिए (उन्होने प्रायश्चित्त कर लिया हो तब भी) और सन्यासच्युत हो जाने के उपरान्त उनकी उत्पन्न सन्तानो को चाण्डालो के साथ रहना चाहिए। ऐसे सन्यासच्युत व्यक्ति को आरूढ पतित कहा गया है।

[1] आप०ध०सू० 1/9/26/1
[2] याज्ञ० 3/284
[3] गौतम० 22/19–22, मनु० 11/133–137, याज्ञ० 3/269–274, विष्णु० 50/25–32
[4] आप०ध०सू० 1/9/26/8–9
[5] वसिष्ठ 23/1–3, मनु० 11/118–123, गौतम० 23/17–19, याज्ञ० 3/280

## 2.9. अस्पृश्य–स्पर्श, जातिभ्रष्टों, धर्मान्तरगतों, व्रात्यों का प्रायश्चित्त :

गौतम ने व्यवस्था दी है कि पतित, चाण्डाल, सूतिका (जच्चा), उदक्या (रजस्वला), शव, स्पृष्टि (जिसने इनको छू लिया है), तत्स्पृष्टि (जिसने उस स्पर्श करने वाले को छू लिया हो) को छूने पर वस्त्र के साथ स्नान कर लेना चाहिए।[1] यही बात मनु एव याज्ञवल्क्य ने भी कही है।[2]

दान–ग्रहण मे ब्राह्मणो को सभी स्मृतिकारो ने उच्च स्थान पर रखा है। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि राजा से दान नही लेना चाहिए।[3] मनु के मतानुसार न लेने लायक दान के ग्रहण एव गर्हित व्यक्ति के दान ग्रहण से जो पाप लगता है उससे छुटकारा तीन सहस्र गायत्री–जप से या एक मास मे केवल दूध पर रहने या एक मास तक गोशाला मे रहने से हो जाता है।[4] मनु एव याज्ञवल्क्य के मतानुसार आपत्ति से ग्रस्त ब्राह्मण को किसी से भी दान लेने या भोजन ग्रहण करने, किसी को भी पढाकर जीविका चलाने की अनुमति है ब्राह्मण तो गगा के जल एव अग्नि के समान पवित्र है।[5] उस पर इस कृत्य से पाप नही लगता, क्योंकि जो पवित्र है वह भी अशुद्ध हो सकता है ऐसा कहना अनुचित है।

म्लेच्छों द्वारा बलपूर्वक अपने धर्म में लिये गये हिन्दुओं के शुद्धीकरण के विषय में विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने कहा है कि जब म्लेच्छो या आक्रमणकारियो द्वारा व्यक्तियों का हरण हो जाता है या वन में जाते हुए लोगों का हरण हो जाता है और वे जब पुन लौटकर स्वदेश मे चले आते हैं, तो वर्जित भोजन करने के कारण उनके लिए जो प्रायश्चित्त निर्धारित होता है वह उनके वर्ण–विशेष पर निर्भर है, यथा–ब्राह्मण को आधा कृच्छ्र एव पुनरूपनयन करना पडता है, क्षत्रिय को तीन चौथाई कृच्छ्र और पुनरूपनयन करना पडता है, वैश्य को चौथाई कृच्छ्र एव शूद्र को चौथाई कृच्छ्र तथा दान देना पडता है।[6] मनु, विष्णु एव याज्ञवल्क्य ने कहा है कि जो बलवश दिया, बलवश अधिकृत किया जाय, बलवश लिखित कराया जाय तथा जो कुछ भी विनिमय या आदान–प्रदान बलवश हो वह अवैधानिक होता है।[7] बिछुडे हुए लोगों को हिन्दू धर्म के अन्तर्गत लाया जाता है उसके लिए परावर्तन शब्द का उपयोग किया जाता है।

मनु एव विष्णु ने सभी जातिभ्रशकर कर्म ज्ञान से करने पर सान्तपन एव अज्ञान में करने पर प्राजापत्य प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है और उन कर्मों के करने पर, जिन्हे ऊपर सकरीकरण या आपात्रीकरण कहा गया है, एक मास तक चान्द्रायण करने को कहा है।[8] मनु, विष्णु एव याज्ञवल्क्य ने यह भी व्याख्या दी है कि ब्राह्मणों को

---

[1] गौतम0 14/28
[2] मनु0 5/84, याज्ञ0 3/30
[3] याज्ञ0 1/140
[4] मनु0 11/194
[5] मनु0 10/102–103, याज्ञ0 3/41
[6] विष्णुधर्मोत्तर – 2/73/203–206
[7] मनु0 8/168, विष्णु0 8/6–7, याज्ञ0 2/89
[8] मनु0 11/124, विष्णु 38/7

दुष्कर्मों के स्वभाव कर्ताओ की योग्यता तथा काल, स्थान आदि सम्बन्धी अन्य परिस्थितियो पर विचार कर प्रायश्चित्त देनी चाहिए।[1]

इस प्रकार प्रायश्चित्त करते समय कुछ यमो एव नियमो का पालन गुप्त रूप मे या प्रकट रूप से करते रहना चाहिए तथा वेद का पाठ सदा करना चाहिए।

************

[1] मनु0 11/209, विष्णु 42/2, याज्ञ0 3/294

# अष्टम अध्याय

# कर्म विपाक

# कर्म विपाक

स्मृतियो एव पुराणो मे यह कहा गया है कि प्रायश्चित्त न करने पर पापी को दुष्परिणाम भुगतने पडते है और उसे नरक मे यातनाएँ प्राप्त होती है इसके उपरान्त पापो के अवशिष्ट चिन्ह–स्वरूप उसे कीट–पतगो या निम्न कोटि के जीव या वृक्ष के रूप मे पुन जन्म लेना पडेगा और मनुष्य रूप मे जन्म लेने पर उसे रोगो एव कुलक्षणो से युक्त होना पडेगा। कर्म विपाक का अर्थ दुष्कर्मो का फलवान् होना है। शातातप ने कहा है कि महापातकी यदि प्रायश्चित्त नही करते है तो वे नरक भोग के उपरान्त शरीर पर कुछ निन्द्य चिन्ह लेकर जन्म ग्रहण करते हैं। इस प्रकार लक्षणो से युक्त होकर महापातकी सात बार, उपपातकी पॉच बार एव पापी तीन बार जन्म लेते है। पापो के कतिपय चिन्ह पश्चात्ताप एव प्रायश्चित्त से दूर हो सकते हैं। इसी प्रकार वैदिक मन्त्रो के जप, देव–पूजा, होम एव दान द्वारा दुष्कृत्यों से उत्पन्न रोग दूर हो सकते हैं। कुष्ठ, क्षय, शुक्रदोष, सग्रहणी, वृक्ककष्ट, मूत्राशय में पथरी पडना, खाँसी का रोग, एव भगन्दर आदि पापो से उत्पन्न होने वाले रोग हैं।[1]

## (i) मानस, वाचिक, कायिक पापों का फल :

शरीर, वाणी एव मन से व्यक्ति तीन प्रकार से पाप कर सकता है। मनु ने कहा है कि बेईमानी (छलकपट) से दूसरे के धन को हडप लेने की क्षुद्र लालसा रखना, दूसरे का अमगल हो ऐसी इच्छा रखना और असत्य विचारो को मानते जाना (यथा आत्मा नहीं है, शरीर ही आत्मा है आदि) ये तीन मानस पाप हैं। बिना सहमति के किसी की सम्पत्ति हथिया लेना, शास्त्र बचनो के विपरीत चेतन प्राणियो की हिंसा एव दूसरे की पत्नी से सभोग – ये तीनो शारीरिक पाप हैं। कठोर या परुष वचन, असत्य, पैशुन्य (चुगुलखोरी) एव असगत ये चार वाचिक पाप हैं। नरक यातनाओ के उपभोग के उपरान्त किन–किन पशुओं, वृक्षों, लता–गुल्मो आदि में जन्म लेना पडता है[2] इस विषय मे याज्ञवल्क्य ने कहा है कि ससार में आत्मा सैकडों शरीर धारण करता है, यथा – मानस, वाचिक एव कायिक दुष्कृत्यों के कारण किसी निम्न जाति मे, पक्षियों में तथा वृक्ष आदि किसी स्थावर वस्तु के रूप मे व्यक्ति जन्म लेता है, असत्य भाषी, पिशुन, परुषभाषी एव असंगत–वाचाल पक्षी या पशु के रूप में जन्म लेता है , पर द्रव्यग्रहण, पर–पदाराभिगमन एव शास्त्रविरुद्ध प्राणिहिंसा से व्यक्ति अचलयोनि (वृक्ष आदि) के रूप में प्रकट होता है , ब्रह्मघातक पशु (हिरन आदि), कुत्ता, सूकर या ऊँट के रूप में जन्म ग्रहण करता है, सुरापान करने वाला गदहा, पुल्कस (निषाद पुरुष एव शूद्रा स्त्री से उत्पन्न) या वेण (वैदेहक द्वारा अम्बष्ठ स्त्री से उत्पन्न)

---

[1] शातातप – 1/1–10

[2] मनु0 12/5–7

होता है, सोना चुराने वाला कीडा (चीटी आदि) पतग के रूप मे तथा माता, पुत्री, बहिन आदि से व्यभिचार करने वाला घास, झाड–झखाड, लता–गुल्मो के रूप मे प्रकट होता है।[1]

## (ii) पापकर्मानुसार निन्द्य योनियों में जन्म :

प्राचीन काल मे ऐसा विश्वास था कि पापो के कारण ही रोग उत्पन्न होते है। मनु, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य एव शातातप ने कहा है कि मनुष्य का जन्म पाने पर ब्राह्मण की हत्या करने वाले राजयक्ष्मा, का रोगी, सुरा पीने वाले के दॉत काले होते हैं, (ब्राह्मण का) सोना चुराने वाले के नख भद्दे होते हैं, गुरु की पत्नी से सभोग करने वाला कोढी, अन्न चुराने वाला अजीर्ण रोगी, पुस्तक चुराने वाला गूँगा, धान्य मे मिलावट करने वाला अग (अगुली आदि का बडा होना), पिशुन (दूसरों का दोष कहने वाले चुगलखोर) की नाक दुर्गन्धयुक्त, परायी स्त्री का और ब्राह्मण के धन का अपहरण करने वाला वन में निर्जल स्थान पर ब्रह्मराक्षस, दूसरे के रत्न को चुराने वाला हेमकार नाम के निम्न कोटि के पक्षियों की योनि, पत्तों वाला शाक चुराने पर मयूर, सुगन्ध द्रव्यो को चुराने पर छछुन्दर, धान्य चुराने वाला चूहा, यान (सवारी) चुराने वाला ऊँट तथा फल चुराने वाला बन्दर, जल चुराने वाला शकटबिल पक्षी, दूध चुराने वाला कौआ, मूसल आदि जैसे गृहस्थी का उपकरण चुराने पर गृहकारी (चटक) पक्षी, मधु चुराने वाला दश (मच्छर), मास चुराने वाले गृध्र, गाय चुराने वाला गोह, वस्त्र चुराने वाला कुष्ठी, ईख का रस चुराने वाला कुत्ता, नमक चुराने वाला चीरी कीडा, दही चुराने वाला बलाका पक्षी, रेशमी वस्त्र चुराने वाला तीतर पक्षी का जन्म लेता है।[2] स्मृतियो मे ऐसे अनेक रोगो एव शारीरिक दोषो का वर्णन किया गया है जिनसे पापी मनुष्य रूप मे जन्म पाने पर ग्रसित होते हैं। मनु एव विष्णु ने यह भी कहा है कि वे स्त्रियॉ जो चोरी करने के कारण पापी होती हैं, आने वाले जन्मो में चोरो की पत्नियॉ होती हैं।[3]

## 1. प्रायश्चित्त न करने के परिणाम :

याज्ञवल्क्य ने कहा है कि पाप कृत्य के फलस्वरूप सम्यक् प्रायश्चित्त न करने से परम भयावह एव कष्ट कारक नरकयातना सहनी पडती है।[4] मनु एव याज्ञवल्क्य के मतानुसार जो व्यक्ति गम्भीर एव अन्य पातकों के लिए सम्यक् प्रायश्चित्त नहीं करते वे भाँति–भाँति की नरक यातनाएँ भुगतने के उपरान्त पुन इस लोक में आते हैं और निम्न कोटि के पशुओं, कीट–पतगों, लता–गुल्मों के रूप में प्रकट होते हैं।[5] मनु ने यह भी कहा है कि

---

[1] याज्ञ0 3/131, 135–136, 207–208 एवं 213–215,
[2] मनु0 12/54–67, वसिष्ठ 20/44, याज्ञ0 3/209–215, शातातप 1/3–11
[3] मनु0 12/69, विष्णु 44/45
[4] याज्ञ0 3/221
[5] मनु0 12/54, याज्ञ0 3/206

पापमुक्ति के लिए व्यक्ति को प्रायश्चित्त करना चाहिए। क्योकि वे लोग जो (प्रायश्चित्त द्वारा) पापो को नष्ट नही करते, पुन जन्म ग्रहण करते है और अशुभ चिन्हो या लक्षणो (भद्दे नख, काले दॉत आदि) से युक्त होते हैं। दुष्टात्मा व्यक्ति इस जीवन एव पूर्व जीवन मे किये गये दुष्कर्मों के कारण कुरूपता को प्राप्त करते हैं।[1] विष्णुधर्मसूत्र ने व्यवस्था दी है कि पापी लोग नारकीय जीवन के दु खो की अनुभूति करने के उपरान्त तिर्यक् योनि मे पडते है और जो अतिपातक है वे स्थावर योनि, महापातक कृमियोनि, अनुपातक पक्षियोनि, उपपातक जलयोनि, जातिभ्रशकरण कर्म वाले जल चरयोनि, सकरीकरण मृगयोनि, मलिनीकरण पशुयोनि, एव प्रकीर्ण कर्म करने वाले अस्पृश्ययोनि या हिस्र योनि को प्राप्त करते हैं।[2] विष्णु ने पुन कहा है कि नरक की यातनाओ को भोग लेने एव तिर्यको की योनि मे जन्म लेने के उपरान्त जब पापी मनुष्य योनि मे आते है तो पापो को बतलाने वाले लक्षणो से युक्त ही रहते हैं।[3] प्रायश्चित्तो से विहीन होने पर व्यक्ति नरक मे पडता है दुष्कर्म फलो के अवशिष्ट रहने पर नीच योनियो मे गिर पडता है और मनुष्य–योनि मे आने पर भी रोगग्रस्त रहता है।

## 1.1 स्वर्ग और नरक की धारणा :

नरक के विषय में स्पष्ट सकेत ऋग्वेद मे नही मिलता है किन्तु कुछ ऋचाएँ नरक के बारे में सकेत किया है। ऋग्वेद में नरक की यातना की कोई चर्चा नहीं है। अथर्ववेद मे नरक के विषय में स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है।[4] शतपथ ब्राह्मण मे नरक यातना के विषय मे कहा गया है कि अपराधों के कारण लोग दूसरे के शरीर के अग काट डालते हैं।[5] तैत्तिरीय आरण्यक में चार नरको का उल्लेख किया गया है यथा–विसर्पी, अविसर्पी, विषादी एव अविषादी जो क्रम से दक्षिण–पूर्व, दक्षिण–पश्चिम, उत्तर–पश्चिम एव उत्तर–पूर्व में है।[6] कठोपनिषद् के समय मे ऐसा विश्वास था कि जो परमतत्त्व को नहीं जानते और केवल भौतिक जगत के अस्तित्व में ही विश्वास करते हैं, वे बार–बार जन्म लेते हैं और यम के हाथ मे पड जाते हैं। कुछ लोग मृत्यूपरान्त अपने कर्मों एव ज्ञान से शरीर धारण करते हैं और कुछ लोग स्थावर (पेड आदि) हो जाते हैं।[7] किन्तु इस उपनिषद में नरक यातनाओं का उल्लेख नहीं मिलता है।

स्वर्ग के विषय में ऋग्वेद में स्पष्ट सकेत मिलता है ऋग्वेद में आया है कि दयालुदाता या पूजक स्वर्ग में जाते हैं, देवों से मिलता है, मित्र एव वरुण जैसे देव अमरता देने के लिए प्रार्थित हुए हैं, स्वर्ग का जीवन

---

[1] मनु0 11/53, 11/48
[2] विष्णु0 44/1–10
[3] विष्णु0 45/1
[4] अथर्व0 12/4/36
[5] शत0 ब्राह्मण – 11/6/1/4
[6] तै0आ0 1/19
[7] कठो0उप0 2/5/6, 5/7

आनन्दो एव प्रकाशो से परिपूर्ण है और वहॉ के लोगो की सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती है।[1] अथर्ववेद मे कहा गया है कि स्वर्गिक लोक मे वहॉ के निवासियो के लिए बहुत सी स्त्रियॉ होती है, उन्हे भोज्य पौधे एव पुष्प प्राप्त होते है, वहॉ घी की ह्रद (तालाब), दुग्ध एव मधु की नदियॉ होती है, सुरा जल भॉति बहती रहती है और निवासियो के चतुर्दिक कमलो की पुष्करिणियॉ होती हैं स्वर्ग मे गुणवान् लोग प्रकाशानन्द पाते है और उनके शरीर रोगमुक्त रहते है।[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण मे आया है जो यज्ञ करते हैं वे आकाश मे देदीप्यमान नक्षत्र हो जाते है।[3] शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि जो यजमान अपने उद्धार या मोक्ष के लिए यज्ञ करता है, वह दूसरे लोक (स्वर्ग) मे इस पूर्ण शरीर के साथ ही जन्म लेता है।[4] वृहदारण्यकोपनिषद् मे कहा गया है कि देवो का लोक मर्त्यों के लोक से सैकडो गुना आनन्दमय है।[5] छान्दोग्योपनिषद् मे आया है कि जिनके आचरण रमणीय हैं, वे शीघ्र ही अच्छा जन्म–ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य का जन्म प्राप्त करते हैं, तथा जिनके आचरण अशोभन हैं, वे शीघ्र ही बुरा जन्म कुत्ते, सूकर या चाण्डाल का जन्म प्राप्त करता है।

सूत्रों एव स्मृतियों में स्वर्ग नरक के विषय में विचार किया गया है। गौतम के अनुसार सत्य बोलने वाले को स्वर्ग और असत्य बोलने वाले को नरक मिलता है, अपनी जाति के कर्मों को न करने से द्विजों का पतन होता है, पापों के कारण व्यक्ति अपने सत् कर्मो का फल उस लोक मे नहीं पाता। आपस्तम्ब ने कहा है कि यदि व्यक्ति इन्दियोप भोग के लिए ही कर्मरत रहता है तो वह नरक के योग्य है, जब व्यक्ति धर्म का उल्लघन करता है तो नरक ही उसका भाग्य है। निष्काम कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग का सुख प्राप्त होता है।[6] मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु एव नारद ने इक्कीस नरको का वर्णन किया है। ये नाम हैं – तामिस्र, अन्धतामिस्र, महारौरव, रौरव, कालसूत्र नरक, महानरक, सजीवन–महावीचि, तपन, सम्प्रतापन, सहात, काकोल, कुड्मल, प्रतिमूत्तिक, लोहशक, ऋजीव, पन्था, शाल्मली, वैतरणी नदी, असिपत्रवन और लोहदारक। घोर महापातकों एव उपपातकों से युक्त अधम मनुष्य प्रायश्चित्त न करने पर इन नरकों को प्राप्त करते हैं।[7] विष्णू धर्मसूत्र में कहा गया है कि अतिपातक, अनुपातक एवं सकरीकरण के अपराधी यदि प्रायश्चित्त नहीं करते हैं, तो वे क्रम से एक कल्प, एक मन्वन्तर, चार युगों एव एक सहस्र वर्षों तक इक्कीस नरकों में बारी–बारी से चक्कर काटते रहते हैं और अन्य पापी बहुत वर्षों तक रहते हैं।[8]

---

[1] ऋ0 1/125/5, 5/63/2, 10/107/2, 9/113/10–11,
[2] अथर्व0 3/34/2, 5–6
[3] तै0ब्रा0 1/5/2/5–6
[4] शत0ब्रा0 11/1/8/6
[5] गौतम0 13/7
[6] आप0ध0सू0 1/4/12/12, 1/4/13/4, 2/9/23/12,
[7] मनु0 4/88–90, याज्ञ0 3/222–224, विष्णु0 4/3/2/22, नारद – 44
[8] विष्णु धर्मसूत्र – 46/23–29

नरक की भयानक यातनाओ के विषय मे विष्णु ने कहा है कि नौ प्रकार के पापो मे किसी एक के अपराधी को मरने पर यम के मार्ग मे पहुँचने पर भयानक पीडाएँ सहनी पडती है। यम के किकरो द्वारा इधर–उधर घसीटे जाने पर पापियो को भयकर दृष्टि से घूरे जाते हुए नरक मे जाना पडता है। वहाँ (नरक मे) कुत्तो, श्रृगालो, कौओ, क्रौचो, सारसो आदि पक्षियो द्वारा तथा अग्निमुख वाले सर्पों एव बिच्छुओ द्वारा भक्षित किये जाते है। वे अग्नि द्वारा झुलसाये जाते है, कॉटो द्वारा छेदे जाते है, आरियो द्वारा दो भाग मे चीरे जाते हैं और प्यास से तडपाये जाते है, भूख से प्रताडित किये जाते हैं, भयानक व्याघ्रो द्वारा पीडित होते है और मज्जा, पीव एव रक्त की दुर्गन्ध से वे पग–पग पर मूर्च्छित होते रहते हैं। दूसरे के भोजन एव पेय पदार्थों की लालसा रखने पर वे ऐसे यम–किकरो द्वारा पीटे जाते हैं, जिनके मुख कौओ, क्रौचो, सारसों जैसे भयावह पशुओ के समान होते हैं। कहीं–कहीं उन्हें तेल में उबाला जाता है और कहीं–कहीं वे लोहे के टुकडो के साथ पीसे जाते हैं या प्रस्तर या लोहे की ओखली मे कूटे जाते हैं। कुछ स्थानो पर उन्हे वमन की हुई वस्तुएँ या मज्जा या रक्त या मल–मूत्र खाने पडते हैं और दुर्गन्ध युक्त मज्जा के समान मास खाना पडता है। कही–कही उन्हे भयावह अधकार मे रहना पड़ता है और वे ऐसे कीड़ों द्वारा खा डाले जाते हैं जिनके मुँह से अग्नि निकलती रहती है। कहीं–कही उन्हें शीत सहना पडता है और वे कही–कही गन्दी वस्तुओ मे चलना पडता है। कहीं–कहीं वे एक दूसरे को खाने लगते हैं और इस प्रकार वे स्वय अत्यन्त भयानक हो उठते हैं। कही–कही वे पूर्व कर्मों के कारण पीटे जाते हैं और कही उन्हे (पेडो आदि से) लटका दिया जाता है या वाणों से विद्ध कर दिया जाता है या टुकडो में विभाजित कर दिया जाता है। कहीं–कहीं उन्हे कॉटों पर चलाया जाता है और साँपों के फणों से आवृत कर दिया जाता है, उन्हे यन्त्रो से पीडित किया जाता है और घुटनों के बल घसीटा जाता है। उनकी पीठें, सिर एव गर्दन तोड दी जाती है , देखने में वे भयावह लगते हैं उनके कण्ठ इस प्रकार फाड दिये जाते हैं कि मानों वे गुफा हो और पीडा सहने में असमर्थ हो जाते हैं। पापी इस प्रकार सताये जाते हैं और आगे चलकर वे भाँति–भॉति के पशुओ के शरीरो के रूप में जन्म लेकर भयानक पीड़ाएँ सहते हैं।[1]

यद्यपि कर्मविपाक शब्द मे कर्म शब्द सामान्यत सत् और असत् चेष्टाओ का द्योतक है तथापि प्रायश्चित्तों के विषय मे यह शब्द मन में दुष्कर्मों की भावना ही उपस्थित करता है अत कर्म विपाक शब्द का अर्थ दुष्कृत्यों या पापों के फलवान् होने का ही द्योतक है। कर्म विपाक से सम्बन्धित सभी ग्रन्थों में कहा गया है कि प्राणी को तब तक निराश होने की आवश्यकता नहीं है जब तक वह दुष्कृत्यों से उत्पन्न यातनाओं को सहने के लिए सन्नद्ध है और न उसे बहुत सी योनियों में जन्म लेने के कारण उपस्थित परिस्थिति में भी भयाकुल होना चाहिए। क्योंकि अन्ततोगत्वा उसे अपनी लम्बी यात्रा एव विकास के फलस्वरूप अपना वास्तविक महत्त्व प्राप्त हो ही जाएगा और वह अमर शान्ति एवं पूर्णत्व को प्राप्त कर लेगा।

---

[1] विष्णु ध०सू० 43/32–45

# नवम अध्याय

# अशौच, शुद्धि, श्राद्ध

# अशौच, शुद्धि श्राद्ध

## 1. शुद्धिः

शुद्धि के अन्तर्गत (जन्म–मरण के समय के) अशौच, किसी अपवित्र वस्तु के स्पर्श से तथा कुछ घटनाओ के कारण उत्पन्न अपवित्रता, पात्रो, कूप, भोजन आदि की शुद्धि का विवेचन किया जाता है। शुद्धि के अन्तर्गत अशौच का सबसे अधिक महत्व है। मनु ने भी चारो वर्णो की प्रेतशुद्धि (मरणाशौच से शुद्धि) की बात कही है।[1]

आशौच दो प्रकार का होता है, जन्म से उत्पन्न, जिसे जननाशौच कहा जाता है। तथा मरण से उत्पन्न जिसे शावाशौच, मृतकाशौच या मरणाशौच कहा जाता है। शाव' शब्द 'शव' से बना है। आशौच पर अत्रि, पराशर एव दक्ष ने कहा है कि वैदिक अग्निहोत्री ब्राह्मण एव वह ब्राह्मण जिसने वेद पर अधिकार प्राप्त कर लिया है, जन्म–मरण के आशौच से एक दिन मे मुक्त हो सकता है। जिसने वेद पर तो अधिकार प्राप्त कर लिया है, किन्तु श्रौताग्नियाँ नहीं स्थापित की है, वह तीन दिनो मे तथा जिसमे दोनो नहीं किये हैं वह दस दिनो मे मुक्त होता है।[2] मनु ने भी सपिण्डों को मरणाशौच दश, चार, तीन या एक दिन–रात रहता है।[3] अशुद्धि के दिन प्रत्येक जाति के भिन्न थे, मनु, दक्ष, याज्ञवल्क्य अत्रि एव शख के अनुसार ब्राह्मण को दस दिन, क्षत्रिय को बारह दिन, वैश्य को पन्द्रह दिन का एव शूद्र को एक मास का आशौच होता है।[4] किन्तु याज्ञवल्क्य ने और इतना कहा है कि न्यायवर्ती (द्विज की सेवा मे रहने वाले) शूद्र को पन्द्रह दिन का ही अशौच होता है। गौतम ने चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र) के लिए क्रम से दस, ग्यारह, बारह (या पन्द्रह दिन) एव एक मास की आशौचावधि दी है।[5] वसिष्ठ ने ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एव शूद्र के लिए क्रम से दस, पन्द्रह, बीस एक मास की अवधियॉ दी है।[6]

आशौचावधियॉ कई प्रकार की परिस्थितियों पर आधारित होती है। ये जन्म और मरण की अशुद्धि में भिन्नता मानी गयी है। इसी प्रकार मृत की अवस्था अर्थात् वह शिशु है या पुरुष है या स्त्री है, आशौचावधि के लिए परिगणित होती है। आशौचावधि मृत के उपनयन सस्कार से युक्त होने या न होने पर भी निर्भर है। यह जाति पर भी आधारित है। यह सम्बन्धी की दूरी पर भी निर्भर है कि कितने दिनों के पश्चात् जन्म या मृत्यु का समाचार सम्बन्धी के कानो तक पहुँचा। सूतिका (हाल मे बच्चा जनी हुई नारी) रजस्वला, मरणाशुद्धि, जन्माशुद्धि बातों में अशुद्धि की तीव्रता विभिन्न रूपों में देखी जाती है। दक्ष ने आशौच के दस भेद बताये है। यथा–

---

1 मनु0 5/57

2 अत्रि–83 परासर 3/5, दक्ष 6/6

3 मनु0 5/59

4 मनु0 5/83, दक्ष– 6/7, याज्ञ0 3/22, अत्रि 85, शंख–15/2–3

5 गौतम0 15/1–4

6 वसिष्ठ0 4/27–30

तात्कालिक शौच वाला (केवल स्नान करने से समाप्त), एक दिन, तीन दिन, चार दिन, छ दिन, दस दिन, बारह दिन, एक पक्ष, एक मास एव जीवन भर।[1] पराशर के अनुसार गर्भ के उपरान्त चार महीनो के गर्भ गिरने को स्राव कहा जाता है। पॉचवे या छठे महीने के गर्भ गिरने को प्रसूति या प्रसव कहा जाता है।[2] स्राव मे माता को तीन दिनो का सूतक लगता है, पात मे उतने ही दिनो का सूतक लगता है जितने महीनो पश्चात् वह होता है। यह आशौच माता को न छूने तक है, स्राव मे केवल पिता को भी अशुद्धि लगती है किन्तु पात मे पिता के साथ सपिण्डो को भी तीन दिनो तक सूतक लगता है। किन्तु यह मृत्यु की अशुद्धि के समान नही है। ये नियम सभी वर्णों मे समान है। किन्तु यदि सातवे मास के उपरान्त कभी भी भ्रूण मरा हुआ निकलता है तो सभी वर्णों मे अशुद्धि पिता तथा सपिण्डो के लिए दिस दिनो की या याज्ञवल्क्य के मतानुसार चारो वर्णों मे क्रम से दस, बारह, एव तीस दिनो की होती है, किन्तु समानोदक लोग केवल तीन दिनो का तथा सगोत्र लोग एक दिन का आशौच मानते हैं। गौतम, बौधायन, मनु एव याज्ञल्वक्य ने कहा है कि जन्म मृतोत्पत्ति या सातवे, आठवे या नवें मास के गर्भपात में माता दस दिनों तक अस्पृश्य रहती है, किन्तु पिता तथा सपिण्ड लोग प्रसव मे स्नान के उपरान्त अस्पृश्य नहीं ठहरते हैं।[3] यद्यपि जनन के दस दिनों के उपरान्त स्त्री स्पृश्य हो जाती है, किन्तु उसके उपरान्त बीस दिनों तक (पुत्र उत्पन्न किया हो तो) धार्मिक कृत्य करने योग्य नहीं रहती। किन्तु यदि स्त्री पुत्री उत्पन्न करती है तो तीस दिनों तक (जनन के उपरान्त कुल मिलाकर चालीस दिनो तक) धार्मिक कृत्य नहीं कर सकती। यदि स्त्री अपने पिता या भाई के घर मे बच्चा जने तो उसके पिता या भाई को अशुद्धि नहीं लगती। जब सगोत्रों को जननाशौच मे रहना पडता है तो वे अस्पृश्य नही माने जाते हैं।

मरण के आशौच के विषय मे पारस्कर गृहसूत्र मे कहा गया है कि मरणाशौच तीन रातों तक रहता है।[4] यदि बच्चा दस दिनो के उपरान्त ही मर जाय तो माता पिता जननाशौच ही मानते हैं और दस दिनों के उपरान्त शुद्ध हो जाते हैं उतने दिनो तक पिता अस्पृश्य रहता है। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि यदि बच्चा दाँत निकलने के पूर्व ही मर जाय तो सपिण्ड लोग स्नान करके शुद्ध हो जाते हैं, किन्तु माता–पिता को, यदि मृत बच्चा पुत्र है तो तीन दिनो का, और यदि मृत बच्चा लडकी है तो एक दिन का आशौच करना पडता है।[5] यदि बच्चा लडकी है तो सपिण्ड लोग उसके तीसरे वर्ष की मृत्यु पर स्नान करके पवित्र हो जाते हैं। यदि चूड़ाकरण (या तीन वर्षो) के पश्चात् और उपनयन या विवाह (लडकियों के विषय में) के बीच में मृत्यु हो तो पिता एव सपिण्ड तीन दिनों का आशौच मानते हैं किन्तु समानोदक लोग स्नान के उपरान्त पवित्र हो जाते हैं। शूद्रों में तीन वर्ष के उपरान्त एव विवाह या सोलह वर्षों के पूर्व मरने पर सपिण्डों को तीन दिनों का आशौच करना होता है। सोलह

---

[1] दक्ष– 5/2–3
[2] पराशर– 3/16
[3] गौतम– 14/15–16, बौधा०धा०सू० 1/5/136, मनु० 5/66, याज्ञ० 3/20,3/91
[4] पा० गृ० सू० 3/10/29–30
[5] याज्ञ० 3/23

वर्षों या विवाह (शूद्रो के विषय मे) के उपरान्त मृत्यु होने पर उस जाति के लिए व्यवस्थित अशौचावधि मनायी जाती है। लडकी के तीन वर्षों के उपरान्त एव वाग्दान के पूर्व मरने पर माता–पिता को तीन दिनो का एव तीन पीढियो के सपिण्डो को एक दिन का आशौच मनाना चाहिए। यदि वाग्दान के उपरान्त किन्तु विवाह के पूर्व मे कन्या मर जाय तो पिता के सपिण्डो एव होने वाले पति को तीन दिनो का आशौच करना चाहिए। स्त्रियो एव शूद्रो के विषय मे यदि मृत्यु विवाहोपरान्त हो जाय या सोलह वर्षों के उपरान्त(यदि शूद्र अविवाहित हो) तो सभी सपिण्डो की आशौचावधि दस दिनो की होती है। यदि विवाहित स्त्री अपने पिता के यहॉ मर जाय तो माता–पिता, विमाता, सहोदर भाइयो, विमाता के पुत्रों को तीन दिनो का तथा चाचा आदि को, जो एक ही घर मे रहते हैं, एक दिन का आशौच मानना पडता है। विष्णु का कहना है कि विवाहित स्त्री के लिए माता–पिता को आशौच नहीं लगता, किन्तु जब वह पिता के घर में बच्चा जनती या मर जाती है तो क्रम से एक दिन या तीन दिनो का आशौच लगता है।[1] अपने माता–पिता या विमाता के मरने पर यदि दस दिन न बीते हों तो विवाहित स्त्री को तीन दिनो का या दस दिनों के शेष दिनों का आशौच मनाना होता है। ऐसा याज्ञवल्क्य का मानना है।[2] यदि विवाहित स्त्री अपने माता–पिता या विमाता की मृत्यु का सन्देश दस दिनों के उपरान्त या वर्ष के भीतर सुन लेती है तो उसे पक्षिणी आशौच करना पडता है। यदि उपनयन सस्कार से युक्त भाई अपनी विवाहित बहिन के यहाँ या ऐसी बहिन अपने भाई के यहॉ मरती है तो तीन दिनो का आशौच होता है, किन्तु यदि वे एक–दूसरे के घर न मर कर कहीं और मरते है तो आशौच केवल एक दिन का होता है। अपने पितामह या चाचा के मरने पर विवाहित नारी केवल स्नान कर शुद्ध हो जाती है। यदि मामा मर जाता है तो भानजा एव भानजी एक पक्षिणी का आशौच माना जाता है। यदि मामा भानजे के घर मरता है तो भानजे के लिए आशौच तीन दिनों का, किन्तु यदि मामा का उपनयन नहीं हुआ हो या वह किसी अन्य ग्राम में मरता है तो एक दिन का आशौच होता है। यदि उपनयन सस्कृत भानजा मर जाय तो मामा एव मामी को तीन दिन का आशौच होता है। यदि बहिन की पुत्री मर जाय तो मामा को केवल स्नान करना पडता है। यदि नाना मर जाय तो नाती या नतिनी को तीन दिनों का आशौच लगता है। किन्तु यदि नाना किसी अन्य ग्राम में मरे तो उन्हें एक पक्षिणी का आशौच करना पड़ता है। नानी के मरने पर नाती एव नतिनी को एक पक्षिणी का आशौच लगता। दामाद के घर में श्वसुर या सास के मरने से दामाद को तीन दिनों का तथा अन्यत्र मरने से एक पक्षिणी का आशौच लगता है। दामाद की मृत्यु पर श्वसुर एवं सास एक दिन का आशौच करते हैं या केवल स्नान से शुद्ध हो जाते हैं, किन्तु ससुराल में मरने पर श्वसुर एव सास को तीन दिनों का आशौच करना पड़ता है। मौसी के मरने पर व्यक्ति (पुरूष या स्त्री) को एक पक्षिणी का आशौच करना चाहिए, यही नियम फूफी के मरने पर लागू होता है। किन्तु यदि फूफी पिता की

---

[1] वि०ध०सू० 22/32–34
[2] याज्ञ० 3/21

मनु, शख एव कूर्मपुराण का कथन है कि दस दिनो के उपरान्त मरण समाचार सुनने से भी तीन दिनो का आशौच लगता ही है, किन्तु यदि समाचार मृत्यु के एक वर्ष से अधिक अवधि के उपरान्त मिले तो स्नान के उपरान्त ही शुद्धि मिल जाती है।[1] जब कोई रात मे जन्म लेता है या मर जाता है या इन घटनाओ के समाचार रात मे प्राप्त होता है तो किस दिन से आशौच की अवधि की गणना की जानी चाहिए। इसके उत्तर मे दो मत हैं– एक मत यह है कि आधी रात के पूर्व का काल पूर्व दिन का सूचक होता है और उसके पश्चात् आने वाले दिन का माना जाता है दूसरा मत यह है कि रात्रि को तीन भागो मे बॉटा जाता है प्रथम दो भागो मे मृत्यु होने से दिन की गणना हो जाती है, किन्तु तीसरे भाग मे मृत्यु होने से दस दिनो की गणना आगे के दिन से आरम्भ होती है।

प्राचीन काल में दरिद्र ब्राह्मण के शव को ढोना प्रशसायुक्त कार्य समझा जाता रहा है। मनु ने कहा है कि यदि कोई ब्राह्मण स्नेहवश किसी असपिण्ड का शव ढोता है, यथा वह बन्धु हो, या जब मातृबन्धु (यथा मामा या मौसी) का शव ढोता है तो वह तीन दिनों के उपरान्त शुद्ध हो जाता है, किन्तु यदि वह उनके घर भोजन करता है जिनके यहाँ कोई मर गया हो तो वह दस दिनो मे पवित्र होता है किन्तु, यदि वह उनके घर में न रहता है और न वहॉ भोजन करता है तो वह एक दिन मे शुद्ध हो जाता है।[2] गौतम ने भी इस विषय मे कहा है कि सपिण्डों द्वारा मनाये जाने वाले आशौच से वे भिन्न हैं यथा– वह अस्पृश्य तो हो जाता है किन्तु अन्य नियमों का पालन नहीं करता , यथा पृथ्वी पर सोना आदि। यदि कोई लोभवश शव ढोता है तो इस विषय मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के लिए दस, बारह, पन्द्रह एव तीस दिनो का आशौच करना पड़ता है।[3] इसे निर्हाराशौच कहा जाता है। गौतम, मनु एव याज्ञवल्क्य के अनुसार किसी ब्राह्मण को किसी अन्य ब्राह्मण की शव यात्रा में नहीं सम्मिलित होना चाहिए, नही तो उसे स्नान करना पडेगा, अग्नि छूनी पडेगी और घृत पीना पड़ेगा, तब कहीं अशुद्धि से मुक्ति मिलेगी।[4] जनन–मरण से उत्पन्न आशौच वाले व्यक्ति अन्य व्यक्ति को नहीं छू सकते। यदि वे ऐसा करते हैं तो उन्हे प्रायश्चित्त (प्राजापत्य या सान्तपन) करना पडता है। यदि पत्नी पति को छोड़कर किसी अन्य व्यक्ति से अनैतिक शरीर सम्बन्ध स्थापित कर ले और वह व्यक्ति को पति की जाति या किसी उच्च जाति का हो तो स्त्री के मरने पर पति को एक दिन का आशौच होता है, किन्तु यदि उस पत्नी का सम्बन्ध किसी छोटी जाति के पुरुष के साथ हो गया हो तो उसके मरण पर आशौच नहीं करना पड़ता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार औरस पुत्र को छोड़कर अन्य पुत्रों (क्षेत्रज आदि) की मृत्यु पर एक दिन का आशौच करना होता है।[5]

---

[1] मनु0 5/76,शंख 15/12, कूर्मपुराण 23/21

[2] मनु0 5/101–102

[3] गौतम0 14/21–25

[4] गौतम0 14/29,मनु05/103,याज्ञ0 3/26

[5] याज्ञ0 3/25

आशौच सन्निपात या आशौच सम्पात (आशौच करते हुए व्यक्ति के यहाँ अन्य आशौच की जानकारी होने पर) के विषय मे गौतम ने कहा है कि ऐसी स्थिति मे प्रथम आशौच की समाप्ति पर ही दूसरे आशौच से शुद्धि प्राप्त हो जाती है।[1] गौतम, मनु, याज्ञवल्क्य, बौधायन विष्णु ने भी कहा है कि यदि दूसरा आशौच प्रथम आशौच की अन्तिम रात्रि मे आ पडता है तो प्रथम की समाप्ति के दो दिनो के पश्चात् शुद्धि हो जाती है, किन्तु यदि दूसरे का समाचार प्रथम के अन्तिम दिन की रात्रि के अन्तिम प्रहर मे पहुँचता है तो प्रथम की समाप्ति के तीन दिनो के पश्चात् शुद्धि प्राप्त हो जाती है।[2] यदि कोई मरण–जनित आशौच मनाया जा रहा हो और इसी बीच मे जनन–जनित आशौच हो जाय तो उत्पन्न पुत्र का पिता जातकर्म आदि करने के योग्य रहता है।

सद्य शौच (उसी दिन शुद्धि) के विषय मे याज्ञवल्क्य एव पराशर ने उसका अर्थ बताया है कि पूरे दिन या तीन दिनों या दस दिनों तक आशौच नहीं रहता, प्रत्युत स्नान करने तक या दिन समाप्ति तक या रात के अन्त तक या उस दिन तक, जिस दिन घटना घटित होती है रहता है।[3] विष्णु पुराण मे कहा गया है कि शिशु की मृत्यु पर, या देशान्तर में किसी की मृत्यु पर, या पतित या यति (सन्यासी) की मृत्यु पर, या जल, अग्नि या फाँसी लटकाकर मर जाने वाले आत्मघातक की मृत्यु पर सद्य शौच होता है।[4] याज्ञवल्क्य के मतानुसार यज्ञ के लिए वरण किये गये पुरोहितों को, जब उन्हें मधुपर्क दिया जा चुका हो, जनन या मरण की स्थिति मे सद्य शौच (स्नान द्वारा शुद्धि) करना पडता हैं। यही बात उन लोगो के लिए भी है जो सोमयाग जैसे वैदिक यज्ञों के लिए दीक्षित हो चुके हैं, जो किसी दानगृह मे भोजन दान करते हैं, जो चान्द्रायण जैसे व्रत या स्नातकतधर्म–पालन मे लगे रहते हैं, जो ब्रह्मचारी (आश्रम के कर्त्तव्यो मे सलग्न) हैं, जो प्रतिदिन गौ, सोने आदि के दान मे लगे रहते हैं(दान के समय), जो ब्रह्मचारी (सन्यासी) हैं, दान देते समय, विवाह, वैदिक यज्ञों, युद्धों, (आक्रमण के कारण) देश में विप्लव के समय तथा दुर्भिक्ष या आपत्काल मे (जब कि प्राणरक्षा के लिए कोई कहीं भी भोजन कर सकता है) सद्य शौच होता है।[5] गौतम ने कहा है कि राजाओं (नहीं तो उनके कर्त्तव्यो में बाधा पड़ेगी) एव ब्रह्मणों (नहीं तो उनके शिक्षण कार्य अवरुद्ध हो जायेंगे) के लिए सद्य शौच होता है।[6] मनु ने कहा है कि ब्रह्मचारी अपने आचार्य, अध्यापक, पिता, माता और गुरु के शव को बाहर निकालकर (दाह, दशाह और श्राद्ध करके भी) व्रती ब्रह्मचारी व्रत से भ्रष्ट नहीं होता है।[7] किन्तु यदि वह उपर्युक्त पॉच व्यक्तियों को छोड़कर किसी अन्य के लिए वैसा करता है तो उसे दस दिनो का आशौच एव प्रायश्चित्त करना पडता है और पुनः उपनयन सस्कार करना होता है। मनु एव याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी है कि उन लोगों को भी, जो मृत्यु के आशौच से युक्त हैं, श्रौताग्नियों के कृत्यों को

---

[1] गौतम0 14/5
[2] गौतम0 14/5–6, मनु0 5/79,याज्ञ0 3/20, बौधा0 धा0 सू0 1/5/123,विष्णु0 2/35–38
[3] याज्ञ0 3/29, पराशर 3/10
[4] विष्णु पुराण0 3/13/7
[5] याज्ञ0 3/28–29
[6] गौतम0 14/43–44
[7] मनु0 5/91

नही बन्द करना चाहिए, प्रत्युत उन्हे स्वय करते रहना चाहिए या किसी अन्य से कराते रहना चाहिए।[1] गौतम ने व्यवस्था दी है कि उनके लिए सद्य शौच होता है जो आत्महत्या होते है और अपने प्राण महायात्रा (हिमालय आदि मे जाकर), उपवास, कृपाण जैसे अस्त्रो, अग्नि, विष या जल से या फॉसी पर लटक जाने से (रस्सी से झूलकर) या प्रपात से गवॉ देते है।[2] याज्ञवल्क्य के मतानुसार वे स्त्रियॉ जो पाखण्ड धर्मावलम्बी अथवा विधर्मी हो गयी है, जो किसी विशिष्ट आश्रम मे नही रहती, जो (सोने आदि की) चोरी करती हैं, जो पतिहीन होती है जो व्यभिचारिणी होती है, जो मद्य पीती है, जो आत्महत्या करने का प्रयत्न करती हैं, वे मरने पर जल–तर्पण के अयोग्य होती है और उनके लिए आशौच नही किया जाता है।[3] यही बात मनु ने भी कही है।[4]

आशौच नियमो के अपवाद नियम (जिसमे व्यक्ति आशौच करना अनिवार्य नही मानता है) के विषय मे गौतम ने कहा है कि सपिण्ड लोग उन लोगो के लिए, जो गौओ एव ब्राह्मणो के लिए मर जाते है जो राजा के क्रोध के कारण मार डाले जाते हैं और जो रणभूमि मे मर जाते है, अशौच नही मानते, केवल सद्य शौच करते है।[5] मनु ने भी कहा है कि सपिण्ड लोग उनके लिए, जो डिम्बाहन (शस्त्र रहित झगडे या दगे) मे, बिजली से या राजा द्वारा (किसी अपराध के कारण), गो ब्राह्मण–रक्षा मे, क्षत्रिय के समान रणभूमि मे तलवार से मार डाले जाते हैं, आशौच नहीं मानते और वे लोग भी जिन्हे राजा (अपने कार्यवश) ऐसा करने नही देना चाहता, आशौच नही मानते।[6] दक्ष ने कहा है कि आशौच के सभी नियम तभी प्रयुक्त होते हैं, जबकि काल स्वस्थ एव शान्तिमय हो, किन्तु जब व्यक्ति आपद्ग्रस्त हो तो सूतक नही रहता, अर्थात् तब आशौच का प्रयोग या बलपूर्वक प्रवर्तन नहीं होता।[7] विष्णु धर्मसूत्र मे कहा गया है कि आशौचावधि के उपरान्त ग्राम के बाहर जाना चाहिए, बाल बनवाने चाहिए, तिल या सफेद सरसो के उबटन से शरीर मे लेप करके स्नान करना चाहिए और वस्त्र परिवर्तन कर घर मे प्रवेश करना चाहिए। इसके उपरान्त शान्तिकृत्य करके ब्राह्मण पूजन करना चाहिए।[8]

शुद्धि के अन्य स्वरूप द्रव्य शुद्धि (किसी वस्तु मे लगे हुए दोष का दूरीकरण) के विषय में भी विचार किया गया है। शरीर शुद्धि एव बाह्य द्रव्य शुद्धि से यह दो प्रकार की है। मनु के मतानुसार शुद्धि के प्रकारों में मानसिक शुद्धि सर्वश्रेष्ठ धन है, जो धन की ओर से शुद्ध है, अर्थात् जो अन्यायपूर्ण साधनों से दूसरे का धन नहीं हडपता, वह सचमुच पवित्र है और अपेक्षाकृत उससे भी अधिक शुद्ध है जो जल एव मिट्टी से शुद्धता प्राप्त करता

---

[1] मनु0 5/84, याज्ञ0 3/17
[2] गौतम0 14/11
[3] याज्ञ0 3/6
[4] मनु0 5/80–90
[5] गौतम0 14/8–10,
[6] मनु0 5/95 एवं 98
[7] दक्ष – 6/15
[8] विष्णु ध0सू0 19/18–19

है।[1] विष्णु ने भी यही बात कही है कि किन्तु उन्होने अर्थ (धन) के स्थान पर अन्न रखा है।[2] आपस्तम्ब का कथन है कि छोटे–छोटे बच्चे रजस्वला स्त्री के स्पर्श से अशुद्ध नही होते, जब तक उनका अन्नप्राशन नही हो गया रहता या एक वर्ष तक या जब तक उन्हे दिशा–ज्ञान नही हो जाता।[3] मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु एव बौधायन का कहना है कि निम्नलिखित वस्तुएँ सदा शुद्ध रहती है– जो वस्तु शुद्ध होती न देखी गयी हो, जो पानी से स्वच्छ कर दी जाती है, जिसे ब्राह्मण शुद्ध कह दे (जबकि सन्देह उत्पन्न हो गया हो), किसी (पवित्र) स्थल पर एकत्र जल, जो देखने मे किसी अपवित्र पदार्थ से अशुद्ध न कर दिया गया हो, जो मात्रा मे इतना हो कि कोई गाय अपनी प्यास बुझा सके और जो गध, रग एव स्वाद मे (शुद्ध) जल की भॉति हो, शिल्पी का हाथ (धोबी या रसोइया का हाथ जब कि वे अपने कार्यों में सलग्न हो) बाजार मे खुले रूप मे बिकने वाले पदार्थ, यथा यव (जौ) एव गेहूँ (जिन्हे क्रय करने वालों ने चाहे छू भी लिया हो ), भिक्षा (जिसे ब्रह्मचारी ने मार्ग मे घर–घर से एकत्र किया हो), सभोग के समय स्त्री का मुख, कुत्तो, चण्डालो एव मास भक्षी से छीना गया पशु मास, (सूर्य की) किरणें, अग्नि, धूलि, (वृक्ष आदि की) छाया, गाय, अश्व, भूमि, वायु, ओस, मक्खियॉ, गाय दुहते समय बछडा– ये (अन्तिम) किसी व्यक्ति का स्पर्श हो जाने पर भी शुद्ध रहते है।[4] यह भी कहा गया है कि कुछ पक्षी एव पशु या तो शुद्ध होते हैं या उनके कुछ शरीर भाग शुद्ध माने जाते हैं याज्ञवल्क्य के मतानुसार बकरियों एव अश्वों का मुख शुद्ध होता है किन्तु गायो का मुख नहीं।[5] बौधायन ने कहा है कि अपने बिस्तर,, वस्त्र, पत्नी, बच्चा, जलपात्र अपने लिए शुद्ध होते हैं, किन्तु अन्य लोगो के लिए अशुद्ध हैं।[6] मनु, याज्ञवल्क्य एव विष्णु ने यह भी कहा है कि जब बहुत से वस्त्र एव अन्नो की ढेरी अपवित्र हो गयी हो तो जल छिड़कने से शुद्ध हो जाता है, किन्तु जब सख्या या मात्रा कम हो तो जल से धो लेना चाहिए।[7] गौतम, मनु विष्णु एव याज्ञवल्क्य ने नियम दिया है कि द्रव्यो एव गन्दी वस्तु से लिप्त शरीर को शुद्ध करने के लिए जल एव मिट्टी का प्रयोग तब तक करते रहना चाहिए जब तक गन्ध एव गन्दी वस्तु दूर न हो जाय।[8] याज्ञवल्क्य के मतानुसार काल (आशौच के लिए दस दिन या एक मास), अग्नि, धार्मिक कृत्य (अश्वमेध या सन्ध्या करना), मिट्टी, वायु, मन, आध्यात्मिक ज्ञान, (कृच्छ्र जैसे) तप, जल, पश्चात्ताप एवं उपवास ये सभी शुद्धि के कारण हैं। जो लोग वर्जित कर्म करते हैं उनके द्वारा दान देना शुद्धि का द्योतक है, नदी के लिए जल प्रवाह, मिट्टी एव जल अशुद्ध वस्तुओं की शुद्धि के साधन हैं, द्विजों के लिए सन्यास, अज्ञानवश पाप करने पर वेदज्ञों के लिए तप, आत्मज्ञों के लिए सहनशीलता, गंदे शरीरांगों के लिए

---

[1] मनु0 5/106
[2] विष्णु0 22/89
[3] आप0ध0सू0 2/6/15/17–20
[4] मनु0 5/127–133, याज्ञ0 1/186, 191–193, विष्णु0 23/47–52, बौ0ध0 1/5/56–57
[5] याज्ञ0 1/194
[6] बौध0ध0सू0 1/5/61
[7] मनु0 5/118, याज्ञ0 1/184, विष्णु0 23/13
[8] गौतम0 1/45–46, मनु0 5/126, विष्णु0 23/39, याज्ञ0 1/191

जल, गुप्त पापो के लिए वैदिक मन्त्रो का जप, पापमय विचारो से अशुद्ध मन के लिए सत्य, जो अपने शरीर से आत्मा को सयुक्त मानते हैं उनके लिए तप एव गूढ ज्ञान, बुद्धि के लिए सम्यक् ज्ञान शुद्धि के स्वरूप है, ईश्वर ज्ञान, आत्मा का सर्वोत्तम शुद्धि साधन है। शुद्धि के साधन के विषय मे मनु ने कहा है कि झाडू से बुहारना, गोबर से लेपना, जल छिडकाव, खोदना (एव निकाल बाहर करना) और उस पर (एक दिन एव रात) गायो को रखना पॉच साधन हैं विष्णु ने छठा साधन दाह (कुछ जला देना) जोड दिया। याज्ञवल्क्य ने दाह एव काल को जोडकर सात साधन बताया है।[1] ब्राह्मण का घर, मन्दिर, गोशाला की भूमि, सदा शुद्ध मानी जानी चाहिए जब तक कि वे अशुद्ध न हो जायॅ।

याज्ञवल्क्य एव विष्णु का मत है कि अशुद्ध घर को झाडू–बहारू एव गोबर से लीपकर शुद्ध किया जाता है किन्तु ब्राह्मण के घरो मे यदि कुत्ता, शूद्र, पतित, म्लेच्छ या चाण्डाल मर जाय तो शुद्धि के कठिन नियम बरते जाते थे। घर को बहुत दिनो तक छोड देना होता है। मिट्टी (कीचड) एव जल जो सडक पर चाण्डाल जैसी जातियों, कुत्तों एव कौओं के सम्पर्क मे आता है तथा मठ जैसे मकान जो ईटों से बने रहते हैं, केवल उन पर बहने वाली हवा से शुद्ध हो जाते हैं।[2]

धातुओं एव पात्रों की शुद्धि के विषय में मनु ने कहा है कि सोना आदि धातुयें, मरकत जैसे रत्न एव पत्थर के अन्य पात्र राख, जल एव मिट्टी से शुद्ध हो जाते हैं, सोने की वस्तुएँ (जो जूठे भोजन आदि से गन्दी नही हो गयी हैं) केवल जल से ही पवित्र हो जाती हैं।[3] यही बात उन वस्तुओ के साथ भी पायी जाती है जो जल से प्राप्त होती है, या जो पत्थर से बनी होती हैं या चॉदी से बनी होती हैं और जिन पर शिल्पकारी नहीं हुई रहती है। सोना चॉदी जल एव तेज से उत्पन्न होते हैं अत उनकी शुद्धि उनके मूलभूत कारणों से ही होती है। विष्णु के मतानुसार सभी धातुपात्र जब अत्यन्त अशुद्ध हो जाते हैं तो वे तपाने से शुद्ध हो जाते हैं, किन्तु अत्यन्त अशुद्ध लकडी एव मिट्टी के पात्र त्याग देने चाहिए।[4] याज्ञवल्क्य का कथन है कि कम अशुद्ध हुए काष्ठपात्र तक्षण (छीलने ) से या मिट्टी, गोबर या जल से स्वच्छ हो जाते हैं और मिट्टी के पात्र यदि अधिक अशुद्ध नहीं हुए रहते तो तपाने से शुद्ध हो जाते हैं।[5] वसिष्ठ का मत है कि सुरा, मूत्र, मल, बलगम (श्लेष्मा), ऑसू, पीव व रक्त से अशुद्ध हुए मिट्टी के पात्र अग्नि में तपाने पर भी शुद्ध नहीं होते हैं।[6] वैदिक यज्ञों में प्रयुक्त पात्रों एव वस्तुओं की शुद्धि के विषय में मनु, याज्ञवल्क्य विष्णु एव शख का मत है कि यज्ञ पात्रों को सर्वप्रथम दाहिने हाथ (या दर्भ या छन्ने से) से रगडना चाहिए और तब चमस एव प्याले यज्ञ में व्यवहृत होने के पश्चात्

---

[1] मनु0 5/124, विष्णु0 23/57, याज्ञ0 1/88
[2] याज्ञ0 1/187, 197 विष्णु0 23/56, 23/41
[3] मनु0 5/113
[4] विष्णु0 23/2 एवं 5
[5] याज्ञ0 1/187
[6] वसिष्ठ0 3/59

जल से धोये जाते है, चरु स्थाली (जिसमे आहुति के लिए भात की हवि बनायी जाती है), स्रुव (काठ का करछुल जिससे यज्ञिय अग्नि मे घृत डाला जाता है) एव स्रुचि (अर्धवृत–मुखी काठ का करछुल) गर्म जल से शुद्ध किये जाते है, स्फ्य (काठ की तलवार), सूर्य, शकट (जिसके द्वारा सोम के पौधे लाये जाते हैं) मूसल, (ओखली) ऊखल जल से स्वच्छ किये जाते हैं।[1] मनु के मत मे द्रव (तरल पदार्थ, यथा–तेल, घी आदि) की शुद्धि (जब वह थोडी मात्रा मे हो) उसमे दो। कुशो को डाल देने से (या दूसरे पात्र मे छान देने से) शुद्ध हो जाती है, किन्तु यदि मात्रा अधिक हो तो जलमार्जन पर्याप्त है।[2] परिधानों की शुद्धि के विषय मे मनु याज्ञवल्क्य एव विष्णु ने व्यवस्था दी है कि रेशमी एव ऊनी वस्त्र लवण युक्त (क्षार) जल से स्वच्छ करना चाहिए (गोमूत्र एव जल से भी), नेपाली कम्बल रीठे से, छाल से बने वस्त्र, बेल के फल से एव क्षौम पट या सन से बने वस्त्र श्वेत सरसो के लेप से स्वच्छ करना चाहिए।[3] इससे यह स्पष्ट है कि वस्तुओ की शुद्धि धातु या मिट्टी की, वे कठोर हैं या तरल, वे अधिक मात्रा मे है या थोडी या ढेरी मे है, अशुद्धि अत्यधिक है या साधारण इन बातो पर निर्भर है।

## 2. श्राद्धः

जो कुछ उचित काल, पात्र एव स्थान के अनुसार उचित (शास्त्रानुमोदित) विधि द्वारा पितरों को लक्ष्य करके श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणो को दिया जाता है वह श्राद्ध कहलाता है। कल्पतरु में श्राद्ध को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि पितरो को उद्देश्य करके (उनके लाभ के लिए) यज्ञिय वस्तु का त्याग एव ब्राह्मणों द्वारा उसका ग्रहण प्रधान श्राद्ध स्वरूप है। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि पितर लोग यथा–वसु, रूद्र एव आदित्य, जो श्राद्ध के देवता हैं, श्राद्ध से सन्तुष्ट होकर मानवों के पूर्व पुरुषों को सन्तुष्टि देते हैं।[4] मनु ने भी कहा है कि मनुष्य के तीन पूर्वज, यथा–पिता, पितामह एव प्रपितामह क्रम से पितृ– देवों, अर्थात्, वसुओ, रूद्रों एव आदित्यों के समान हैं और श्राद्ध करते समय उनको पूर्वजों का प्रतिनिधि मानना चाहिए।[5] याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार मिताक्षरा ने श्राद्ध को परिभाषित करते हुए कहा है कि पितरों का उद्देश्य करके (उनके कल्याण के लिए) श्रद्धापूर्वक किसी वस्तु का या उनसे सम्बन्धित किसी द्रव्य का त्याग श्राद्ध है।[6] याज्ञवल्क्य में आया है कि पितामह लोग (पितर) श्राद्ध में दिये गये पिण्डों से स्वय सन्तुष्ट होकर अपने वशजों के जीवन, सतति, सम्पत्ति, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष, सभी सुख एव राज्य देते हैं।[7] शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि यज्ञकर्त्ता के पिता को दिया गया भोजन इन

---

[1] मनु0 5/116–117, याज्ञ0 1/183–185, विष्णु 23/8–11, शंख 16/6
[2] मनु0 5/115
[3] मनु0 5/120–121, याज्ञ0 1/186–187, विष्णु0 23/19–22
[4] याज्ञ0 1/268
[5] मनु0 3/284
[6] मिताक्षरा – याज्ञ0 1/217
[7] याज्ञ0 1/269

शब्दो मे कहा जाता है– यह तुम्हारे लिए है। विष्णु ने भी कहा है कि जिसका पिता मृत हो गया हो वह अपने पिता के लिए एक पिण्ड रख सकता है।[1]

वैदिक उक्तियो से ज्ञात होता है कि पितर लोग जीवित लोगो को लाभ एव हानि दोनो दे सकते हैं। बौधायन ने एक ब्राह्मण ग्रन्थ से निष्कर्ष निकाला है कि पितर लोग पक्षियो के रूप मे विचरण करते हैं।[2] वायु पुराण मे कहा गया है कि श्राद्ध के समय पितर लोग (आमन्त्रित) ब्राह्मणो मे वायु रूप से प्रविष्ट हो जाते हैं और जब योग्य ब्राह्मण वस्त्रो, अन्नो, प्रदानो, भक्ष्यो, पेयो, गायो, अश्वो, ग्रामो आदि से सम्पूजित हो जाते हैं तो वे प्रसन्न होते हैं।[3] विष्णु धर्मसूत्र मे आया है– चाहे मृतात्मा श्राद्ध मे 'स्वधा' के साथ प्रदत्त भोजन का पितृलोक मे रसास्वादन करता है, चाहे मृतात्मा (स्वर्ग में) देव के रूप मे हो, या नरक मे हो (यातनाओ के लोक मे हो), या निम्न पशुओ की योनि मे हो, या मानव रूप में हो, सम्बन्धियों द्वारा श्राद्ध मे प्रदत्त भोजन उसके पास पहुँचता हैं, जब श्राद्ध सम्पादित होता है तो मृतात्मा एव श्राद्धकर्त्ता दोनो को तेज या सम्पत्ति या समृद्धि प्राप्त होती है।[4] ऋग्वेद में आया है कि शरीर के दाह के उपरान्त मृतात्मा को वायव्य शरीर प्राप्त होता है और वह मनुष्यो को एकत्र करने वाले यम एव पितरों के साथ हो लेता है।[5] तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऐसा आया है कि पितर लोग इससे आगे तीसरे लोक में निवास करते हैं।[6] इसका अर्थ यह है कि भूलोक एव अन्तरिक्ष के उपरान्त पितृलोक आता है। मनु के अनुसार ब्राह्मणों के पितर अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात् एवं सौम्य नामों से पुकारे जाते हैं।[7] मनु ने यह भी कहा है कि ऋषियों से पितरो की उदभूति हुई, पितरों से देवों एव मानवों को तथा देवों से स्थावर एव जगम के सम्पूर्ण लोक की उदभूति हुई।[8] यद्यपि देव एव पितर पृथक कोटियों में रखे गये हैं, तथापि पितर लोग देवो की कुछ विशेषताओं को अपने मे रखते हैं ऋग्वेद मे कहा गया है कि पितर सोम पीते हैं। पितरो ने आकाश को नक्षत्रो से सुशोभित किया और अधकार रात्रि मे एव प्रकाश दिन में रखा। पितरों को गुप्त प्रकाश प्राप्त करने वाला कहा गया है और उन्हे उषा को उत्पन्न करने वाला द्योतित किया गया है।[9] शतपथब्राह्मण मे आया है कि तीनों पूर्व पुरुष स्वधाप्रेमी होते हैं।[10]

आपस्तम्ब मे कहा गया है कि प्राचीन समय में मनुष्य एव देव इसी लोक में रहते थे। देव लोग यज्ञों के कारण (पुरस्कारस्वरूप) स्वर्ग चले गये। किन्तु मनुष्य रह गये। जो मनुष्य देवों के समान यज्ञ करते हैं वे परलोक

---

[1] विष्णु0 75/4
[2] बौ0ध0सू0 2/8/14
[3] वायु पुराण – 75/13–15
वि0ध0सू0 20/34–36
ऋ0 10/14/1 एवं 8, 10/15/14, 10/16/5
तैत्ति ब्रा0 1/3/10/5
मनु0 3/199
मनु0 3/201
ऋ0 10/15/8, 10/68/11, 7/76/3
[10] शत0ब्रा0 12/8/1/7

(स्वर्ग) मे देवो एव ब्रह्म के साथ निवास करते हैं।[1] तब (मनुष्यो के पीछे रहते देखकर) मनु ने उस कृत्य का आरम्भ किया जिसे श्राद्ध की सज्ञा मिली है जो मानव जाति को श्रेय (मुक्ति या आनन्द) की ओर ले जाता है। इस कृत्य मे पितर लोग देवता (अधिष्ठाता) हैं, किन्तु ब्राह्मण लोग (जिन्हे भोजन दिया जाता है) आह्वनीय अग्नि (जिसमे यज्ञो के समय आहुतियॉ दी जाती हैं) के स्थान पर माने जाते है। बौधायन का कथन है कि पितरो के कृत्यो से दीर्घ आयु, स्वर्ग, यश एव पुष्टिकर्म (समृद्धि) की प्राप्ति होती है।[2] याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि मनुष्यो के पितामह अर्थात् पितर लोग प्रसन्न होकर दीर्घ जीवन, सन्तान, धन, विद्या, मोक्ष, सुख और राज्य प्रदान करते है।[3]

श्राद्ध शब्द श्रद्धा से बना हुआ है। श्राद्ध एव श्रद्धा मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्राद्ध मे श्राद्धकर्त्ता का यह विश्वास रहता है कि मृत या पितरो के कल्याण के लिए ब्राह्मणो को जो कुछ दिया जाता है वह उसे या उन्हें किसी प्रकार अवश्य मिलता है। पाणिनि ने 'श्राद्धिन', एव श्राद्धिक को वह जिसने श्राद्ध भोजन कर लिया हो के अर्थ में निश्चित किया है।[4] मनु ने कहा है कि श्रद्धा युक्त मनुष्य विधिपूर्वक सम्यक–प्रकार से जो–जो अन्न देता है अर्थात् श्राद्ध करता है, वह–वह परलोक में पितरों के लिए अक्षय (तृप्तिकारक) होता है।[5] मार्कण्डेय एव स्कन्दपुराण में श्राद्ध का सम्बन्ध श्रद्धा से द्योतित किया गया है और कहा गया है कि श्रद्धा में जो कुछ दिया जाता है वह पितरों द्वारा प्रयुक्त होने वाले उस भोजन में परिवर्तित हो जाता है जिसे वे कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार नये शरीर के रूप मे पाते हैं। इसमें यह भी कहा गया है कि अनुचित एव अन्यायपूर्ण ढग से प्राप्त धन से जो श्राद्ध किया जाता है वह चाण्डाल, पुल्कस तथा अन्य नीच योनियों में उत्पन्न लोगों की सन्तुष्टि का साधन होता है।[6]

श्राद्धाधिकारियो अर्थात्, श्राद्ध करने के योग्य या अधिकारियो के विषय में विष्णु धर्म सूत्र में कहा गया है कि जो कोई मृतक की सम्पत्ति लेता है उसे उसके लिए श्राद्ध करना चाहिए, अन्य लोगों का मत है कि जो भी कोई श्राद्ध करने की योग्यता रखता है अथवा श्राद्ध का अधिकारी है वह मृतक की सम्पत्ति ग्रहण कर सकता है। मनु के व्याख्याकार मेघातिथि ने कहा है कि अल्पवयस्क पुत्र भी, यद्यपि अभी वह उपनयनविहीन होने के कारण वेदाध्ययनरहित है, अपने पिता को जल तर्पण कर सकता है, नवश्राद्ध कर सकता है किन्तु श्रौताग्नियों या गृह्यग्नियो के अभाव मे वह पार्वण जैसे श्राद्ध नहीं कर सकता।[7] मनु, वसिष्ठ एव विष्णु के मतानुसार पुत्र के जन्म से व्यक्ति लोको (स्वर्ग आदि) की प्राप्ति करता है, पौत्र से अमरता प्राप्त करता है और प्रपौत्र से वह सूर्यलोक

---

[1] आप०ध०सू० 2/7/16/1–3
[2] बौ०ध०सू० 2/8/1
[3] याज्ञ० 1/270
[4] पाणिनि – 5/2/85
[5] मनु० 3/275
[6] मार्कण्डेय० 29/27, 28/16, स्कन्द० 7/1/205/22
[7] मेघातिथि मनु० 2/172

पहुँच जाता है।[1] इससे यह ज्ञात होता है कि व्यक्ति कि तीन वशज समान रूप से व्यक्ति को आध्यात्मिक लाभ पहुँचाते है। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि अपने पुत्र, पौत्र एव प्रपौत्र से व्यक्ति वश की अविच्छिन्नता एव स्वर्ग प्राप्त करता है।[2] मनु ने भी यही मत दिया है कि पुत्र के जन्म से व्यक्ति के पूर्वजो के प्रति अपने ऋणो को चुकाता है।[3] याज्ञवल्क्य के मत मे पिता के मृत हो जाने पर पुत्र और पौत्र उसके द्वारा लिया गया ऋण देना चाहिए।[4]

नित्य, नैमित्तिक एव काम्य श्राद्ध (सभी कृत्य) को तीन कोटियो मे विभाजित किया गया है। आपस्तम्ब ने श्राद्ध के लिए निश्चित कालो की व्यवस्था दी है यथा– इसका सम्पादन प्रत्येक मास के अन्तिम पक्ष में हो जाना चाहिए, अपराह्न को श्रेष्ठता मिलनी चाहिए और पक्ष के आरम्भिक दिनो की अपेक्षा अन्तिम दिनों को अधिक महत्त्व देना चाहिए।[5] गौतम एव वसिष्ठ ने कहा है कि श्राद्ध प्रत्येक मास के कृष्ण पक्ष मे चतुर्थी को छोडकर किसी भी दिन किया जा सकता है।[6] गौतम ने पुन कहा है कि यदि विशिष्ट रूप में उचित सामग्रियॉ या पवित्र ब्राह्मण उपलब्ध हों या कर्त्ता किसी पवित्र स्थान( यथा–गया) मे हो तो श्राद्ध किसी भी दिन किया जा सकता है।[7] मनु ने व्यवस्था दी है कि मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को छोडकर दशमी से आरम्भ करके किसी भी दिन श्राद्ध किया जा सकता है, किन्तु यदि कोई चान्द्र समतिथि (दशमी एव द्वादशी) और सम नक्षत्रो (भरणी, रोहिणी आदि) में श्राद्ध करे तो उसकी इच्छाओं की पूर्ति होती है, किन्तु जब कोई विषम तिथि (एकादशी, त्रयोदशी आदि) में पितृ पूजा करता है और विषम नक्षत्रो (कृत्तिका, मृगशिरा आदि) मे ऐसा करता है तो भाग्यशाली सतति प्राप्त करता है। जिस प्रकार मास कृष्ण पक्ष शुक्ल पक्ष की अपेक्षा अच्छा समझा जाता है उसी प्रकार अपराह्न को माध्याह्न से अच्छा माना जाता है।[8] याज्ञवल्क्य एव कूर्म पुराण ने एक स्थान पर श्राद्ध सम्पादन के कालों को निम्न रूप मे रखा है– अमावस्या, अष्टका दिन, शुभ दिन (यथा पुत्रोत्पत्ति दिवस) मास का कृष्ण पक्ष, दोनों अयन (वे दोनो दिन जब सूर्य उत्तर से दक्षिण की ओर जाना आरम्भ करता है) पर्याप्त सम्भारों (भात, दाल या मास आदि सामाग्रियों) की उपलब्धि, किसी योग्य ब्राह्मण का आगमन, विषुवत रेखा पर सूर्य का आगमन, एक राशि से दूसरी राशि में जाने वाले सूर्य का दिन, व्यतीपात, गजच्छाया नामक ज्योतिष सधियाँ, चन्द्र और सूर्य ग्रहण तथा जब कर्मकर्त्ता के मन में तीव्र इच्छा का उदय (श्राद्ध के लिए) हो गया हो यही काल श्राद्ध सम्पादन के हैं।[9] विष्णु धर्मसूत्र में कहा गया है कि वर्णित दिनों में किये जाने वाले श्राद्ध नैमित्तिक हैं और जो विशिष्ट तिथियों एव

---

[1] मनु0 9/137, वसिष्ठ0 17/5, विष्णु 15/16
[2] याज्ञ0 1/78
[3] मनु0 9/106
[4] याज्ञ0 2/50
[5] आप0ध0सू0 2/7/16/4–7
[6] गौतम0 15/3, वसिष्ठ 11/16
[7] गौतम0 15/5
[8] मनु0 3/276–278
[9] याज्ञ0 1/217–218 कूर्म पु0 2/20/2–8

सप्ताह के दिनो मे कुछ निश्चित इच्छाओ की पूर्ति के लिए किये जाते है, वे काम्य श्राद्ध कहे जाते हैं।[1] आपस्तम्ब, मनु एव विष्णु के अनुसार रात्रि, सन्ध्या (गोधूलि– काल), या जब सूर्य का तुरन्त उदय हुआ हो तब– ऐसे कालो मे श्राद्ध का सम्पादन नही करना चाहिए, किन्तु चन्द्रग्रहण के समय छूट होती है।[2] ग्रहण के समय किया गया श्राद्ध पितरो को तब तक सन्तुष्ट करता है जब तक चन्द्र एव तारो का अस्तित्व है और कर्त्ता की सभी सुविधाओ एव सभी इच्छाओ की पूर्ति होती है।

श्राद्ध स्थल के विषय मे मनु ने व्यवस्था दी है कि कर्त्ता को प्रयास करके दक्षिण की ओर ढालू भूमि खोजनी चाहिए, जो पवित्र हो और जहॉ मनुष्य अधिकतर न जाते हो, उस भूमि को गोबर से लीप देना चाहिए, क्योकि पितर लोग वास्तविक स्वच्छ स्थलों, नदी, तटो एव उस स्थान पर किये गये श्राद्ध से प्रसन्न होते हैं जहॉ लोग बहुधा कम जाते हैं।[3] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि श्राद्ध स्थल चतुर्दिक् से आवृत, पवित्र एव दक्षिण की ओर ढालू होनी चाहिए।[4] गौतम ने यह भी व्यवस्था दी है कि कुत्तो, चाण्डालों एव महापातकों के अपराधियों से देखा गया भोजन अपवित्र हो जाता है, इसलिए श्राद्ध– कर्म घिरे हुए स्थल मे किया जाना चाहिए, या कर्त्ता को उस स्थल के चतुर्दिक तिल बिखेर देने चाहिए या किसी योग्य ब्राह्मण को, जो अपनी उपस्थिति से पक्ति को पवित्र कर देता है, उस दोष (कुत्ता या चाण्डाल द्वारा देखे गये भोजन आदि दोष) को दूर करने के लिए शान्ति का सम्पादन करना चाहिए।[5] आपस्तम्ब ने कहा है कि विद्वान लोगो ने कुत्तो, पतितों, कोढी, खल्वाट व्यक्ति, परदारा से यौन सबघ रखने वाले व्यक्ति, आयुधजीवी ब्राह्मण के पुत्र तथा शूद्र से उत्पन्न ब्राह्मणपुत्र द्वारा देखे गये श्राद्ध की भर्त्सना की है– यदि ये लोग श्राद्ध–भोजन करते हैं तो वे उस पक्ति में बैठकर खाने वाले व्यक्तिओं को अशुद्ध कर देता है। मनु ने कहा है कि चाण्डाल, गॉव के सूअर या मुर्गा, कुत्ता, रजस्वला एव क्लीब को भोजन करते समय ब्राह्मण को दखने की अनुमति नहीं मिलनी चाहिए। इन लोगो द्वारा यदि होम (अग्निहोत्र), दान (गाय एव सोने का) कृत्य देखा लिया जाय, या जब ब्राह्मण भोजन कर रहे हों तब या किसी धार्मिक कृत्य (दर्श– पूर्णमास आदि) के समय श्राद्ध के समय ऐसे लोगों की दृष्टि पड जाय तो सब कुछ फलहीन हो जाता है। सूअर देवों या पितरो के लिए अर्पित भोजन को केवल सूँघकर, मुर्गा भागता हुआ या उडता हुआ, कुत्ता केवल दृष्टि निक्षेप से एव नीच जाति स्पर्श से (उस भोजन को) अशुद्ध कर देते है। यदि कर्त्ता का नौकर लँगड़ा, अधिक या कम अगवाला हो तो उसे श्राद्ध सम्पादन स्थल से बाहर कर देना चाहिए।[6]

---

[1] विष्णु घ0सू0 77/1–6
[2] आप0घ0सू0 7/17/23–25, मनु0 3/280, वि0घ0सू0 77/8–9
[3] मनु0 2/206–207
[4] याज्ञ0 1/227
[5] गौतम0 15/25–28
[6] मनु0 3/239–242

## 3. श्राद्धों का वर्गीकरण :

नित्य, नैमित्तिक एव काम्य तथा एकोद्दिष्ट एव पार्वण के रूप मे श्राद्धो का वर्गीकरण किया गया है इसमे नित्य नैमित्तिक एव काम्य मृत व्यक्ति के लिए किया जाता है और एकोद्दिष्ट एव पार्वण अमावस्या, या आश्विन कृष्ण पक्ष मे या सक्रान्ति पर किया जाता है। मनु ने नित्य, नैमित्तिक, काम्य वृद्धि एव पार्वण श्राद्धो की पॉच कोटियॉ कही हैं। मनु ने अहरह श्राद्ध को वह श्राद्ध माना है है जो प्रतिदिन भोजन (पके हुए चावल या जौ आदि) या जल या दूध, फलो एव मूलों के साथ किया जाता है।[1] बहुत से ग्रन्थों मे श्राद्ध के अनेक प्रकार बताये गये हैं।

श्राद्ध का कर्त्ता चाहे जो भी हो, श्राद्ध भोजन के लिए आमत्रण पाने के अधिकारी केवल ब्रह्मण ही होते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र तथा गृहसूत्र, गौतम एव बौधायन गृहसूत्र मे कहा गया है कि आमत्रित ब्राह्मणों को वेदज्ञ् अत्यन्त सयमी (क्रोध एव वासनाओं से मुक्त तथा मन एव इन्द्रियो पर संयम करने वाले) एव शुद्धाचरण वाले, पवित्र होना चाहिए और उन्हें न तो किसी अग से हीन होना चहिए और न ही अधिक अग वाला होना चाहिए।[2] मनु ने कहा है कि श्राद्ध–भोजन में मित्र नहीं बुलाना चाहिए, ( अन्य अवसरों पर) बहुमूल्य दान देकर व्यक्ति किसी को मित्र बना सकता है। श्राद्ध के समय ऐसे ब्राह्मण को आमन्त्रित करना चाहिए जो न मित्र हों न शत्रु जो व्यक्ति केवल मित्र बनाने के लिए श्राद्ध करता है और देवार्पण करता है, वह उन श्राद्धों या अर्पणों द्वारा मृत्यु के उपरान्त कोई फल नही पाता।[3] किन्तु अन्यत्र मनु ने यह भी कहा है कि विद्वान शत्रु की अपेक्षा मित्र को आमन्त्रित किया जा सकता है।[4] मनु के मतानुसार श्राद्ध भोजन उनको दिया जाय जो आध्यात्मिक ज्ञान में लीन रहते हैं। जिसने सम्पूर्ण वेद का अध्ययन कर लिया है किन्तु पिता श्रोत्रिय न रहा हो और जो स्वयं श्रोत्रिय न हो किन्तु उसका पिता श्रोत्रिय हो इन दोनों में अन्तिम अपेक्षाकृत अधिक योग्य है।[5] मनु के मत में पक्तिवान ब्राह्मण (जो भोजन करने वालों की उस पक्ति को पवित्र करते हैं), जिसमें ऐसे लोग भी पाये जाते हैं जो (अपने अन्तर्हित) उन दोषों से युक्त हैं जो भोजन करने वालों के साथ बैठने पर अयोग्य ठहराते हैं। केवल उसी ब्राह्मण को देवों एवं पितरों के लिए अर्पित भोजन देना चाहिए जो वेदज्ञ हो। जो वस्तु अत्यन्त योग्य ब्राह्मण (वेदज्ञ ब्राह्मणों) को दी जाती है, उससे सर्वोच्च फल प्राप्त होते हैं। जो ब्राह्मण सभी लक्षणों को पूरा करता हो उसे ही आमन्त्रित करना चाहिए, किन्तु यदि किसी ऐसे ब्राह्मण को पाना असम्भव हो तो अनुकल्प (उसके बदले कुछ कम लक्षण वाली विधि) का पालन करना चाहिए, अर्थात् कर्त्ता अपने ही मामा, नाना, बहिन के पुत्र, श्वसुर, वेद गुरु,

---

[1] मनु0 3/82
[2] आप0ध0सू0 2/7/17/4, आप0गृ0सू0 8/21/2, गौतम0 15/9, बौ0गृ0सू0 2/10/5–6
[3] मनु0 3/138–139
[4] मनु0 3/144
[5] मनु0 3/135–137

दौहित्र (पुत्री के पुत्र), दामाद, किसी बन्धु (यथा मौसी के पुत्र), साले, या सगोत्र या कुल पुरोहित या शिष्य को बुला सकता है।[1] गौतम ने भी कहा है कि दूसरे गुणयुक्त लोगो के अभाव मे उत्तम गुणशाली शिष्यो एव सगोत्रो को भी आमन्त्रित कर लेना चाहिए।[2] मनु के मत मे यदि सर्वोत्तम प्रकार के ब्राह्मण होने पर भी अन्य उत्तम प्रकार का सहारा लिया जाता है तो पारलौकिक फल की प्राप्ति नही होती हैं बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार सपिण्डो को भी खिलाना चाहिए।[3] गौतम ने यह भी कहा है कि गुणशाली (आवश्यक गुणो से सम्पन्न) युवा व्यक्तियों को वृद्ध लोगो की अपेक्षा वरीयता मिलनी चाहिए।[4] कुछ लोगों के मत मे श्राद्ध– भोज मे नवयुवको तथा पितामह के श्राद्ध मे बूढे लोगो को आमन्त्रित करना चाहिए। आमन्त्रित होने वाले ब्राह्मण के अतीत जीवन, गुणो एव दोनो को जानने के विषय में मनु एव विष्णु ने कहा है कि देव कर्मों में (आमन्त्रित करने के लिए) ब्राह्मण (के गुणो की) परीक्षा नही ली जानी चाहिए, किन्तु पितृ श्राद्ध में (गुणो की) भली–प्रकार छान–बीन उचित एव न्यायसगत है।[5]

कुछ ब्राह्मण जो शारीरिक एव मानसिक दोष तथा रोग व्याधि, कुछ विशिष्ट जीवन वृत्तियॉ (पेशों), नैतिक दोष, अपराधी होने के कारण नास्तिक अथवा पाखण्ड धर्मों का अनुयायी होना, विशिष्ट देशों का वासी होना हो तो अपाक्तेय (पंक्ति में बैठने के अयोग्य या पक्ति को अपवित्र करने वाले) कहे गये हैं। आपस्तम्ब ने कहा है धवल या रक्तदोष ग्रस्त, खल्वाट, परदारा से सम्बन्ध रखने वाला, आयुधजीवी पुत्र, शूद्र सम ब्राह्मण का पुत्र ये पंक्तिदूषक कहलाते हैं।[6] वसिष्ठ ने कहा है कि नग्न (सन्यासी) से बचना चाहिए, उनसे भी जो श्वित्री (श्वेत कुष्ठ ग्रस्त) है, क्लीव हैं, ॲधे हैं, जिनके दॉत काले हैं, जो कोढी हैं और जिनके नख विकृत हैं।[7] मनु, याज्ञवल्क्य एवं गौतम ने भी अपात्र ब्राह्मणो की सूची दी है।[8]

वसिष्ठ धर्मसूत्र मे आया है कि श्राद्ध करने वाले को यतियो, गृहस्थो, साधुचरित लोगों एव जो अति बूढ़े न हो, उनको आमन्त्रित करना चाहिए।[9] विष्णु ने कहा है कि कर्त्ता को क्रोध नहीं करना चाहिए, न उसे आसू गिराना चाहिए और न शीघ्रता से कार्य करना चाहिए।[10] आपस्तम्ब ने व्यवस्था दी है कि कर्त्ता को भोजन के लिए आमन्त्रण देने के काल से श्राद्ध–कृत्य समाप्त न होने तक भोजन नहीं करना चाहिए।[11] श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मणों की सख्या के विषय में विष्णु, मनु, याज्ञवल्क्य एव बौधायन ने कहा है कि देव–कृत्य में दो एव पितृ–कृत्य में तीन या दोनो में एक ब्राह्मण को अवश्यमेव खिलाना चाहिए धनी व्यक्ति को भी चाहिए कि वह अधिक ब्राह्मणों

---

[1] मनु0 3/183, 3/228, 3/132–146
[2] गौतम 15/20
[3] बौ0ध0सू0 2/8/5
[4] गौतम0 15/10
[5] मनु0 3/349, वि0ध0सू0 82/1–2
[6] आप0ध0सू0 2/7/17/21
[7] वसि0ध0सू0 11/19
[8] मनु0 3/250–166, याज्ञ0 1/222–224, गौतम0 15/16–19
[9] वसिष्ठ ध0सू0 11/7
[10] वि0ध0सू0 79/19–21
[11] आप0ध0सू0 2/7/17/24

को न खिलाये।[1] वसिष्ठ ने व्यवस्था दी है कि सभी प्रकार के पके भोजनो के कुछ–कुछ भाग एक पात्र मे रखकर उस स्थान पर रख देने चाहिए जहॉ वैश्वदेविक ब्राह्मण बैठाया जाता है, इसके उपरान्त उसे एक थाल मे रखकर विश्वेदेवो का आवाहन करना चाहिए और उन्हे उस स्थान पर उपस्थित होने की कल्पना करनी चाहिए और तब उस भोजन को अग्नि मे डाल देना चाहिए या ब्रह्मचारी को (भिक्षा रूप मे) दे देना चाहिए और उसके उपरान्त श्राद्ध– कर्म चलता रहना चाहिए।[2] ब्राह्मणो को आमन्त्रित करने की विधि के विषय में मनु ने कहा है कि आमन्त्रण एक दिन पूर्व या श्राद्ध के दिन दिया जाना चाहिए।[3]

आमन्त्रित ब्राह्मणों एव श्राद्धकर्त्ता के लिए कुछ नियम बताये गये है। गौतम ने कहा है कि उस ब्राह्मण को जिसने श्राद्ध–भोजन किया है, पूरे दिन भर ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना चाहिए, यदि वह अपनी शूद्रा पत्नी के साथ सम्भोग करता है तो उसके पितर लोग उसकी स्त्री के मल मे एक मास तक निवास करते हैं।[4] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि उन्हें शरीर, वाणी एव विचार से यात्रा, यान, श्रम, मैथुन, वेदाध्ययन, झगडा नहीं करना चाहिए और न दिन में सोना चाहिए।[5] मनु ने भी कहा है कि श्राद्धकर्त्ता एव श्राद्धिक (श्राद्ध मे भोजन करने वाला) दोनो को सयमित एव क्रोधादि भावों से मुक्त रहना चाहिए और (जप के अतिरिक्त) वेद का अध्ययन नहीं करना चाहिए।[6] श्राद्ध भोजन में कुछ विशिष्ट अन्न एव खाद्य पदार्थ वर्जित माने जाते हैं विष्णु ने व्यवस्था दी है कि श्राद्धकर्त्ता को राजमाष, मसूर, पर्युषित (बासी) भोजन एव समुद्र के जल से निर्मित नमक का परहेज करना चाहिए।[7] मनु एव याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी है कि यदि गाय का दूध या उसमे भात पकाकर (पायस) दिया जाय तो पितर लोग एक वर्ष तक सन्तुष्ट रहते हैं।[8] श्राद्ध मे तिल–प्रयोग को बहुत महत्त्व दिया गया है बौधायन ने कहा है कि जब आमन्त्रित ब्राह्मण आये तो उन्हे तिल– जल देना चाहिए।[9] अर्घ्य देने, श्राद्ध भोजन बनाने, भोजन करने एवं परोसने के लिए जो पात्र होते हैं उसके विषय में विष्णु धर्मसूत्र में आया है कि कर्त्ता को धातु के पात्रों का, विशेषत चॉदी के पात्रों का प्रयोग करना चाहिए।[10] श्राद्ध के समय मास दिये जाने के विषय में प्राचीन काल से मतभेद रहा है। आपस्तम्ब ने व्यवस्था दी है कि नैयमिक श्राद्ध (प्रति मास सम्पादनीय) में मास मिश्रित भोजन अवश्य होना चाहिए, सर्वोत्तम ढग है घृत और मास देना, इन दोनों के अभाव में तिल के तेल एव शाको का

[1] वि०ध०सू० 3/15/14, मनु० 3/125, याज्ञ० 1/228, बौ०ध०सू० 2/8/29
[2] वसि०ध०सू० 11/30–31
[3] मनु० 3/187
[4] गौतम० 15/23–24
[5] याज्ञ० 1/225
[6] मनु० 3/188
[7] वि०ध०सू० 79/18
[8] मनु० 3/271, याज्ञ० 1/258
[9] बौ०ध०सू० 2/8/8
[10] वि०ध०सू० 79/14/15

प्रयोग किया जा सकता है।[1] वसिष्ठ ने कहा है कि देवो या पितरो के कृत्य मे आमन्त्रित सन्यासी यदि मास नहीं खाता तो वह उस पशु के शरीर के भीतर के (जिसके मास को वह नही खाता) बालो की सख्या के बराबर वर्षों तक नरक मे रहता है।[2] याज्ञवल्क्य का कथन है कि पितर लोग यज्ञिय भोजन (यथा–चावल, फल, मूल आदि) से एक मास, गो दुग्ध एव पायस से एक वर्ष, दो से लेकर ग्यारह महीनो तक क्रम से पाठीन (मछली), लोहित हिरण, भेड पक्षी (यथा तित्तिर), बकरा, चितकबरे हरिण, कृष्ण हरिण, रुरु हरिण, बनले सूअर एव खरगोश के मास से खडग, महाशल्क, मछली के मास, मधु, यति के योग्य भोजन, लोहित बकरे, महाशाक एवं वार्ध्रीणस के मास से अनन्त काल तक तृप्त होते हैं।[3] मनु के अनुसार जगली सूअर तथा भैंसे के मास से दस महीनो तक (मनुष्यों के पितर) तृप्त रहते हैं, खरगोश और कछुवे के मास से ग्यारह महीनें तक मनुष्यों के पितर तृप्त रहते हैं।[4]

## 4. पार्वण श्राद्ध :

मनु ने कहा है कि वेद, (मनुस्मृति आदि) धर्मशास्त्र, (सुपर्ण तथा मैत्रावरूण आदि की) कथायें, (महाभारत आदि) इतिहास, (ब्रह्म, पद्म आदि) पुराण और (शिवसकल्प तथा श्रीसूक्त आादि) खिल पितृश्राद्ध में ब्राह्मणों को सुनाना चाहिए।[5] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि दैव (आभ्युदयिक) श्राद्ध में अपनी शक्ति के अनुसार सम सख्या वाले और पित्र्य अर्थात् पार्वण श्राद्ध मे विषम सख्या मे ब्राह्मणों को चारों ओर से आसनों द्वारा ढके हुए (गोबर आदि से लीप कर) पवित्र किये गये, और दक्षिण की ओर झुके हुए स्थान पर बैठाना चाहिए। दो ब्राह्मणों को विश्वदेवों की ओर पूर्व दिशा मे मुख कराके, पित्रादि स्थान मे विषम सख्या वाले ब्राह्मणों को उत्तर की ओर मुख कराके अथवा वैश्वदेव एव पित्र्य स्थान मे एक–एक ब्राह्मण को बैठना चाहिए।[6] वायु पुराण में कहा गया है कि श्राद्ध के आरम्भ मे एव अन्त मे एव पिण्डदान के समय मन्त्रों का तीन बार उच्चारण करना चाहिए, जिनके कहने से पितर लोग श्राद्ध में शीघ्रता से आते हैं और राक्षस भाग जाते हैं तथा यह मन्त्र तीनों लोकों में पितरों की रक्षा करता है।[7] पितरो के आवाहन के विषय में याज्ञवल्क्य के मतानुसार वैश्यदेव के आगमन के बाद यज्ञोपवीत को दाहिने कंधे पर करके, पितरों को बाई ओर से दोहरे कुश देकर 'उशन्तस्त्वा निधि महि' ऋचा से पितरों का आवाहन करके

---

[1] आप०ध०सू० 2/8/19/13–15
[2] वसिष्ठ० 11/34
[3] याज्ञ० 1/258–261
[4] मनु० 3/270
[5] मनु० 3/232
[6] याज्ञ० 1/227–228
[7] वायु०पु० 74/15–16

ब्राह्मणो की आज्ञा पाकर 'आयन्तु न पितर' इत्यादि मन्त्र का जप करना चाहिए।[1] मनु ने यह भी कहा है कि अग्निहोत्री अमावस्या के अतिरिक्त किसी अन्य दिन पार्वण श्राद्ध नही कर सकता है।[2]

भोजन परोसने, ब्राह्मण भोजन एव अन्य सम्बन्धित बातो की विधि के विषय मे याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी है कि होम करने के पश्चात् शेषाश पित्र्य ब्राह्मणो के पात्रो मे परोसना चाहिए और पात्र चॉदी के हो तो अच्छा है।[3] आपस्तम्ब मे आया है कि श्राद्ध भोजन का उच्छिष्टॉश आमन्त्रित ब्राह्मणो से हीन लोगो को नहीं देना चाहिए।[4] मनु का कथन है कि जो व्यक्ति श्राद्ध– भोजन करने के उपरान्त उच्छिष्ट अश किसी शूद्र को देता है तो वह कालसूत्र नरक मे गिरता है।[5] मनु ने यह भी व्यवस्था दी है कि ब्राह्मणो के चले जाने के उपरान्त कर्त्ता को दक्षिण की ओर देखना चाहिए और पितरों से कल्याण की याचना करनी चाहिए।[6] आपस्तम्ब मनु एव याज्ञवल्क्य ने यह भी कहा है कि कर्त्ता को श्राद्ध के लिए बने एव शेष अश को अपनी पत्नी, माता पितृ–पक्ष के सम्बन्धियों के साथ यर्जुमन्त्र का उच्चारण करके भोजन करना चाहिए।[7]

पिण्डदान किस समय किया जाय इस विषय पर आश्वलायन गृहसूत्र, मनु, याज्ञवल्क्य एव शख का मत है कि जब श्राद्ध भोजन ब्राह्मण समाप्त कर लेते हैं तो कर्त्ता पिण्डदान करता है। पिण्डो का निर्माण तिल मिश्रित भात से होता है और किसी स्वच्छ स्थल पर दर्भों के ऊपर पिण्ड मे रखे जाते हैं, ये पिण्ड उस स्थान से, जहॉं ब्राह्मणों के भोजन पात्र रहते हैं, एक अरत्नि दूर रहते हैं और कर्त्ता दक्षिणाभिमुख रहता है।[8] विष्णु ने कहा है कि पितरों को तब पिण्ड देना चाहिए जब कि ब्राह्मण खा रहे हो।[9] कात्यायन का मत है कि यदि ब्रह्म–भोज के उपरान्त पिण्डो का अर्पण हो तो उनका निर्माण ब्रह्म–भोज से बचे पक्व भोजन से होना चाहिए और उसमें भात मिलाकर अग्नौकरण के लिए आहुति बनानी चाहिए।[10]

पिण्डो की प्रतिपत्ति के विषय मे मनु ने कहा है कि धर्मपत्नी (सवर्ण पत्नी, जिसका विवाह अन्य असवर्ण पत्नियो से पहले हुआ है) को 'आधत्त पितरों गर्भम्', मत्र के साथ मध्यम पिण्ड खा लेना चाहिए तब वह ऐसा पुत्र पाती है जो लम्बी आयु वाला, यशस्वी, मेधावी, सम्पत्तिमान, सन्ततिमान, साधुचरण एव सत्चित वाला होता है।[11] आश्वलायन श्रौत सूत्र मे कहा गया है कि मध्यम के अतिरिक्त अन्य पिण्डों को जल में या अग्नि में डाल देना चहिए या ऐसा व्यक्ति उन्हें खा सकता है जिसे भोजन से अरुचि उत्पन्न हो गयी हो, या उसे असाध्य रोगों

---

[1] याज्ञ0 1/232–233
[2] मनु0 3/282
[3] याज्ञ0 1/237
[4] आप0ध0सू0 2/8/18/11
[5] मनु0 3/249
[6] मनु0 3/258
[7] आप0ध0सू0 2/7/17/16, मनु0 3/264, याज्ञ0 1/249
[8] आश्व0गृ0सू0 4/8/12, मनु0 3/260–261, याज्ञ0 1/242, शंख 14/11
[9] वि0ध0सू0 73/15–24
[10] कात्यायन – श्रा0सू0 3
[11] मनु0 3/262–263

(राजयक्ष्मा या कोढ) से पीडित लोग खा सकते है, जो या तो अच्छे हो जाते हैं या मर जाते हैं।[1] मनु का भी यही कथन है किन्तु उन्होने इतना जोड दिया कि वे किसी बकरी को भी खाने को दिये जा सकते हैं और पक्षियो को भी दिये जा सकते है। सपिण्ड–सम्बन्ध सात पीढियो तक होता है।

यदि तीन पूर्व–पुरुषो मे एक या अधिक जीवित हो तो पार्वण श्राद्ध किस प्रकार किया जाना चाहिए[2] आश्वलायन ने कहा है कि पिता, पितामह या प्रपितामह के आगे तीन पितरो को पिण्ड नही दिये जा सकते, क्योकि ऐसा करने का अधिकार नही है, जिनके पश्चात् (तीन पीढियो के भीतर) कोई पुरुष जीवित हो उन पूर्व पुरुषो के लिए पिण्डदान नहीं किया जा सकता। मनु ने कहा है कि यदि कर्त्ता का पिता जीवित हो तो उसे पितामह से आरम्भ करके आगे के तीन पूर्वजो को पिण्ड दान देना चाहिए, या वह अपने पिता से भोजन के लिए उसी प्रकार प्रार्थना कर सकता है जैसे कि किसी अपरिचित अतिथि के साथ किया जाता है और पितामह एव प्रपितामह को पिण्ड दे सकता है (अर्थात् केवल दो पिण्डो दिये जायॅगे) या जीवित पितामह अपरिचित अतिथि के समान, मानों वे किसी मृत पूर्वपुरुष के प्रतिनिधि हो, भोजन के लिए आमन्त्रित करना चाहिए या जीवित पितामह की अनुमति से वह पिता, प्रपितामह एवं बृद्ध प्रपितामह को पिण्ड दे सकता है।[3]

जब कोई ब्राह्मण न मिले, श्राद्ध सामग्री न हो, व्यक्ति यात्रा में हों, या पुत्र उत्पन्न हुआ हो, या पत्नी रजस्वला हो गयी हो तो आमश्राद्ध (जिसमे बिना पका हुआ अन्न दिया जाता है) करना चाहिए। यदि बिना पका हुआ अन्न भी न दिया जा सके तो हेमश्राद्ध (धन के साथ श्राद्ध) करना चाहिए। हेमश्राद्ध भोजनाभाव में, प्रवास में, पुत्र जन्म मे या ग्रहण मे किया जाता है, या स्त्री या शूद्रो के लिए इसके सम्पादन की अनुमति मिली है या तब यह किया जाता है जब कि पत्नी रजस्वला हो।

## 5. एकोद्दिष्ट श्राद्ध :

एकोद्दिष्ट श्राद्ध पार्वण श्राद्ध का ही एक सशोधन या परिमार्जन मात्र है एकोद्दिष्ट शब्द का अर्थ है 'वह जिसमे एक ही मृत व्यक्ति उद्दिष्ट रहता है' अर्थात् जिसमें एक ही व्यक्ति का आवाहन होता है या जिसमें एक ही व्यक्ति का कल्याण निहित है। पार्वण श्राद्ध में तीन पितर उद्दिष्ट रहते हैं अत वह एकोद्दिष्ट से भिन्न है। शांखायन गृहसूत्र, मनु एव याज्ञवल्क्य के मत से द्विज व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् एक वर्ष तक, जब तक कि सपिण्डीकरण श्राद्ध न हो जाय, प्रत्येक मास में प्रेतात्मा के लिए इसी प्रकार का श्राद्ध किया जाता है।[4] विष्णु धर्मसूत्र में कहा गया है कि प्रयुक्त मन्त्रों में उपयुक्त परितर्वन (ऊह) करना चाहिए 'अत्र पितरों मादयहवम्' के

---

[1] आश्व०श्रौ० 2/7/14–17
[2] मनु० 3/260–261
[3] मनु० 3/220–222
[4] शांखा०गृ० 4/2/7, मनु० 3/257, याज्ञ० 1/256

स्थान पर 'अत्र पितर् मादयस्व' 'अर्थात् हे पिता, यहाँ आनन्द करो' कहना चाहिए)।[1] बहुत से ग्रन्थो मे यह आया है कि षोडश श्राद्ध का सम्पादन मृत व्यक्ति के लिए किया जाना आवश्यक माना गया है नही तो जीवात्मा प्रेत एव पिशाच की दशा से छुटकारा नही पाता। शातातप ने भी कहा है सन्यासी के लिए एकोद्दिष्ट, जल–तर्पण, पिण्ड दान, शवदाह, आशौच नहीं किया जाना चाहिए, केवल पार्वण श्राद्ध कर देना चाहिए।

सपिण्डीकरण या सपिण्डन से पिण्ड दान प्राप्त करने वाले पितरो के लिए समाज मे मृत व्यक्ति को मिलाया जाता है। विष्णुपुराण मे सपिण्डीकरण को एकोद्दिष्ट श्राद्ध कहा गया है।[2] याज्ञवल्क्य एव विष्णु धर्मसूत्र मे आया है कि यदि एक वर्ष के भीतर ही सपिण्डीकरण हो जाय, तब भी एक वर्ष तक मृत ब्राह्मण के लिए एक घडा जल एव भोजन देते रहना चाहिए।[3] सपिण्डन या सपिण्डीकरण की पद्धति याज्ञवल्क्य, विष्णु धर्मसूत्र एव विष्णुधर्मोत्तर मे इस प्रकार दी गयी है कि ब्राह्मणो को एक दिन पूर्व आमन्त्रित किया जाता है, अग्नौकरण होता है और जब ब्राह्मण लोग भोजन करते हैं उस समय वैदिक मन्त्रो का पाठ होता है।[4] सपिण्डीकरण में एकोद्दिष्ट एवं पार्वण के स्वरूप मिले हुए हैं, एक तो प्रेत वाला स्वरूप और दूसरा प्रेत के तीन पितरो वाला, अत इसमे दोनों प्रकार के श्राद्ध सम्मिलित हैं। जब सपिण्डीकरण का अन्त ब्राह्मणो के दक्षिणा–दान से होता है तो प्रेत प्रेतत्व छोडकर पितर हो जाता है। प्रेत की दशा या स्थिति मे भूख एव प्यास की भयानक यातनाएँ होती है, किन्तु पितर हो जाने पर वसु, रुद्र, आदित्य नामक श्राद्ध–देवताओं के ससर्ग मे आ जाना होता है।

याज्ञवल्क्य एव मार्कण्डेय पुराण ने व्यवस्था दी है कि एकोद्दिष्ट एव सपिण्डीकरण स्त्रियों के लिए भी होने चाहिए (किन्तु पार्वण एव आभ्युदयिक नहीं)।[5] माता के सपिण्डीकरण के विषय मे गोभिल स्मृति में कहा गया है कि जब स्त्री पुत्रहीन रूप मे मर जाय और उसका पति जीवित हो तो उसका सपिण्डीकरण उसकी सास के साथ होता है।[6] मनु एव याज्ञवल्क्य ने यह व्यवस्था दी है कि नास्तिक, वर्णसंकर, सन्यासी, आत्मघाती, नास्तिक सिद्धान्तो को मानने वाला, व्यभिचारिणी, भ्रूण, एव पति की हत्या कारिणी एवं सुरापान करने वाली नारी के लिए जल–तर्पण एव सपिण्डीकरण जैसे कृत्य नहीं किये जाने चाहिए।[7] आभ्युदयिक श्राद्ध वर्णन आश्वलायन गृहसूत्र में आया है जिसमें पार्वण, काम्य, आभ्युदयिक एव एकोद्दिष्ट नामक चार श्राद्धों का उल्लेख किया गया है इसकी विधि के विषय में कहा गया है कि मागलिक अवसरो पर या कल्याणार्थ किये जाने वाले कृत्यों पर समसख्या में ब्राह्मणों को निमन्त्रित करना चाहिए, कृत्यों को बायें से दाहिनें करना चाहिए और तिल के स्थान पर यव (जौ)

---

[1] वि0ध0सू0 21/2
[2] वि0पु0 3/13/26
[3] याज्ञ0 1/255, वि0ध0सू0 21/23
[4] याज्ञ0 1/253–254, वि0ध0सू0 21/12–13, विष्णुधर्मोत्तर0 2/77
[5] याज्ञ0 1/254, मार्कण्डेय0 28/17–18
[6] गोभिल स्मृ0 3/102
[7] मनु0 5/89–90, याज्ञ0 3/6

का प्रयोग करना चहिए।[1] नान्दीश्राद्ध एव बुद्धिश्राद्ध पर्यायवाची शब्द है याज्ञवल्क्य मे कहा गया है कि वृद्धि (शुभावसर, यथा पुत्रोत्पति) के अवसर पर नान्दीमुख पितरो को पिण्डो से पूजित करना चाहिए।[2] विष्णुपराण एव विष्णुधर्मोत्तर ने नान्दीश्राद्ध की पद्धति एव उसके किये जाने योग्य अवसरो का सक्षेप मे उल्लेख करते हुए कहा गया है कि कन्या एव पुत्र के विवाहोत्सव पर, नये गृह प्रवेश पर, नामकरण–सस्कार पर, चूडाकरण पर, सीमन्तोन्नयन मे, पुत्रोत्पत्ति पर, पुत्रादि के मुख दर्शन पर गृहस्थ को नान्दीमुख पितरो का सम्मान करना चाहिए।[3]

## 6. अन्य श्राद्ध :

महालयश्राद्ध एक अति प्रसिद्ध श्राद्ध है इस श्राद्ध सम्पादन की तिथि के विषय मे कई मत हैं इसका समपादन भाद्रपद (आश्विन) के कृष्ण पक्ष की प्रथम तिथि से लेकर अमावस्या तक किसी भी तिथि मे हो सकता है, या अष्टमी, दशमी तिथि से अमावस्या तक की किसी तिथि मे, या इस मास की पचमी तिथि से लेकर आगे के पक्ष की पचमी तिथि तक, या किसी भी दिन जब कि सूर्य कन्या राशि में रहता है, या किसी भी दिन जब तक कि सूर्य वृश्चिक राशि मे प्रवेश नहीं करता। दो अन्य श्राद्धो मातामहश्राद्ध या दौहित्र प्रतिपदा–श्राद्ध के विषय में कहा गया है कि केवल दौहित्र (कन्या का पुत्र), जिनके माता–पिता जीवित हों, अपने नाना (नानी के साथ, यदि वह जीवित न हो) का श्राद्ध आश्विन के शुक्ल पक्ष की प्रथम तिथि पर कर सकता है। दौहित्र ऐसा कर सकता है, भले ही उसके नाना के पुत्र जीवित हो। इस श्राद्ध का सम्पादन पिण्डदान के बिना या उसके साथ (बहुधा बिना पिण्डदान के) किया जाता है। बिना उपनयन सम्पादित हुए भी दौहित्र यह श्राद्ध कर सकता है।

अविधवानवमी श्राद्ध जो अपनी माता या कुल की अन्य सधवा रूप मे मृत नारियों के लिए किया जाता है। इसका सम्पादन भातृपक्ष (आश्विन) के कृष्णपक्ष की नवमी को होता है किन्तु जब नारी की मृत्यु के उपरान्त उसका पति मर जाता है तो इसका सम्पादन समाप्त हो जाता है। क्षेत्रज, पुत्रिकापुत्र एव दत्तक पुत्र किनकों पिण्डार्पण करे इस विषय पर मनु एव गोभिलस्मृति ने पुत्रिकापुत्र  के बारे में कहा है कि वह प्रथम पिण्ड अपनी माता ( क्योकि वह पुत्र के रूप में नियुक्त हुई रहती है) को, दूसरे अपने पिता को और तीसरा अपने पितामह को देना चाहिए।[4] किन्तु दूसरी विधि भी मनु ने बतायी है कि पुत्रहीन पिता की सम्पूर्ण सम्पत्ति लेने वाला पुत्रिकापुत्र दो पिण्ड अपने पिता एव नाना को देता है।[5] मनु ने व्यवस्था दी है कि दत्तक पुत्र को अपने वास्तविक

---

[1] आश्व0गृ0सू0 4/7, 2/5/13–15
[2] याज्ञ0 1/250
[3] वि0पु0 3/13/2–7, विष्णुधर्मोत्तर0 1/142/13–18
[4] मनु0 4/140, गोभिल स्मृ0 2/105
[5] मनु0 9/132

पिता का गोत्र नही ग्रहण करना चाहिए, पिण्ड गोत्र एव सम्पत्ति का अनुसरण करता है जो अपना पुत्र दे देता है उसकी 'स्वधा' की (जहाँ तक उस पुत्र से सम्बन्ध है) परिसमाप्ति हो जाती है।[1]

वृषोत्सर्ग (साँड या बैल छोडना) के विषय मे गरुडपुराण आया है कि जिस मृत व्यक्ति के लिए ग्यारहवे दिन वृषोत्सर्ग नही होता वह सदा के लिए प्रेतावस्था मे रहता है, भले ही उसके लिए सैकडो श्राद्ध किये जायँ।[2] जीवश्राद्ध या जीवच्छाद्ध मे व्यक्ति अपनी जीवितावस्था मे अपने आत्मा के कल्याण के लिए करता है।

अधिक मास या मलमास मे श्राद्धो का सम्पादन होना चाहिए या नही इस विषय पर हारीत ने व्यवस्था दी है किस पिण्डन के उपरान्त जितने श्राद्ध आते हैं, उनका सम्पादन मलमास मे नहीं करना चाहिए।[3] भृगु का कथन है कि जो लोग मलमास में मरते हैं उनका सावत्सरिक श्राद्ध मलमास में ही करना चाहिए, किन्तु यदि कोई ऐसा न हो (मलमास में न मरे) तो उसी नाम वाले साधारण मास मे श्राद्ध करना चाहिए।[4]

इस प्रकार प्राचीन काल से ही आशौच, शुद्धि एव श्राद्ध का जो वर्णन प्राप्त होता है वह व्यक्ति के व्यवहारिक जीवन का स्पष्ट सकेत देती है। इस धार्मिक कृत्यो को करके व्यक्ति पारलौकिक सुख को प्राप्त करता है।

************

[1] मनु0 9/142
[2] गरुड़पुराण – 2/5/40 एव 44–45
[3] हारीत – स्मृति0च0श्रा0 374
[4] भृगु – स्मृति च0श्रा0 375

# दशम अध्याय

# आपद्धर्म

# आपद्धर्म

## 1. ब्राह्मण का आपद्धर्म :

प्राचीन काल से ही चारो वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) के अपने–अपने कर्म निर्धारित किये गए थे। किन्तु स्वधर्म का पालन करते हुए कभी–कभी परिस्थितियो के कारण इन वर्णों के लोगो का जब जीवन यापन सम्भव न हो सके तो इसके लिए वर्णेतर कर्म की व्यवस्था की गई थी। ब्राह्मण के लिए ऐसा विधान था अगर वह अध्यापन करने, यज्ञ सम्पन्न कराने और दान प्राप्त करने से अपने परिवार का पालन कर सकने मे असमर्थ हो तो वह क्षत्रिय और वैश्य के कर्म भी अपना सकता था। याज्ञवल्क्य ने भी यही कहा कि आपत्काल मे (अपने वर्ण की वृत्ति द्वारा जीविका चलाने में असमर्थ होने पर) ब्राह्मण, क्षत्रिय के कर्म द्वारा अथवा वैश्य के कर्म द्वारा जीवन निर्वाह करे आपत्काल पार कर लेने पर (प्रायश्चित द्वारा) अपने को पवित्र करके पुन. अपने वर्ण की वृत्ति अपना ले।[1]

सकटकालीन स्थिति में ब्राह्मण सैनिक वृत्ति अपनाकर शस्त्रग्रहण कर सकता था। गौतम के अनुसार आपत्काल में क्षत्रिय वृत्ति करना अनुचित नहीं है।[2] बौधायन ने कहा है कि गौओं एव ब्राह्मणों की रक्षा करने एव वर्ण सकरता रोकने के लिए ब्राह्मण एव वैश्य भी आयुध ग्रहण कर सकते हैं।[3] मनु के अनुसार वर्णाश्रम धर्म पर जब आततायियो का आक्रमण हो, युद्धकाल में गडबडी हो तब तथा आपत्काल में गायों, नारियों, ब्राह्मणों की रक्षा के लिए ब्राह्मणो को अस्त्र–शस्त्र ग्रहण करना चाहिए।[4] आपस्तम्ब ने कहा है कि परीक्षा के लिए भी ब्राह्मण को आयुध नही ग्रहण करना चाहिए।[5]

शस्त्र ग्रहण करने से आजीविका न चला सकने के कारण ब्राह्मण कृषि और वाणिज्य के कर्म को अपना सकता था, किन्तु एक नियन्त्रण पर कि वह ऐसा स्वय न करके दूसरों द्वारा सम्पादित कराये।[6] वसिष्ठ धर्मसूत्र में कहा गया है कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय अधिक ब्याज पर धन का लेन–देन न करें, क्योंकि ब्याज पर धन देना ब्रह्महत्या के सदृश है।[7] मनु ने भी ब्राह्मणों एव क्षत्रियों को कुसीद (ब्याज पर धन देने के व्यवसाय) से दूर रहने को कहा है, किन्तु जो लोग निकृष्ट कार्य करते हैं, उनसे थोड़ा ब्याज लेने के लिए उन्हें छूट दे दी है।[8] नारद ने

---

[1] याज्ञ0 3/35
[2] गौ0ध0सू0 7/6
[3] बौध0ध0सू0 2/2/80
[4] मनु0 8/348–349
[5] आप0 – 1/10/29/7
[6] गौ0ध0सू0 – 10/5–6
[7] वसि0 – 2/40
[8] मनु0 10/117

भी कहा कि ब्राह्मणो को बडी से बडी विपत्ति मे भी कुसीद से दूर रहना चाहिए।[1] मनु का कथन है कि क्षत्रिय कर्म से जीवन निर्वाह न कर सकने के कारण ब्राह्मण वैश्य–कृषि, गोपालन और व्यापार ग्रहण कर सकता है।[2] कृषि कर्म हिसा प्रधान था, इसलिए स्मृति कारो ने उसे छोड देने का विधान किया है। वैदिक साहित्य मे कृषि के लिए पूरी तरह छूट थी। ऋग्वेद मे आया है कि जुआ मत खेलो, कृषि मे लगो, मेरे वचनो पर ध्यान देकर धन का आनन्द लो, कृषि मे गाये हैं तुम्हारी स्त्री है आदि। इससे स्पष्ट होता है कि भूमि, हल–साक्षा, भूमि कर्षण मे ब्राह्मण को पूरी तरह छूट थी।[3] बौधायन धर्मसूत्र का कहना है कि वेदाध्ययन से कृषि का नाश तथा कृषि प्रेम से वेदाध्ययन का नाश होता है। जो दोनो के लिए समर्थ हो, दोनो करे, जो दोनो न कर सकें, उन्हे कृषि त्याग देना चाहिए।[4] मनु के अनुसार यदि ब्राह्मण या क्षत्रिय को अपनी जीविका के प्रश्न को लेकर वैश्य वृत्ति करनी ही पडे, तो उन्हे कृषि नहीं करनी चाहिए , क्योकि इससे जीवों को पीडा होती है और यह दूसरो पर आधारित है।[5]

आपत्काल मे ब्राह्मण वाणिज्य कर सकता है मनु ने कहा है कि ब्राह्मणों को धन देने वाली वस्तुऍ बेचनी चाहिए किन्तु जिसे ब्राह्मण को नहीं बेचना चाहिए, वह सभी प्रकार के रस, पक्वान्न, तिल, पत्थर, नमक, पशु, मनुष्य, सब प्रकार के सूत्र निर्मित और रगे गए सन, अलसी तथा ऊन के वस्त्र और बिना रगे हुए वस्त्र, फल–मूल तथा औषधि, जल, शस्त्र, विष, मांस, सोम नामक लता, सर्वविध गध (कर्पूर, कस्तूरी आदि), दूध, मधु, दही, घी, तेल, मोम, गुड, कुश, सब प्रकार के जगली पशु, दॉतवाले पशु (सिह, वाघ, चीता), पक्षी, जल जन्तु, मदिरा, नील, लाख (चपडा लाही) एक खुरवाले (घोडा आदि पशु) रागा, सीसा, लोहा, सब प्रकार के तैजस पदार्थ, केश, चमडी, हड्डी, चर्बी आदि है।[6] मनु का कथन है कि आपत्ति काल में मास, लाख और नमक बेचने वाला ब्राह्मण पतित होता है तथा तीन दिन तक दूध बेचने के कारण वह शूद्र हो जाता है। शास्त्रवर्जित अन्य पदार्थों को बेचने के कारण ब्राह्मण सात रात्रि में वैश्यत्व को प्राप्त करता है।[7] याज्ञवल्क्य में भी ब्राह्मणों के लिए वर्जित वस्तुओ की सूची प्राप्त होती है।[8] तिल के विषय में बौधायन, मनु, वसिष्ठ ने एक ही प्रकार की बात लिखी है – यदि कोई तिल को खाने, नहाने में (उसके तेल को) प्रयोग करने या दान देने के अतिरिक्त किसी अन्य काम में लाता है तो वह कृमि (कीडा) हो जाता है और अपने पितरो के साथ कुत्ते की विष्ठा में डूब जाता है।[9] किन्तु

---

[1] नारद (ऋणादान 111)
[2] मनु0 10/82
[3] ऋ0 – 10/101/3
[4] बौध0 – 1/5/101
[5] मनु0 – 10/83–84
[6] मनु0 – 10/86–87–88–89
[7] मनु0 10/92–93
[8] याज्ञ0 3/36–37–38
[9] मनु0 10/91, बौधा0 2/1/76, वसि0 2/30

वसिष्ठ तथा मनु ने कृषि कर्म से उत्पन्न तिल को बेचने के लिए कहा है मनु केवल धार्मिक कार्यों के लिए ही विक्रय की व्यवस्था दी है।[1]

ब्राह्मण के लिए आपत्काल मे जीविका के साधन के लिए मनु ने दस उपक्रम बतलाये है – विद्या, कलाएँ एव शिल्प, पारिश्रमिक पर कार्य, नौकरी, पशुपालन, वस्तु विक्रय, कृषि, सन्तोष, भिक्षा एव कुसीद (व्याज पर धन देना)।[2] याज्ञवल्क्य के अनुसार कृषि, शिल्प, भृत्ति (मजदूरी) वेतन लेकर विद्याध्ययन, व्याज के लिए धन प्रयोग, भाडे पर गाडी चलाना, पर्वत (उस पर प्राप्त होने वाले तृण एव ईंधन) सेवा, अनूप (प्रचुर तृण, वृक्ष और जल से व्याप्त प्रदेश) राजा से याचना तथा भिक्षावृत्ति ये आपत्काल मे जीवन के साधन होते हैं।[3] नारद के अनुसार पैतृकधन, मित्रता या स्नेह का दान तथा विवाह के समय जो स्त्री के साथ मिले यह तीन प्रकार के जीविका साधन सभी के लिए समान थे। विष्णुधर्मसूत्र ने भी इसी तरह तीन प्रकार बताये गये हैं– (1) पैतृक धन, स्नेह दान एव पत्नी के साथ आया हुआ धन श्वेत, (2) अपने वर्ण से निम्न वर्ण के व्यवसाय से उत्पन्न धन, घूस से या वर्जित वस्तुओं के विक्रय से उत्पन्न धन या उपकार करने से उत्पन्न धन शबल है (3) निम्नतर वर्णों के व्यवसाय से उत्पन्न धन, जुआ चोरी, हिंसा या छल से उत्पन्न धन कृष्णधन है।[4] मनु के अनुसार जीवन वृत्ति के पाँच प्रकार हैं – (1) ऋत (अर्थात् खेत में गिरे हुए अन्न पर जीवित रहना) (2) अमृत (जो बिना माँगे मिले) (3) मृत (भिक्षा से प्राप्त) (4) प्रमृत (कृषि) (5) सत्यानृत (वस्तु विक्रय) इसी वृत्ति से जीवन यात्रा करनी चाहिए।[5] मनु ने ब्राह्मण के दान ग्रहण करने को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीविका नहीं मिलने से आपत्ति में पड़ा हुआ ब्राह्मण सबसे नीच से भी दान ग्रहण करे, क्योंकि आपत्ति में पड़ा हुआ पवित्र ब्राह्मणादि निषिद्धाचरण से दूषित नही होता है। तथा निन्दितो को अध्यापन कराने से, यज्ञ कराने से और उनका दिया हुआ दान लेने से आपत्ति में पडे हुए ब्राह्मणो को दोष नही होता क्योंकि ब्राह्मण अग्नि तथा पानी के समान पवित्र है। मनु आगे भी कहते हैं कि जीविका नहीं मिलने से सशयित प्राणों वाला जो ब्राह्मणादि अनुलोम एवं प्रतिलोम आदि हीन जाति वाले से भी अन्न को खाता है तो वह पक से आकाश के समान पाप से लिप्त (दूषित) नहीं होता है।[6]

---

[1] वसि० 2/31, मनु० 10/90
[2] मनु० 10/166
[3] याज्ञ० 3/42
[4] विष्णुधर्मसूत्र (अध्याय 58)
[5] मनु० 4/4–6
[6] मनु० 10/102–103–104

## 2. क्षत्रिय का आपद्धर्म :

धर्मशास्त्रकारो ने क्षत्रियो के लिए भी सकट काल मे अपने से नीचे वर्ण के कर्म को अपनाने की व्यवस्था दी है। गौतम के अनुसार जीविकोपार्जन के निमित्त क्षत्रिय वैश्य कर्म अपना सकता था।[1] बौधायन ने भी इस प्रकार अपना मत प्रकट किया है।[2] मनु ने भी क्षत्रिय को वैश्य कर्म अपनाने की सलाह दी है किन्तु कृषि कर्म करने को वर्जित कहा है।[3] पारिवारिक सकट की स्थिति मे क्षत्रिय व्यापार और वाणिज्य भी कर सकता था। व्यापार करते समय वह सभी प्रकार के रस, तिल, नमक, पत्थर, पशु और मनुष्य का क्रय विक्रय नहीं कर सकता था, तथा दूध, मधु, विष, मास आदि का व्यापार करना भी उसके लिए निषिद्ध था , रागा, सीसा, लोहा, सब प्रकार से तैजस पदार्थ केश, चमडा, हड्डी आदि का व्यापार उसे नहीं करना चाहिए ऐसा मनु ने क्षत्रियों के लिए निषिद्ध व्यापार कहा है।[4] बौधायन ने वैश्य कर्म और ऋणदाता को क्षत्रिय के लिए अनुपयुक्त माना है। मनु के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय सूद के लिए धन को कभी भी न दें,[5] अर्थात् वे कभी भी सूद का व्यवहार न करें। क्षत्रिय के जीविका साधन के बारे में मनु ने कहा है कि आपत्ति में पड़ा हुआ क्षत्रिय इन सब कार्यो से (ब्राह्मण के लिए निषिद्ध रसादि विक्रय रूप) वैश्य के समान जीविका कर ले किन्तु ब्राह्मण की श्रेष्ठ वृत्ति–अध्यापन, यज्ञ कराना और दान लेना को कदापि स्वीकार न करें।[6] इससे यह स्पष्ट होता है कि आपत्तिकाल में क्षत्रिय अपने परिवार के पोषण के लिए कुछ प्रतिबन्धों के साथ व्यापार और वाणिज्य के कर्म भी अपना सकता था ।

## 3. वैश्य का आपद्धर्म :

ब्राह्मण और क्षत्रिय की तरह वैश्य को भी आपतिकाल में दूसरे कर्म अपनाने का निर्देश दिया गया था। बौधायन धर्मसूत्र मे कहा गया है कि गौ, ब्राह्मण तथा अपने वर्ण की रक्षा के लिए वैश्य भी शस्त्र ग्रहण कर सकता था।[7] महाभारत में यह विधान किया गया है कि समाज को श्रृखलाबद्ध रखने के लिए प्रत्येक वर्णक्षात्रधर्म के अनुरूप शास्त्रोपजीवी हो सकता था।[8] मनु ने यह व्यवस्था दी है कि वह निषिद्ध कर्मो का त्याग करते हुए अर्थात् द्विजों की सेवा करने में जूठन न खाते हुए शुद्र की वृत्ति को अपना सकता था।[9] गौतम ने भी कहा है कि

---

[1] गौ०ध०सू० – 7/27
[2] बौ०ध०सू० – 2/2/77
[3] मनु० 10/83
[4] मनु० 10/86–88–89–92
[5] मनु० 10/117
[6] मनु० 10/95
[7] बौ०ध०सू० 2/2/80
[8] महा० शान्तिपर्व – 18/18
[9] मनु० 10/98

आपत्काल मे वह अपने से नीचे वर्ण का कर्म ग्रहण करता था।[1] वैश्य के आपद्धर्म के विषय मे मेघातिथि का कहना है कि वह शूद्रो की तरह पैर प्रक्षालन करता था, जूठा खाता था तथा अन्य निम्न कार्य सम्पन्न करता था। किन्तु जब उसकी सकट की स्थिति समाप्त हो जाती थी तो वह इन कर्मों को त्याग देता था। प्राय ब्राह्मणो के लिए यह कर्म उचित नही था। किन्तु ये समस्त कार्य यथास्थिति होने पर छोड दिये जाते थे।[2] मनुस्मृति के व्याख्याकार कुल्लूक ने भी यही मत व्यक्त किया है कि वैश्य द्विजाति की शुश्रूषा और उच्छिष्ट भोजन ग्रहण करने जैसे निम्न कार्य केवल तभी तक करता था, जब तक वह सकट ग्रस्त रहता था, अपनी स्थिति सुदृढ होते ही वह इन कर्मों का परित्याग करके प्रायश्चित्त करता था।[3] धर्मशास्त्रों के अनुसार आपत्तिकाल वह ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों की विभिन्न प्रकार से सेवा करता था तथा शूद्र की तरह उनके उच्छिष्ट भोजन पर अपनी आजीविका चलाता था।

## 4. शूद्र का आपद्धर्म :

शूद्र पूर्णरूपेण द्विजों की दया पर निर्भर करते थे। उनका सर्वोत्कृष्ट कर्म द्विज वर्ण की सेवा शुश्रूषा करना था। गौतम के अनुसार द्विजों द्वारा परित्यक्त, पदत्राणों, आतपत्रों, वस्त्रों और आसनों का उपयोग करते थे।[4] शूद्र के लिए ब्राह्मण की सेवा सर्वाधिक महत्व की बात थी इससे शूद्रों को स्वर्ग अथवा स्वर्ग तथा जीविका दोनों प्राप्त होती है। यह ब्राह्मणाश्रित है इतना कहने से ही शूद्र कृतकृत्य हो जाता है। किन्तु यदि ब्राह्मण की सेवा करने से उसकी आजीविका नहीं चल पाती थी तो वह क्षत्रिय अथवा वैश्य की सेवा करता हुआ जीवन निर्वाह करें।[5] मनु के अनुसार सेवक शूद्र के लिए जूठा अन्न, पुराने वस्त्र, अन्नों के पुआल तथा पुराने खाट, बर्तन आदि ब्राह्मण दे।[6] महाभारत मे कहा गया है कि अगर सेवा वृत्ति से उनकी जीविका नहीं चल पाती तो वे अपनी भार्या और सतान की आजीविका व्यापार, पशुपालन और विभिन्न शिल्प को ग्रहण करके चला सकते हैं।[7] मनु ने विपत्तिग्रस्त शूद्र के लिए विभिन्न उद्योग–धन्धे अपनाने का निर्देश किया है। शूद्रों के प्रति उदार भावना व्यक्त करते हुए मनु का कहना है कि द्विजों की सेवा करने में असमर्थ शूद्र (भूख से पीड़ित होकर) स्त्री पुत्रादि के कष्ट के निवारणार्थ कारूकर्म (सूप आदि बनाने का कार्य) अपना सकता है।[8] मेघातिथि ने कारूकर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है कि भोजन बनाने, कपड़ा बुनने और बढ़ईगीरी के कार्य सम्पन्न करके शूद्र अपनी भार्या और

---

[1] गौ०ध०सू० – 7/26
[2] मेघातिथि – मनु० 10/98
[3] कुल्लूक, मनु० 10/98
[4] गौ०ध०सू० 10/58
[5] मनु० 10/121–122
[6] मनु० 10/125
[7] महा० शान्तिपर्व – 294/4
[8] मनु० 10/99–100

सतान का पोषण करता था[1] शूद्र के अन्य कर्म की व्याख्या करते हुए कुल्लूक ने कहा है कि वह भोजन पकाने का काम, तक्ष, चित्रकारिता जैसी शिल्पकलाओं का कार्य कर सकता था।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि आपत्तिकाल मे शूद्र वैश्य वर्ण के कार्य अपना सकता था।

************

[1] मेधातिथि – मनु0 10/100
[2] कुल्लूक – मनु0 10/99–100

# एकादश अध्याय

◆

# उपसंहार

# उपसंहार

प्रमुख स्मृतियो मे विवेचित धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक विचारो एव व्यक्ति के नैतिक मूल्यो, कत्तव्यो एव उच्च आदर्शों का समग्र रूप से निरूपण करने के पश्चात् सम्प्रति एव सिहावलोकन के रूप मे निष्कर्षों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

सर्वप्रथम धर्म के स्वरूप पर विचार करते हुए हम पाते हैं कि वैदिक काल से लेकर स्मृतियो के काल मे धर्म सम्बन्धी धारणा बडी व्यापक थी और वह मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करती थी। धर्म किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक नहीं है, प्रत्युत यह जीवन का एक ढग या आचरण–सहिता है, जो समाज के किसी अग एव व्यक्ति के रूप मे मनुष्य के कर्मों एव कृत्यो को व्यवस्थित करता है तथा उसमें क्रमश विकास लाता हुआ उसे मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुँचने के योग्य बनाता है। मनुष्य का कर्म धर्म पर ही आधृत है। धर्म के बिना कर्म की कोई सार्थकता नहीं। मनुष्य के जीवन में सुख की अनुभूति धर्म के अनुगमन से होती है। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों सुखो की प्राप्ति धर्म से ही सम्भव है।

धर्म का स्वरूप वैदिक काल से लेकर स्मृतियों के काल तक चाहे जो भी रहा हो किन्तु इसका उद्देश्य व्यक्तिगत जीवन के करणीय कर्त्तव्यों का विवेचन करना, व्यक्ति के सामाजिक, पारिवारिक, वैयक्तिक और पारलौकिक पक्षों पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार करना है। धर्म व्यक्ति के कर्त्तव्यों को दिशा देता है। जीवन के लक्ष्यों को प्रदर्शित करता है। मनुस्मृति एव याज्ञवल्क्य स्मृति आदि तथा सभी धर्मसूत्रों का वर्ण्य विषय मूलत आचार–विचार, विधि–निषेध, नियम आदि का सम्यक् व्याख्यान करना है।

धर्म के सम्बन्ध में मनु एव याज्ञवल्क्य का विचार आधुनिक एव व्यावहारिक है उन्होंने धर्म का मूल प्रमाण वेद को ही माना है तथापि उनके साथ ही धर्मज्ञों की संविदा या सहमति द्वारा दी गयी आचार व्यवस्था को मुख्य रूप से प्रमाण माना है। इसलिए जो व्यक्ति सत् आचरण करता है वह विश्वात्मा को प्राप्त करता है। वस्तुत प्रत्येक प्रसग पर आचरण की शुद्धता पर जोर दिया गया है।

सम्पूर्ण समाज का वर्ण के आधार पर समुचित और सुनिश्चित विभाजन नैतिक मूल्यों और धर्म से प्रभावित होकर किया गया था तथा विभिन्न वर्गों के कार्यों का निरूपण भी सदाचार और धर्म से प्रेरित तथा अनुप्राणित था। अतएव इसे वर्ण धर्म की सज्ञा दी गयी थी। इसी प्रकार आश्रम व्यवस्था को भी नियोजित की गई, जिसके अन्तर्गत मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को चार भागों में विभक्त कर उसके आश्रमगत कर्त्तव्यों और दायित्वों का आकलन किया गया था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था का मुख्य प्रेरक तत्त्व धर्म ही था। जिसमें नैतिकता, आस्तिकता, सदाचारिता, ज्ञानता और बौद्धिकता थी।

वर्ण व्यवस्था में दो प्रधान तत्त्व निहित हैं, एक तो भेदपरक ऊँच–नीच की भावना और दूसरे सभी वर्णों के लिए निर्धारित कर्म। इन्हीं दो तत्त्वों को लेकर वर्ण व्यवस्था का स्वरूप बना। चारों वर्णों के अपने–अपने कर्म वैज्ञानिक और सुविचारित आधार पर निर्धारित किये गये थे जो समाज के व्यवस्थित

विभाजन को व्यक्त करते है। अत ऐसी स्थिति मे भारतीय वर्ण व्यवस्था सामाजिक वर्गों की महत्ता और उनके कर्मों की प्रतिष्ठा से सम्बद्ध है। इसका उद्देश्य है व्यक्ति का बहुमुखी अभ्युत्थान, जो उसके गुणानुरूप कर्म से माना गया है। अपने वर्ण के कर्म का परिचालन करने पर तथा पुनर्जन्मो के आधार पर मनुष्य की अभिवृद्धि होती है। सभी वर्णों के मनुष्यो मे समानता है अन्तर केवल उनके गुण और कर्म का है। सभी वर्ण के लोग अपने–अपने वर्णानुकूल कर्मों को स्वीकार करके, एक दूसरे के प्रति होने वाली स्पर्धा से अपने को विमुक्त कर लेते हैं। इससे समाज मे शान्ति, सहयोग और स्पर्धाहीन वातावरण का निर्माण होता है तथा प्रत्येक वर्ण सामाजिक अभिवृद्धि के मार्ग पर निर्द्वन्द्व होकर निर्विरोध अग्रसर होता है। वह वर्ण धर्म के आधार पर परिवार, समुदाय, समाज और देश के प्रति अपने उत्तरदायित्वो का सशक्त निर्वाह करता है, जिसमे सत्य, अहिसा, अस्तेय, अपरिग्रह, शौच, दान आदि विभिन्न गुणो का समावेश रहता है। इन्हीं नैतिक और व्यवस्थित नियमों का अनुपालन करके उसे अभीष्ट अथवा परमपद की प्राप्ति का मार्ग मिलता है।

प्रमुख स्मृतियों में प्राय सभी विषयों पर वर्ण के आधार पर ही विचार किया गया है। छोटे–छोटे कर्मों मे भी वर्ण व्यवस्था के आधार पर पार्थक्य स्थापित किया गया है। यथा यज्ञोपवीत के समय, वेदो के ज्ञान, वैदिक यज्ञ, भिक्षाचरण के लिए सम्बोधन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को आयु दण्ड आदि के लिए अलग–अलग नियम बताया गया है। इसके साथ ही प्रायश्चित्त अपराध तथा विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए दण्ड था मृत्यु, जन्म या मृत्यु विषय पर अशौच, शुद्धि एव श्राद्ध को वर्णानुसार निर्धारित किया गया है। भोजन और सम्भाषण के शिष्टाचार आदि में भी वर्ण के विचार को प्राथमिकता दी गयी है।

मनु एव याज्ञवल्क्य आदि ने वर्ण का आधार जन्म को माना है। इससे स्पष्ट है कि स्मृतियों के काल मे जाति–व्यवस्था सुदृढ हो गयी थी तथा गुण कर्मों के अनुसार वरण किये जाने वाला वर्ण क्रमशः जाति के रूप मे परिणत हो गया था। इसी चिन्तना पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र के कर्त्तव्यों और अधिकारों का वर्णन स्मृतियो मे प्राप्त होता है।

प्रमुख स्मृतियों के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि समाज में ब्राह्मणों को सर्वप्रमुख स्थान प्राप्त था तथा उसे अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे यथा–राजनीतिक विशेषाधिकार, बौद्धिक और शैक्षणिक विशेषाधिकार, धार्मिक विशेषाधिकार, सामाजिक विशेषाधिकार एव आर्थिक विशेषाधिकार था। इतना सब होते हुए भी स्मृतियों की दृष्टि में उक्त विशेषाधिकार केवल योग्य ब्राह्मणों के लिए प्राप्त था नहीं तो धर्मच्युत होने पर ब्राह्मणों के लिए दण्ड देने की व्यवस्था की गयी थी। इसी प्रकार क्षत्रिय एव वैश्यों के लिए भी कर्त्तव्य एवं दण्ड की व्यवस्था की गयी थी।

स्मृतियों का अवलोकन करते समय वर्ण व्यवस्था के क्रम में सबसे अन्तिम वर्ण शूद्रों का था, वहीं शूद्रों के प्रति स्मृतियों में अन्याय और भर्त्सना से भरा हुआ दृष्टिकोण है। मनु एवं याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों से उसके निम्न स्थिति का भान होता है। शूद्रों के प्रति मनु ने अनेक कठोर नियम बताये हैं किन्तु कठोर मान्यता के पोषक होते हुए भी मनुस्मृति में अनेक स्थलों पर शूद्रों के प्रति उदारता एवं मानवता के दर्शन

होते हैं। यदि वह धार्मिक हो तो उसका अन्य भोज्य बताया गया है। मनु ने तो यहॉ तक कहा है कि श्रद्धायुक्त होकर अपनी अपेक्षा नीच व्यक्ति (शूद्र) से भी उत्तम विद्या ग्रहण करनी चाहिए।

हिन्दू समाज मे चारो वर्णो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र का जो विभाजन प्राचीन समय मे किया गया वह स्मृतियों के काल मे अनुलोम एव प्रतिलोम तथा वर्णसकरता के कारण अनेक जातियो मे विभक्त हो गया है और इनके रहन–सहन, स्तर, व्यवहार और आचरण मे सम्यक् अन्तर पाया गया है। प्रत्येक जाति के व्यक्ति को अपने–अपने जाति के प्रति अनेक कर्त्तव्य थे जिनके प्रति वह जागरूक रहा करता था। जातिगत कर्त्तव्य के प्रति उसकी यह जागरूकता उसके उत्तरदायित्व का प्रतीक था। अपनी जाति के नियमों और परम्पराओ को तोडने और उनका पालन न करने के कारण व्यक्ति अपनी जाति की सदस्यता से वचित कर दिया जाता है। जातिगत निर्देशों का पालन न करने पर व्यक्ति का जाति द्वारा दडित किया जाना अवश्यभावी है। व्यक्ति अपनी नागरिक भावना और नैतिक निष्ठा से अपने जातिगत कर्त्तव्य का पालन करता है।

स्मृतियों के काल में समाज में विद्यमान अनेक शूद्र जातियों को अस्पृश्य समझा जाता था। अस्पृश्यता किसी व्यक्ति के जन्म या उसके व्यवसाय पर आधारित न थी, बल्कि जिन मनुष्यों की चित्तवृत्ति दूषित होती तथा जो चरित्रहीन होते थे वे ही अस्पृश्य समझे जाते थे किन्तु सभी शूद्र अस्पृश्य माने जाते थे इस बात का दिग्दर्शन मनुस्मृति मे नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि मनुस्मृति में कहा गया है कि ब्राह्मणों को शूद्र के साथ भोजन एव विवाह का निषेध नहीं है यहॉ तक कि शूद्र अध्यापक से विद्यार्थी ज्ञान प्राप्त कर सकता है इतनी छूट देने के बाद भी अनेक स्थलो पर इस निषेध किया गया है। याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों में भी शूद्र मित्र के साथ उच्च वर्ण के व्यक्ति भोजन कर सकते हैं इससे यही अर्थ ज्ञात होता है कि सम्भवतः चाण्डाल आदि अस्पृश्य जातियों के बारे मे स्मृतियों में कडे नियम बताये गये थे।

स्मृतियों के विवेचन से ज्ञात होता है कि समाज में दास प्रथा विद्यमान थी। मनु आदि ने माना है कि इनका कर्त्तव्य उच्च वर्णो की सेवा करना था। प्राय सभी अपवित्र कार्य दासों से कराये जाते थे। याज्ञवल्क्य एव नारद ने यहाँ तक माना है ब्राह्मण किसी के दास नहीं हो सकते हैं किन्तु अन्य तीन वर्णो के लोग ब्राह्मण के दास हो सकते हैं। प्रमुख स्मृतियों में दासों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया था। इससे ज्ञात होता है कि दासों की स्थिति अन्य तीनों वर्णो के लोगों से दयनीय थी। समाज में इसका महत्त्व कुछ भी नहीं यह वर्ग तो अपने स्वामी की कृपा पर ही निर्भर था।

आश्रम व्यवस्था हिन्दू सस्कृति का मुख्य स्तम्भ है मनुष्य के जीवन को सुसंस्कृत, सुगठित और सुव्यस्थित करने के निमित्त भारतीय समाज में आश्रम व्यवस्था जैसी संस्था को नियोजित किया गया है। मनुष्य का सश्रम, सात्विक और शुद्धाचरित जीवन उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है तथा उसकी आध्यात्मिक प्रगति में सहायक होता है। इस दृष्टि से आश्रम व्यवस्था का दर्शन प्राचीन व्यवस्थाकारों एवं स्मृतिकारों के अद्वितीय ज्ञान और प्रज्ञा का प्रतीक है जिसमें ज्ञान और विज्ञान, लौकिक और पारलौकिक, कर्म

और धर्म तथा भोग और त्याग का अद्भुत समन्वयन है। स्मृतिकारो ने जीवन की वास्तविकता को ध्यान मे रखते हुए ज्ञान, कर्त्तव्य और अध्यात्म के आधार पर मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास नामक चार आश्रमो मे विभाजित किया है।

ब्रह्मचर्याश्रम में निवास करना सबके लिए अनिवार्य था। ब्रह्मचर्याश्रम उपनयन सस्कार के सम्पन्न होने के बाद ही प्रारम्भ होता था। व्यक्ति के बौद्धिक और शिक्षित जीवन के निमित्त ब्रह्मचर्य आश्रम की व्यवस्था की गयी थी। अध्ययन एक तप है अतएव उसके लिए उचित स्थान, एकाग्रता का होना अत्यावश्यक है। इसी कारण से ब्रह्मचारी के जीवन को अत्यन्त व्यवस्थित, सयमित और नियमबद्ध करने के लिए मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारो ने अनेक नियम विहित किये हैं।

प्रमुख स्मृतियो मे ब्रह्मचारी नियमो का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि उसका जीवन अत्यन्त व्यवस्थित, सयमित और नियमबद्ध होता था। शील, साधना और अनुशासन का वह अनुसरण करता था। उसके लिए भिक्षार्जन, भोजन, शयन, गुरु शुश्रूषा, समिधा दान एव इकट्ठी करना, भौतिक वस्तुओ से दूर रहना, सत्य भाषण, अहकारहीनता आदि अनेक नियम बनाये गये थे। सदाचार और सच्चरित्रता का पालन करना ब्रह्मचारी की अनुपम साधना थी, जो योग के समान मानी जाती थी। इसलिए स्मृतियो मे विद्यार्थी के तपोमयी जीवन की रूपरेखा स्पष्ट की गई है।

आचार्य के लिए भी उसका आचरण प्रधान होता है अतएव प्रमुख स्मृतिकारों ने आचार्य के लिए अनेक नियमों की व्यवस्था की है। आचार्य के धर्मभ्रष्ट होने पर स्मृतिकारों ने उसके त्याग का विधान किया है। इसके अतिरिक्त स्मृतिकारो ने शिष्य को विवेक से कार्य करने की सलाह दी है। तथा इस प्रसग में निर्देश किया है कि यदि गुरु की आज्ञा करने से पतनीय कर्म का दोष होता है तो उस आज्ञा का पालन नही करना चाहिए।

प्रमुख स्मृतिकारो ने शिष्य के प्रति गुरु के कर्त्तव्य को महत्त्वपूर्ण माना है उनका कथन है कि गुरु शिष्य को पुत्रवत् माने। हृदय से उसकी उन्नति की कामना करे और ईमानदारी के साथ विद्या प्रदान करे। गुरु शिष्य का किसी प्रकार से शोषण न करे। गुरु जब शिष्य को विद्या प्रदान करने में प्रमाद करता है तो वह गुरु नहीं रह जाता है और शिष्य को चाहिए कि ऐसे गुरु का त्याग कर दे।

वस्तुत स्मृतियो में गुरु शिष्य का सम्बन्ध जीवन के प्रमुख लक्ष्य की सिद्धि की ओर उन्मुख है। यह केवल जीविका या औपचारिकता का सम्बन्ध नही है।

गृहस्थ आश्रम के वर्णन मे मनु एव याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने गृहस्थ के धर्मों एव कर्त्तव्यों की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। इसी प्रसग में अतिथि सत्कार को गृहस्थाश्रम का एक प्रधान कर्त्तव्य कहा है तथा अतिथि की पूजा को शान्ति और स्वर्ग की प्राप्ति का साधन माना है। अतिथि सत्कार के नियम में यह निर्देश किया गया है कि अतिथि के आने पर उठकर उसकी अगवानी करनी चाहिए और अवस्था के अनुसार उसका आदर करना चाहिए। वस्तुत अतिथि सत्कार के पीछे हमारे स्मृतिकारों की उदात्त भावना छिपी है,

दया के द्वारा मानव समाज का सम्वर्द्धन करने की यह भारतीय परम्परा है। इसी भारतीय परम्परा से यात्रियो को एव यतियो को पर्याप्त आतिथ्य मिलता आ रहा है।

मनु एव याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियो मे वानप्रस्थ एव सन्यास आश्रमों की भी विस्तृत चर्चा होती है। सन्यास आश्रम को महत्त्वपूर्ण माना गया है। वानप्रस्थ को केवल गृहस्थ एव सन्यास आश्रमो के बीच की कडी कहा जा सकता है। जिस प्रकार गृहस्थ आश्रम के लिए ब्रह्मचर्या आश्रम विशेष तैयारी का समय है उसी प्रकार सन्यास के लिए तैयारी और दीक्षा का समय है वानप्रस्थ। सन्यास नितान्त आध्यात्मिक उद्देश्य का आश्रम है। जिसका लक्ष्य है भौतिक जगत् के ऐन्द्रिक सुखो से विमुख होकर इन्द्रियो और मन को वश मे करके अतिम लक्ष्य "मोक्ष" की प्राप्ति करना है।

स्मृतिकारो ने हिन्दू समाज मे मनुष्य के व्यक्तित्व के उत्थान के निमित्त सस्कारों का सयोजन किया है। जीवन मे इसकी नियोजना इसलिए की गई कि मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक विकास हो सके तथा उसका दैहिक और भौतिक जीवन सुव्यवस्थित ढग से उन्नत हो सके। व्यक्ति के असस्कृत स्वरूप को सुसस्कृत और अनुशासित करने के निमित्त सस्कारों की अभिव्यक्ति की गयी। अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य के जीवन पर अपना कुप्रभाव डालने वाले अदृश्य विघ्नों से निरापद होने के लिए भी सस्कारो का निर्धारण समाज मे किया गया। शुद्धता, आस्तिकता, धार्मिकता और पवित्रता सस्कारों की प्रधान विशेषतायें हैं। आन्तरिक और वाह्य शुद्धता, नैतिकता और आध्यात्मिकता तथा जीवन की परिशुद्धता और पवित्रता सस्कारों के माध्यम से मानी गयी हैं।

मनु एव याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने गर्भाधानादि से लेकर अन्त्येष्टि तक षोडश सस्कारों का वर्णन किया है। स्मृतिकारों का कथन है जिस प्रकार उत्तम और अच्छी प्रकार जोते हुए खेत में पौधों और वनस्पतियो के बीज अनेक प्रकार के फल उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार गर्भाधानादि संस्कारों से युक्त व्यक्ति भी फल का भागी होता है। स्मृतिकारो ने उपनयन सस्कार के लिए आयु काल इत्यादि में वर्ण के आधार पर भिन्नता स्थापित की है।

प्रमुख स्मृतिकारों ने विवाह को धार्मिक सस्कार माना है जिसमें धर्म का स्थान प्रधान है, सामाजिकता और वैधानिकता का कम। स्मृतिकारो की दृष्टि में विवाह मात्र शारीरिक सम्बन्ध का प्रयोजन न बनकर सन्तानोत्पत्ति का धर्मगत आधार बना। यज्ञ, होम, मन्त्र पाठ, देवताओं का आवाहन तथा वेद मन्त्रों के साथ वैवाहिक क्रिया सम्पन्न करना विवाह सस्कार के प्रधान अग हैं। इस धार्मिक आधार ने विवाह को अत्यन्त पवित्र और उदात्त स्वरूप प्रदान किया, क्योंकि कोई भी धार्मिक कार्य बिना पत्नी के नहीं सम्पन्न होता है। प्रमुख स्मृतिकारो का कथन है कि केवल पुरुष कोई वस्तु नहीं वह अपूर्ण है। स्त्री, स्वदेह तथा सन्तान ये तीनों मिलकर ही पुरुष (पूर्ण) होता है।

मनु एव याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों में विवाह का विस्तृत एवं सारगर्भित विवेचन किया गया है। विवाह के माध्यम से मनुष्य अपने समस्त अपेक्षित कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। धर्म का पालन,

पुत्र की प्राप्ति एव रति का सुख विवाह के प्रधान उद्देश्य माने गये हैं। प्रमुख स्मृतियो मे ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच आठ भेद माने गये है। इसमे प्रत्येक वर्ण के लोगो के लिए धर्मयुक्त और अधर्मयुक्त विवाह का वर्णन किया गया है। स्मृतिकारो ने अन्तर्विवाह एव अन्तर्जातीय विवाह का वर्णन किया है। आज के समाज मे यह विवाह बडी तेजी के साथ फैल रहा है।

प्रमुख स्मृतियो मे विशिष्ट व्यक्ति के आगमन पर मधुपर्क तथा अन्य आचारो का वर्णन किया गया है। विशिष्ट अतिथियो के आगमन पर कौन–कौन से कृत्य करने चाहिए इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। स्मृतियो मे अतिथि के प्रति व्यक्ति का अपने कर्त्तव्यो का अवबोध कराया गया है।

प्रमुख स्मृतियो मे भोजन सम्बन्धी नियमो एव प्रतिबन्धो के विषय मे विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। स्मृतियो मे भोजन की शुद्धता पर पर्याप्त जोर दिया गया है। स्मृतियो के काल मे शूद्र द्वारा स्पृष्ट भोजन अभोज्य माना गया है। शिल्पियों, चिकित्सा, वेतन लेकर अध्यापन करने वाले एव ब्याज देकर जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्तियो का अन्न अभोज्य माना गया है। मनु एव याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियो मे विशिष्ट अवसरों पर मास को भक्ष्य कहा गया है।

स्मृतियो में यह वर्णन किया गया है कि प्रत्येक युगो का अलग–अलग धर्म है और कलियुग में दान को प्रधान धर्म बताया है। प्रमुख स्मृतिकारो ने यह बताया है कि किस व्यक्ति का दान ग्रहण करना चाहिए और किस वस्तु का दान नही किया जा सकता है। चूकि दान गृहस्थ आश्रम के व्यक्तियो के द्वारा ही किया जाता है इसलिए गृहस्थ आश्रम का विशेष महत्त्व बताया गया है। दान द्वारा व्यक्ति के कर्त्तव्यों एव उत्तरदायित्वो को विवेचित किया गया है।

प्रमुख स्मृतियो में स्त्री की समाज मे स्थिति अत्यन्त विचित्र थी, एक तरफ उसे सर्वशक्तिमान, विद्याशील, ममता, यश और सम्पत्ति की प्रतीक समझी गयी, इसके साथ ही साथ उसे गृह की सामग्री के रूप मे प्रतिष्ठापित किया गया तथा घर के अन्य सदस्यो को उसके शासन में बताया गया है मनु ने तो यह तक बताया है कि जहॉ नारी पूजी जाती है वहाँ देवता निवास करते हैं, किन्तु वहीं दूसरी ओर उसको हेय दृष्टि से देखा गया। उसको अनेक मामलों मे आश्रित एव परतन्त्र माना गया है। स्मृतियो का कथन है कि पत्नी पति को धार्मिक कृत्यों के योग्य बनाती है। इतना सब होते हुए भी कुछ विषयों पर उसे पुरुषों की अपेक्षा अधिक अधिकार एव स्वत्व प्राप्त था। स्त्रियो की हत्या नहीं की जाती थी और न वे व्यभिचार में पकड़े जाने पर, मार्ग में पहले आगे निकल जाने का अधिकार था। स्त्रियाँ वेदज्ञ ब्राह्मणों की भाँति कर से मुक्त थीं। परिवार की सम्पत्ति पर पत्नी को समान अधिकार प्राप्त था तथा स्त्रियों के ज्ञान को विद्या की अन्तिम सीमा माना गया।

स्मृतियों में एक पत्नीत्व की प्रवृत्ति को प्रमुखता प्राप्त थी– "धर्म प्रजा सम्पन्ने दारेनाऽन्यां कुर्वीत" फिर भी समाज मे बहुपत्नीकता एव बहुभर्तृकता की प्रथा विद्यमान थी। प्रमुख स्मृतियों में नियोग प्रथा एव

विधवा विवाह को विशेष परिस्थितियो मे स्वीकार किया गया है। परदा प्रथा का विवरण हमे स्मृतियो मे नही प्राप्त होता है।

स्मृतियो मे स्त्रीधन के बारे मे विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है इसके साथ ही स्त्रीधन के उत्तराधिकारी का भी वर्णन किया गया है। स्त्रीधन पर स्त्री का पूर्ण अधिकार था, किन्तु व्यभिचारिणी स्त्री का स्त्रीधन पर अधिकार नहीं था। स्मृतिकालीन समाज मे व्यभिचारिणी स्त्रियो के लिए अनेक कठोर नियमो की व्यवस्था दी गयी थी। फिर भी मनु ने ऐसी व्यभिचारिणी स्त्री जो अपुत्रवती हो उसकी शुद्धि की बात का स्वीकार किया है। समाज को उदात, आदर्श और सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए स्त्री के चरित्र और आचरण पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

प्रमुख स्मृतिकारो ने वेश्याओ का उल्लेख किया है इसे राज्य या समाज मे उच्च स्थान प्राप्त था यह जन–जीवन के सास्कृतिक कार्यकलाप तथा विलासमय जीवन की महत्त्वपूर्ण कडी थी। इसीलिए समाज का एक बडा वर्ग वेश्याओ से घनिष्ठ सम्बन्ध रखकर उसके व्यवसाय को प्रोत्साहित करता था।

हिन्दू विवाह को एक पवित्र धार्मिक सस्कार माना जाता था। किन्तु पति–पत्नी के सम्बन्ध विच्छेद अथवा तलाक की व्यवस्था किन्हीं विशेष परिस्थितियों में स्मृतिकारों ने स्वीकार की है। इसके लिए मनु एव याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने विशेष नियम दिये हैं कि पति पत्नी पर तथा पत्नी पति पर अभियोग लगाकर सम्बन्ध विच्छेद कर सकती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्त्री के लिए जो नियम बनाये गये थे वे निरकुश एव भेद–भाव से प्रेरित थे।

प्रमुख स्मृतियों मे राजधर्म भी अनिवार्य विषय के रूप में विवेच्य विषय रहा है इसमे राज्य के सप्ताग सिद्धान्त का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है ये सात सिद्धान्त स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड एव मित्र राज्य के मूल कारण माने गये हैं स्मृतियो में राजा के कर्त्तव्यों एव अधिकारों की विस्तृत समीक्षा की गयी है। राजा निरकुश नहीं है, अपितु वह धर्म के लिए ब्राह्मण पर या योग्य विधि वेत्ताओं पर निर्भर है।

प्रमुख स्मृतिकारो ने माना है कि इन सप्तागो की उत्तमता एव विशुद्धता पर ही राज्य की उत्तमता मानी जा सकती है। स्मृतिकारो का मत है कि राज्य के अगो मे यदि एक अग भी विकारग्रस्त हो गया तो सम्पूर्ण राज्य ही विकृत हो जायगा। इसलिए राज्य को स्वस्थ्य एव विकार–रहित रखने के लिए यह परमावश्यक है कि उसके यें सम्पूर्ण अग स्वस्थ्य एव विकार रहित रहें। इसलिए स्मृतियों में इन अंगों को इनके स्वाभाविक रूप में बनाये रखने के लिए अनेक उपायों एव साधनों की व्यवस्था की गयी है।

न्याय–व्यवहार की व्यवस्था और प्रक्रिया तो स्मृतियों में बहुत ही जनतांत्रिक है, क्योंकि व्यक्ति दुश्प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर अपने धर्म का उल्लंघन कर अन्य व्यक्तियों को हानि पहुँचाते हैं। जिससे समाज में कलह तथा द्वेष की भावना का विकास होता है उसी कलह एव द्वेष को रोकने के लिए न्याय या व्यवहार का विधान किया गया है। इसमें अनेक प्रकार के व्यवहारों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है और

इसके लिए दण्ड देने के प्रत्येक पहलू पर विचार किया गया है। यह दण्ड व्यवहार न्याय के लिए बार–बार दुहराया गया लगता है। साक्षी के सत्यभाषण पर बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है।

मनु एव याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियो मे नैतिक नियमो की रक्षा तथा धर्म का उल्लघन करने वालो को दण्ड देना राजा का धर्म माना है।

प्रमुख स्मृतियो पातको का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है जब व्यक्ति आचार धर्म, व्यवहारो या कानूनो का जान–बूझ करके उल्लघन एव उच्च आदर्शों एव नैतिक कर्त्तव्यो के नियम विरुद्ध आचरण करने लगता है तो अनेक प्रकार के पापो का भागी होता है। स्मृतिकारो ने पच महापातक, उपपातक एव प्रकीर्णक पातक का विस्तृत विवेचन किया है और यह भी बताया है कि इन पापो को करने वाला व्यक्ति नरक को प्राप्त करता है इन पापो से बचने के लिए जप, तप, दान, उपवास आदि साधनो का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह भी निर्धारित किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन मे इन साधनो को करना चाहिए क्योकि इनको करने से व्यक्ति अपने इहलोक एव परलोक मे सुख को प्राप्त करता है।

प्रमुख स्मृतियों मे सर्वत्र व्यक्ति के सदाचरणो पर जोर दिया गया है पाप और प्रायश्चित्त की धारणा के पीछे भी आचार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? जब तक व्यक्ति आचार का पालन करता है तब तक समाज मे वह महत्त्वपूर्ण है, यदि वह आचार का उल्लघन करता है तो उसे जीने का अधिकार नहीं, उसे पाप से तभी मुक्ति मिल सकता है जब वह प्रायश्चित्त करे, अर्थात् पाप यदि गम्भीर हो तो जीवन का अन्त कर दे, क्योकि ऐसा न करने वाला व्यक्ति समाज के अन्य लोगो के लिए एक बुरा उदाहरण प्रस्तुत करेगा। इसके अतिरिक्त प्रायश्चित्त का उद्देश्य पाप से विरक्ति उत्पन्न करना है अर्थात् प्रायश्चित्त का कठोर भय दिखाकर पाप से दूर करने का उपाय किया जाय। परन्तु प्रायश्चित्त के विषय मे स्मृतिकारों की धारणायें कुछ असगतिपूर्ण हैं प्रायश्चित्त के ऊपर भी वर्ण का विचार हावी है। ब्राह्मण की हत्या करने वाला मृत्यु का भागी होता है। किन्तु शूद्र का वध करने वाला दस गाये तथा एक बैल का दान करके मुक्त हो जाता है। स्मृतियों मे यह भी विवरण आया है कि एक ही अपराध के लिए सभी वर्णों के लिए अलग–अलग दण्ड का विधान किया गया है।

प्रमुख स्मृतियों में विभिन्न पापो के लिए विभिन्न प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। जो व्यक्ति इन प्रायश्चित्तो को नहीं करता है वह दूसरे जन्म निन्द्य योनियों को प्राप्त करता है। मनु एवं याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों में इनका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। स्मृतिकारों ने यह भी व्यवस्था दी है कि जो व्यक्ति विभिन्न प्रकार के पापो के लिए प्रायश्चित्त नहीं करता है वह नरक में कठोर यातनाओं को भोगता है किन्तु सदाचरण व्यक्ति या प्रायश्चित्त करने वाला व्यक्ति स्वर्ग को प्राप्त करता है। इसलिए स्मृतिकारों ने प्रत्येक वर्णों के लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है।

प्रमुख स्मृतियों में अशौच, शुद्धि एव श्राद्ध का विस्तृत विवेचन किया गया है। जन्म एव मरण के रूप मे अशौच का विस्तृत वर्णन प्राप्त है। इसमें सगे–सम्बन्धियों, मित्रों एव आचार्य की मृत्यु पर कितने दिनों का

अशौच होता है और यह अशौच किन–किन व्यक्तियो को लगता है इसका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इसके साथ ही जन्म के समय माता–पिता एव सगे सम्बन्धियो के बारे मे अशौच का विवरण प्राप्त होता है। स्मृतिकारो ने इन अशौचो से शुद्धि के नियम बताये है। स्मृतियो मे द्रव्य, भूमि, अन्न एव जल की शुद्धि के विषय मे एक विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

कर्म, पुनर्जन्म एव कर्मविपाक के सिद्धान्त मे विश्वास करने वाले व्यक्तियो के लिए स्मृतिकारो ने श्राद्ध का वर्णन किया है। पिण्डदान करने से तीन पूर्व–पुरुषो की आत्मा की सन्तुष्टि प्राप्त होती है। स्मृतियो मे श्राद्ध के लिए होम, पिण्डदान एव ब्राह्मण सतुष्टि या ब्राह्मण भोजन का विधान किया गया है। इसके अतिरिक्त श्राद्ध कर्त्ता की योग्यता, एव श्राद्ध के अधिकारी का वर्णन किया गया है। श्राद्धो के प्रकारो पार्वण श्राद्ध, एकोद्दिष्ट श्राद्ध एव अन्य श्राद्ध का भी वर्णन किया गया है। स्मृतियो मे श्राद्ध का जो वर्णन प्राप्त होता है वह आज भी दृष्टिगोचर होता है। जो लोग श्राद्ध कर्म मे विश्वास रखते हैं वह समझते है कि ऐसा करने से मृत व्यक्ति को शान्ति मिलती है।

आज भी अनेक व्यक्ति अपनी माता एव पिता के प्रति श्रद्धा भावना को अभिव्यक्त करते हुए श्राद्ध कर्म करते हैं।

स्मृतिकारो ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र के लिए अपने–अपने कर्मो का विस्तृत विवेचन किया है, किन्तु स्वधर्म का पालन करते हुए कभी–कभी परिस्थितियो के कारण इन वर्णों के लोगो का जब जीवन यापन सम्भव न हो सके तो इसके लिए अन्य धर्म या आपद्धर्म की व्यवस्था की है लेकिन इस बात की चेतावनी दी गयी है कि दूसरे वर्ण के कर्म करते हुए भी उस वर्ण के निन्दित आचरण न अपनाए जाए। मनु एव याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियो मे वह भी व्यवस्था की गयी है कि आपद्धर्म के समाप्त होने पर व्यक्ति प्रायश्चित्त द्वारा अपने को पवित्र करके पुन अपने वर्ण की वृत्ति को अपना लेना चाहिए।

इस प्रकार स्मृतिकारो ने प्रत्येक वर्णों के लिए जीवनयापन हेतु एक व्यवहारिक व्यवस्था प्रदान की हैं।

इस प्रकार उक्त के आलोक मे यह कहना असगत नहीं होगा कि प्रमुख स्मृतियो की उपादेयता वर्तमान युग मे भी प्रासगिक है। यह भौतिकवादी दृष्टिकोण से सत्रस्त मानवता के लिए आत्मिक शान्ति और सुख का बोध कराने मे समर्थ है। इसमे वर्णित नैतिक मूल्य बदलते परिवेश तथा बदलती हुई युगधारा में भी मनुष्य की अस्मिता के अवबोध मे समर्थ हैं।

************

# सन्दर्भित ग्रन्थों की सूची


1 ऋग्वेद – सायण भाष्य सहित, सम्पादक, एफ0मैक्समूलर, 1890–92, 5 भाग, वैदिक सशोधन मण्डल, पूना,

2 ऋग्वेद सहिता – सम्पादक प0 रामगोविन्द शुक्ल बनारस, 1990

3 यजुर्वेद सहिता – बम्बई

4 कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय सहिता – बम्बई, श्रीपाद शर्मा, औधनगर, 1945, कलकत्ता, 1854, सायण भाष्य आनन्द आश्रम सस्कृत ग्रथावली,

5 सामवेद सहिता – मद्रास

6 अथर्ववेद सहिता – सूरत, श्रीपाद शर्मा, औंधनगर, 1938

7 तैत्तिरीय आरण्यक – आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज, 1926

8 ऐतरेय आरण्यक – सम्पादक कीथ, आक्सफोर्ड

9 कौषीतकी ब्राह्मण – लन्दन

10 ऐतरेय ब्राह्मण – षड्गुरुशिष्यकृत सुखप्रदावृत्ति सहित, त्रावणकोर विश्वविद्यालय सस्कृत सीरीज, त्रिवेन्द्रम।

11 शतपथ ब्राह्मण – अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, वाराणसी,

12 तैत्तिरीय ब्राह्मण – आर0 शाम शास्त्री, मैसूर, 1921

13 पचविश ब्राह्मण – कलकत्ता

14 ताड्य ब्राह्मण – अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय वाराणसी

15 उपनिषद् – निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

16 जाबालोपनिषद् – गीता प्रेस गोरखपुर,

17 उपनिषद् – श्वेताश्वतर, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक – गीता प्रेस, गोरखपुर।

18 आपस्तम्ब गृह्यसूत्र – सुदर्शनाचार्य की टीका सहित, मैसूर गवर्नमेंट सस्कृत लाइब्रेरी सीरीज।

19 आश्वलायन गृह्यसूत्र – नारायण की टीका सहित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1894

20 पारस्कर गृह्यसूत्र – गुजराती प्रेस, सस्करण

21 गोभिल गृह्यसूत्र – बिब्लियोथिका इंडिका सीरीज

22 आपस्तम्ब धर्मसूत्र – हरदत्त की टीका सहित, चौखंभा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

23 गौतम धर्मसूत्र – हरदत्त टीका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना

24 बौधायन धर्मसूत्र – आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना

25. वसिष्ठ धर्मसूत्र – आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1930

| | |
|---|---|
| 51 भागवत पुराण | – श्रीधरटीका सहित कलकत्ता , सम्पादक धनञ्जयदास , चक्रवर्ती और चटर्जी प्रकाशन |
| 52 मत्स्य पुराण | – आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज पूना , 1907 |
| 53 मार्कण्डेय पुराण | – बिब्लियोथिका इडिका , कलकत्ता , गीताप्रेस गोरखपुर |
| 54 वराह पुराण | – सपादक , हृषिकेश शास्त्री , बिब्लियोथिका इडिका , कलकत्ता 1893 |
| 55 वायु पुराण | – गीताप्रेस गोरखपुर |
| 56 विष्णु पुराण | – बम्बई , 1889 , विल्सन , 5 भाग , लन्दन , 1864–70, गीताप्रेस गोरखपुर स0 2009 |
| 57 पद्मपुराण | – सम्पादक , बी0एन0 माडलिक , 4 भाग , आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज पूना 1893–94 |


## अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ


| | | |
|---|---|---|
| 1 | डा0पाण्डुरग वामन काणे | – धर्मशास्त्र का इतिहास , उत्तरप्रदेश हिन्दी सस्थान , लखनऊ |
| 2 | सस्कार प्रकाश | – चरौखम्भा सस्कृत सीरीज वाराणसी |
| 3 | लक्ष्मीधर | – कृत्यकल्पतरु 11 खण्ड , बडौदा |
| 4 | कौटिलय शासन पद्धति | – श्री भगवानदास केला |
| 5 | शुकनीतिसार | – मद्रास , 1882 , अग्रेजी अनुवाद , वी0के0 सरकार , इलाहाबाद 1923 |
| 6 | राजबली पाण्डेय | – हिन्दूसस्कार , चौखम्मा सस्कृत सीरीज , वाराणसी |
| 7 | पाणिनी | – अष्टाध्यायी , निर्णयसागर प्रेस 1929 |
| 8 | विज्ञानेश्वर | – मिताक्षरा , याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य , बम्बई |
| 9 | विश्वरूप | – याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य , त्रिवेन्द्रम |
| 10 | कामन्दक नीतिसार | – सम्पादक , आर0 मित्र , बिब्लियोथिका इडिका |
| 11 | कौटिलीय अर्थशास्त्र | – सम्पादक , आर0 शामशास्त्री , मैसूर |
| 12 | स्मृतीना समुच्चय | – आनन्दाश्रम 1905 |
| 13. | पातञ्जल | – युधिष्ठिरमीमासक हिन्दी व्याख्या सहित |
| 14 | सुश्रुत संहिता | – वाराणसी |
| 15. | मित्र मिश्र | – वीरमित्रोदय ,वाराणसी 1906 |